द्वितीय वैश्विक
संस्कृत सम्मेलन
की प्रस्तुति

भाषा और संस्कृति

प्रधान सम्पादक
प्रो. विष्णुपद महापात्र
सम्पादक
डॉ. राजेश कुमार मिश्र
डॉ. बन्सी लव्हाले
सह-सम्पादक
डॉ. गणञ्जय यज्ञेश्वरराय कहालेकर

GLOBAL SANSKRIT FORUM
वैश्विक संस्कृत मञ्च
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्

भाषा और संस्कृति

(भाग-1)

अमृतब्रह्म प्रकाशन
Amritbrahma Prakashan
प्रयागराज

भाषा और संस्कृति

(भाग-1)

प्रधान सम्पादक

प्रो. विष्णुपद महापात्र

सम्पादक

डॉ. राजेश कुमार मिश्र

डॉ. बन्सी लव्हाले

सह-सम्पादक

डॉ. गणञ्जय यज्ञेश्वरराय कहालेकर

प्रकाशक

अमृतब्रह्म प्रकाशन

प्रयागराज

ISBN: 978-81-973364-8-5

प्रकाशक

अमृतब्रह्म प्रकाशन

63/59, मोरी, दारागंज, प्रयागराज – 211006

सम्पर्क +91-9450407739, 8840451764

Email: amritbrahmaprakashan@gmail.com

भाषा और संस्कृति (भाग-1)

प्रधान सम्पादक

प्रो. विष्णुपद महापात्र

सम्पादक

डॉ. राजेश कुमार मिश्र, डॉ. बन्सी लव्हाले

सह-सम्पादक

डॉ. गणञ्जय यज्ञेश्वरराय कहालेकर

© ग्लोबल संस्कृत फोरम, नई दिल्ली

प्रथम संस्करण : 2024

मूल्य : 999/-

The responsibility for facts stated, opinion expressed or conclusion reached and plagiarism, if any, in this book is entirely that of Author. The publisher/Editors/Editorial Board bears no responsibility for them whatsoever.

मुद्रक

Infinity Imaging Systems

नई दिल्ली

Committee

Central Organizing Committee

Prof. Pramod Pandey	Prof. Prasad Joshi
Prof. Bishnupada Mahapatra	Prof. Jayashree Sathe
Prof. Sonal Kulkarni (Joshi)	Prof. Shahida Ansari
Dr. Manjusha Kulkarni	Mrs. Anita Sonawane

Publication Committee

Prof. P. D. Sable sir	Dr. Shilpa Sumant
Dr. Rajesh Kumar Mishra	Dr. Bansi Lawhale
Dr. Justin George	Dr. Bhav Sharma
Dr. Rahul Mhaiskar	Dr. Shantanu Vaidya
Dr. Kirti Kulkarni	Dr. Hari Palave

Registration Committee

Dr. Kalpana Athalye	Dr. Shubhangi Kardile
Dr.Nisha Savant	Mrs. Sarika Mishra
Dr. Richa Abhyankar	Dr. Sanhita Joshi
Mrs. Mugdha Chandratre	Dr. Bhavana Balte
Mrs. Gouri Aradhye	Mrs. Radhika Deshpande

Academic Session Programme Committee

Dr. Abhijit Dandekar	Dr. Pradnya Deshpande
Dr. Justin George	Dr. Kalpana Athalye
Dr. Kirti Kulkarni	Dr. Rajesh Kumar Mishra
Dr.Bansi Lawhale	

Stage & Hall Management Committee & Felicitation Committee

Dr. Trupti More	Dr. Pradnya Kulkarni
Dr.GananjayKahalekar	Dr. Shankar Ghadge
Dr. Prashant Biradar	Dr. Vijaya Valhe
Mrs. Vijaya Mandalik	Miss. Meena Kengar
Dr. Supriya Mahajan	Dr. Nilam Dhapre

Accommodation Committee & Transportation Committee

Dr. Rahul Mhaiskar	Dr. Shreedhar Lohokare

Mr. Nilesh Jadhav
Mr. Amit Pendam
Dr. Atul Maske
Mr. Sandeep Dhikle
Mr. Prashant Khedekar
Mr. Gajanan Ambekar
Mr. Niranjan Omble
Mr. Mandar Kukarni
Mr. Shardul Joshi

Media, Photography, Presentation System & Technical Support

Dr. Rajesh Kumar Mishra
Dr. Bansi Lawhale
Dr. Vrushali Bhosale
Dr. Bhav Sharma
Dr. Hari Palave
Mr. Bangar S.S.
Mr. Sanjay Hargude
Mr. Vineet Gaware
Mr. Sumeet Jadhav
Mr. Sandeep Dhikle
Mr. Mandar Kulkarni

Refreshments & Food Arrangement Committee

Dr.PrabodhShirvalkar
Dr. Veena Mushrif Tripathy
Dr. Vrushali Bhosale
Dr. Hari Palave
Dr. C. K. Shastri
Dr. Atul Maske
Mr. NieshJadhav
Dr. Rahul Haldar
Mr. Hemant Ahire
Mr. Sambhaji Jadhav
Dr. Bhavana Balte
Mrs. Gouri Aradhye
Mrs. Radhika Deshpande

Cultural Programme Committee

Dr. Amruta Sarkar
Dr. Hari Palave
Dr.KirtiKulkarni
Dr. Bansi Lawhale
Dr. Y. Suresh
Mrs.Radhika Deshpande
Mrs. Mugdha Chandratre
Miss.Kaushiki Kaledhonkar
Miss.Swarangi Marathe

Emergency help committee

Dr. Rajesh kumarmishra
Dr. Bansi Lawhale
Dr. Bhav Sharma
Dr. Hari Palave
Dr. Rahul Mhaiskar
Dr. Shantanu Vaidya
Dr. Atul Maske
Mr. Sandeep Dhikle
Mr. Vineet Gaware

उप मुख्यमंत्री
महाराष्ट्र राज्य

दि. ३० जुलाई २०२४

शुभकामनाएं

ग्लोबल संस्कृत फोरम (वैश्विक संस्कृत मञ्च) यह संस्था अन्तराष्ट्रिय पटल पर संस्कृत भाषा में निहित ज्ञान एवं भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में समर्पण भाव से कार्य कर रहीं है यह महत्त्वपूर्ण बात है।

'वैश्विक संस्कृत मञ्च' ने स्थापना के बाद एक दशक में अन्ताराष्ट्रिय/राष्ट्रिय स्तर पर १५०० से अधिक सम्मेलन, सेमिनार और कार्यशालाओं के साथ-साथ दस पुस्तकों का सम्पादन एवं प्रकाशन किया यह गौरव की बात है। संस्कृत से संस्कृति तक, राष्ट्र प्रथम सिद्धांत के साथ साथ सम्पूर्ण विश्व को सांस्कृतिक रूप से जोड़ने के सिद्धांत पर कार्य कर रहें इस मञ्च द्वारा भारतीय ज्ञान परम्परा के प्रचार-प्रसार हेतु प्रत्येक वर्ष 'वैश्विक संस्कृत सम्मेलन' का आयोजन होता है यह बात भी प्रशंसनीय है। पुणे स्थित प्रतिष्ठित डेक्कन कॉलेज में 'भाषा और संस्कृति' विषय पर आयोजित वैश्विक संस्कृत सम्मेलन में प्रस्तुत २५० से अधिक शोधपत्र में से कुछ उत्तम शोध-पत्रों को 'भाषा और संस्कृति' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया जा रहा है, यह भारतीय जनमानस के लिए श्रेष्ठ कार्य सिद्ध होगा। मैं इस महती कार्य के लिए ग्लोबल संस्कृत फोरम के सभी सदस्य, पदाधिकारियों को हार्दिक शुभकामनाएं प्रषित करता हूँ।

(देवेंद्र फडणवीस)

DECCAN COLLEGE
Postgraduate and Research Institute
Pune - 411 006, India

(Declared as Deemed to be University under Section 3 of U.G.C. Act, 1956)

डेक्कन कॉलेज
पदव्युत्तर व संशोधन संस्था
पुणे -४११ ००६, भारत
(विद्यापीठ अनुदान आयोगाच्या १९५६ च्या अधिनियमातील प्रभाग ३ अनुसार अभिमत विद्यापीठ घोषित)

Prof. Pramod Pandey
Vice-Chancellor

S. No. 2022/ 164

अभिप्राय

भाषा और संस्कृति के बीच संबंध विषय पर दुनिया भर के विद्वानों द्वारा बहुत लंबे समय से चर्चा रही है। यह एक बहुस्तरीय अवधारणा है। आज यह भाषा, साहित्य, समाज विज्ञान, नृविज्ञान (Anthropology), संज्ञानात्मक विज्ञान (Cognitive Science) जैसे विभिन्न क्षेत्रों में शोध का विषय है।

इस विषय पर डेक्कन कॉलेज में आयोजित वैश्विक संस्कृत सम्मलेन के सेमिनार में प्रस्तुत पत्रों के संकलन के रूप में प्रकाशित यह पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है। पुस्तक की संरचना मुक्त है। इसमें संस्कृत, हिंदी, मराठी और अंग्रेजी भाषाओँ में विद्वता पूर्ण लेख हैं और मूलतः संस्कृत और पाली भाषाओँ में लिखे साहित्य की चर्चा मिलती है।

संस्कृति के नाम पर जिन विषयों पर पत्र उपस्थित किये गए हैं उनमें जीवन मूल्य, मानवतावाद, पर्यावरण जैसे आज के जीवन से सम्बन्धित विषय हैं। इनका संस्कृत के रचनात्मक साहित्य, आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र जैसे विषयों पर लिखे साहित्य को आधार बनाया गया है। इसके अलावा यज्ञ, योग, धर्म, कृषि, वस्त्र इत्यादि भारतीय संस्कृति के भिन्न पक्षों पर विद्वतापूर्ण लेख मिलते हैं। धर्म और दर्शन से सम्बंधित शोध पत्र इस पुस्तक में अधिकायक मात्रा में हैं, जिनमे वेद, पुराण, बौद्धिक साहित्य मुख्य हैं। इस पुस्तक की विशेषताओं में एक है कि शैक्षिक और विद्या विषयक क्षेत्र, जैसे एक तरफ व्याकरण, भाष्य, काव्य, छंद, नृत्य कला, नाटक तथा दूसरी तरफ गणित विज्ञान, चिकित्सा, ज्योतिष, नीति शास्त्र आदि पर वैज्ञानिक लेख सम्मिलित किये गए हैं। इस पुस्तक की एक अन्य विशेषता यह है कि यहाँ कुछ ऐसे संबंधों पर लेख मिलते हैं जो भाषा और संस्कृति के छिपे हुए पक्षों को उजागर करते हैं, उदाहरणतः, यज्ञ संस्कृति *और* पर्यावरण, रस सिद्धांत *और* रंग, वैदिक स्तोत्र (hymns) *और* समरसता (harmony), श्रुति साहित्य *और* रूप दर्शन, काव्य छंद *और* अन्न।

पाठक इस बात से सहमत होंगे कि यह पुस्तक शुरुआती और विशेषज्ञों दोनों के लिए मूल्यवान है. इस पुस्तक के प्रधान संपादक प्रो विष्णुपद महापात्र, संपादक डॉ राजेश कुमार मिश्र और डॉ बंसी लव्हाले तथा सह संपादक डॉ गणञ्जय कहालेकर अभिवादन के पात्र हैं।

तारीख: 14 अगस्त 2024

(प्रा. प्रमोद पांडे)
कुलपती

Tel.: (O) +91 20 26513203; (M) +91 8830 319 037
Email: vc@dcpune.ac.in; pramod.pandey@dcpune.ac.in (P)
Website : www.dcpune.ac.in

दि. ०२.०८.२४

अभिप्राय

हम जानते हैं की परमात्मा ने मानव को सबसे बड़ा वरदान 'वाणी' के रूप में प्रदान किया है। सामान्यतः दुनियां के सभी सजीव अपनी अपनी मर्यादा में सोच-विचार कर सकते है। लेकिन केवल मनुष्य ही एकमात्र जीव है जो अपने विचारों को उचित शब्दों मे अभिव्यक्त कर सकता है। ऐसी अभिव्यक्ति से ही भाषा का उद्गम और विकास होता गया। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य अपने ज्ञान का विश्व समृद्ध करता गया और साथ मे मानवी-संस्कृति का भी संवर्धन सुचारु रूप मे होता गया। भाषा और संस्कृति का ऐसा अयुतसिद्ध संबन्ध तो अनन्यसाधारण महत्त्व रखता है।

भाषा के माध्यम से विश्वस्पर्शी ज्ञान और संस्कृति के मूलस्रोत से जुड़ी संकल्पना पर द्वितीय वैश्विक संस्कृत संमेलन का सुनियोजित आयोजन वैश्विक संस्कृत मञ्च, दिल्ली और डेक्कन कॉलेज अभिमत विश्वविद्यालय, पुणे के संयुक्त तत्त्वावधान में संपन्न होना अत्यंत गौरवपूर्ण रहा। इस द्वितीय वैश्विक संस्कृत सम्मेलन में देश-विदेश के विद्वानों तथा शोधार्थियों द्वारा शोधपत्र प्रस्तुत किये गये। समाज को दृष्टि में रखकर कुछ महत्वपूर्ण शोधपत्रों को विशेष ग्रंथ के रूप में प्रकाशित करना यह भी महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसलिये मैं इस अद्वितीय कार्य के लिए संयोजक और संपादक मण्डल के सदस्यों को हार्दिक शुभकामना प्रदान करते हूए उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ।

प्रो. जयश्री साठे

अध्यक्षा, ग्लोबल संस्कृत फोरम, महाराष्ट्र प्रान्त

भूतपूर्व उपकुलगुरु, डेक्कन कॉलेज अभिमत विश्वविद्यालय, पुणे

प्रधान संपादक, संस्कृत विश्वकोश

विभागाध्यक्ष, संस्कृत और कोशशास्त्र विभाग

Sanskrit Dictionary Project
Deccan College Post-Graduate and Research Institute,
(Deemed University), Pune 411 006 (India)
Phone: 020 26513287, 26513229 **E-mail:** sdp@dcpune.ac.in

Prof. Prasad Joshi
General Editor

Dr. Bhav Sharma
Secretary

प्रति
मा. अध्यक्ष
ग्लोबल संस्कृत फोरम.

दि. ०२.०८.२४

विषय – पुस्तक प्रकाशन हेतु अभिप्राय

भाषा और संस्कृति का संबंध आपस में अतुट है। भाषा के बिना संस्कृति का प्रवाह असंभव है। संस्कृति विशेष रूप से भाषा के माध्यम से प्रकट होती है। संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग भाषा है। भाषा और संस्कृति ऐतिहासिक रूप से परस्पर एक-दुसरे की पूरक है। भाषा और संस्कृति के विषय पर अनुसंधान करना यह डेक्कन कॉलेज की एक विशेष पहचान है। भाषा के क्षेत्र में गत पचहत्तर वर्षों से डेक्कन कॉलेज अभिमत विश्वविद्यालय में भाषाशास्त्र विभाग तथा संस्कृत कोशशास्त्र विभाग सुचारु रूप से कार्य कर रहे है और पुरातत्त्व विभाग में भी ऐतिहासिक अनुसंधान होते रहते है। इस औचित्य को जानकर 'भाषा और संस्कृति' इस महत्त्वपूर्ण विषय पर अधिक चिंतन करने हेतु ग्लोबल संस्कृत फोरम (वैश्विक संस्कृत मंच) और डेक्कन कॉलेज के संयुक्त तत्त्वावधान में २७-२८ अक्तुबर २०२३ में द्वितीय वैश्विक संस्कृत सम्मेलन का भव्य आयोजन डेक्कन कॉलेज के परिसर में हुआ। यह अद्वितीय अवसर प्राप्त होने से डेक्कन कॉलेज अभिमत विश्वविद्यालय ग्लोबल संस्कृत फोरम के सभी पदाधिकारीयों के प्रति सदैव कृतज्ञ रहेगा॥

ग्लोबल संस्कृत फोरम, महाराष्ट्र प्रान्त की मा. अध्यक्षा प्रो. जयश्री साठे डेक्कन कॉलेज की भूतपूर्व प्र-कुलगुरु रही है। उनके मार्गदर्शन में इससें पूर्व भी ग्लोबल संस्कृत फोरम एवं डेक्कन कॉलेज के संस्कृत और कोशशास्त्र विभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में दो अन्ताराष्ट्रिय कार्यक्रमों का सुयोग्य नियोजन ऑनलाईन माध्यम से किया गया था। २७-२८ अक्तुबर २०२३ को डेक्कन कॉलेज में प्रथम बार ऑफलाईन माध्यम से द्वितीय वैश्विक संस्कृत सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें डॉ. राजेश कुमार मिश्र और डॉ. बन्सी लव्हाळे इन्होंने संयोजक के रूप में कार्यभार संभाला। यह डेक्कन कॉलेज के लिए निश्चितही संस्मरणीय क्षण रहा। इस सम्मेलन में दो अन्ताराष्ट्रिय स्मृति पुरस्कारों को प्रदान किया गया। प्रो. पूर्णचंद्र साहू जी को **'प्रो. सत्यव्रत शास्त्री स्मृति पुरस्कार'** से सन्मानित किया गया और प्रो. भाग्यलता पाटसकर जी को **'महामहोपाध्याय प्रो. पी. जी. लाळ्ये स्मृति पुरस्कार'** से सन्मानित किया गया। इस सम्मेलन में साधारणतया २५० शोधनिबंधो का प्रत्यक्ष रूपसे तथा ऑनलाईन माध्यम से सादरीकरण हुआ, और उनमें से लगभग १०० शोधनिबंधो का प्रकाशन इस पुस्तक के माध्यम से हो रहा है।

द्वितीय वैश्विक सम्मेलन को स्नेहपूर्वक परिश्रम से सफल बनाने वाले ग्लोबल संस्कृत फोरम के सदस्यों ने जो योगदान दिया वह निश्चितही सराहनीय है और इस पुस्तक-प्रकाशन के कार्य में भी वह निरंतर कार्य कर रहे है। अतः डेक्कन कॉलेज की ओर से हम ग्लोबस संस्कृत फोरम के पदाधिकारी एवं सभी सदस्यों का हृदयसे हार्दिक अभिनंदन करते है।

(प्रो. प्रसाद जोशी)
प्र-कुलगुरु, डेक्कन कॉलेज, पदव्युत्तर पदवी एवं संशोधन संस्था (अभिमत विद्यापीठ) पुणे
प्रधान संपादक, संस्कृत विश्वकोश प्रकल्प
विभागाध्यक्ष, संस्कृत और कोशशास्त्र विभाग

प्रो.बिष्णुपदमहापात्रः
आचार्यः , न्यायविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-११००१६

प्रधानसम्पादकीयः

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥(ऋग्० १०/१९१/४)
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥(अथर्व.३/३०/२)"

भारतीयसंस्कृतेः वैशिष्ट्यं तावत् समाजस्य देशस्य राष्ट्रस्य च सर्वविधसमुन्नत्यै विचारसाम्यं मतैक्यं सामञ्जस्यं च सततमभीष्टं विद्यते । एवञ्च पारिवारिकाभ्युदयाय मातृपितृगुरुशुश्रूषा पितृनिर्देशानुसरणं मातृभक्तिः पतिपरिचरणं च इप्सितं वर्तत इति इयं भारतीयासंस्कृतिः स्पष्टयति श्रुतिः । ऋक-साम-यजुष्-अथर्वेति वेदादिचतुष्टये तच्छाखाग्रन्थेषु च या भाषा प्रयुक्ता सा वैदिकभाषेति नाम्ना व्यवह्रियते । वाल्मीकि-वादरायण-कालिदासादिकाव्येषु या संस्कृतभाषा सा लौकिकसंस्कृतनाम्ना अभिधीयते । भाषा ज्ञानमूला भवति । प्रतिभावशात् तदर्थं कश्चन शब्द उपादीयते । तदुत्पत्तिः प्राक् संकेतमूला भवति । वस्तुप्रयोजनमुपादाय कश्चन शब्दः तदर्थमभिधातुमुपादीयते । प्रतिभावतां तथा शब्दनिर्माणं क्रियते । सामान्यो लोकस्तं शब्दमादत्ते प्रयुङ्क्ते च । एवं भाषोत्पत्तिः प्राक् संकेतमूला भवतीति अभिधातुं शक्यते ।

संस्कृतिस्तावत् जीवनस्यान्तरङ्गस्वरूपं प्रकाशयति । मननं चिन्तनं दार्शनिकदृष्टिः मनोवैज्ञानिकमन्वेषणं दार्शनिकविश्लेषणं कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयः जीवनोत्कर्षाधायकतत्त्वानां गवेषणं समष्टेः व्यष्टेश्च स्वरूपं जीवनस्योद्देश्यं लक्ष्यं लोकव्यवस्थितेः साधनानि प्रकृतिपुरुषयोर्भेदाभेदविवेचनञ्च सर्वमेतत् संस्कृतिशब्देन संगृह्यते । संस्कृतिरेवैषा सततं चेतः प्रसादयति, मनोऽमलीकुरुते, दुर्भावान् दमयते, दुर्गुणान् दारयति, पापान्यपाकुरुते, आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिकदुःखद्वन्द्वानि दहति, ज्ञानज्योतिर्ज्वलयति, अविद्यातमोऽपहति, भूतिं भावयति, सुखं साधयति, धृतिं धारयति, गुणानागमयति, सत्यं स्थापयति, शान्तिं समादधाति, ऐश्वर्यञ्च प्रयच्छति । न केवलमेषोपकर्त्री व्यष्टेरपितु समष्टेरपि जीवनभूता । उपकरोति चैषाऽऽत्मनो मनसो लोकस्य राष्ट्रस्य विश्वस्य संसृतेश्च । एतत् सर्वं भारतीयभाषायाः संस्कृतेश्च महत्त्वं नितरां प्रकाशयतीति मनसि निधाय वैश्विकसंस्कृतमञ्चेन **'भाषा और संस्कृति'** ग्रन्थकुसुमाञ्जलिः प्रकाश्यते इति मोमुद्यते मे मनः । विशेषतः वैदिकभाषायां लौकिकभाषायां भारतीयसंस्कृतौ च विद्यमानानि यानि सामाजिकाभ्युदयतत्त्वानि वैज्ञानिकतत्त्वानि च विद्यन्ते तेषां तत्त्वानां समाजोन्मुखीकरणम् अनेन ग्रन्थरत्नेन भविष्यतीति मे भाति । एतदर्थं सम्पादकेभ्यः भूरिशः धन्यवादाः शुभाशीर्वादाश्च प्रदीयन्ते । अनेन संस्कृतजगति निगूढतत्त्वानां समुद्घाटनाय एतेषां सम्पादकानां शरीर-वाग्-बुद्धि-मनांसि सततं सुस्थतामेकरूपतां च प्राप्नुयुरिति भगवन्तं विश्वनाथं सम्प्रार्थ्य विरमामीति शम् ।

बिष्णुपद महापात्र ·

प्रो.बिष्णुपदमहापात्रः
आचार्यः , न्यायविभागः
श्री.ला.ब.शा.रा.सं.विश्वविद्यालयः

विषयानुक्रमणिका

क्र.	आलेख	लेखक/लेखिका नाम	पृ.सं.
1.	प्राचीन शिक्षा मे जीवनमूल्य	प्रा. पाटील अभय सखाराम	16
2.	अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भारतीय संस्कृति	श्रीमती नलिनी सिंह	20
3.	नवीन वैदेशिक साहित्यिक विधाओं का समकालिक संस्कृत साहित्य में स्वरूप व प्रयोग	आकांक्षा श्री	25
4.	Sānnāyya: Analysis of Darśapūrṇamāsa Havis	Anjali Kawade and Gauri Pitke	34
5.	Humanism in the writings of Annabhau Sathe's '*Fakira'* & *'Varnecha Wagh'*	Ashok Ramrao Kumnale	39
6.	Language and Indian Culture Depicted in Vedic Literature	Bini Saikia	45
7.	वर्तमान समय में योग और आयुर्वेद की उपयोगिता तथा भारतीय संस्कृति	चयनिका गोगोई	54
8.	धर्मशास्त्र में प्रतिपादित प्रायश्चित-विमर्श	दीपा कुशवाहा	61
9.	प्राचीन भारतीय ग्रंथों में गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष की स्थिति का बौद्ध संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन	डेनी यादव	70
10.	संस्कृत-नीतिशास्त्र	साहिल महाजन	97
11.	महाराजनलविरचितम् 'पाकदर्पणम्' - एक जीवनामृत : भारतीय पाककला का अद्भुत निदर्शन	वैद्य स्वप्नील अनिल सहस्रबुद्धे	104

12.	संस्कृत नवगीत : भाषा और संस्कृति	डॉ. समय सिंह मीना	117
13.	भारतीय संस्कृति और साहित्य में बुद्ध साहित्य का योगदान	प्रा.(डॉ.) बालाजी मारूती गव्हाळे	133
14.	Clothing Specifications in Ancient India with Special Reference to Harṣacaritam	Dr. Bhavana Balte	143
15.	भाषा और संस्कृति का वर्तमान सामाजिक संदर्भ: भारतीय परिप्रेक्ष्य	डॉ. गायत्री गिरीश मिश्रा	151
16.	पुराणों में भाषा और संस्कृति एक अध्ययन	प्रा. (डॉ.) घाडगे शंकर धारबा	165
17.	संस्कृत भाषा और वैदिक संस्कृति का भाव संबंध	डॉ. हंसाबेन बी. गुजरिया	180
18.	आयुर्वेद की आत्मा संस्कृत	वैद्या उज्वला विलास कड	195
19.	Reflections through the Gaṇas from Tatpuruṣa Compound	Dr. Kirti Sameer Kulkarni	202
20.	संस्कृत साहित्य में भाषा और संस्कृति	डॉ. ललिता जुनेजा	218
21.	वैदिक साहित्य में भाषा एवं संस्कृति	डॉ. मधु कुमारी	224
22.	आयुर्वेदस्य भाषा एवं संस्कृति:	वैद्य सौ. मृदुला विनायक जोशी	237
23.	Rice, Spice and Maharashtrian Spicy Rice	Dr. Pradnya Kularni	248
24.	Vritti : A Language of Dance	Dr. Sharayu Jeste-Bhalerao	253
25.	संस्कृत साहित्य में भाषा और संस्कृति का स्वरूप: एक अनुशीलन	डॉ. तरुण कुमार शर्मा	258

26.	विषमपरिणय-आधुनिक नाटक में भाषा और संस्कृति	डॉ. उर्वशी सी. पटेल	264
27.	संस्कृत भाषा : वैशिष्ट्य	डॉ. उषा मिश्रा	276
28.	Sanskrit is a boon for Human Life	Dr. Anagha Ghodke Jain	316
29.	नाट्यशास्त्र परम्परा में भाषा और संस्कृति	डॉ. केवल रावल	320
30.	अथर्ववेद में भाषा और संस्कृति	डॉ. चमन कुमार	323
31.	आर्ष महाकाव्यो में भाषा और संस्कृति	सौ. गौरी मंगेश दुद्दलवार	336
32.	अग्निपुराण में निहित काव्यशास्त्रीय तत्त्व	डॉ. गुड़िया कुमारी	343
33.	वैदिक साहित्य में भाषा और संस्कृति	कुशुम	354
34.	The Art of Speech as Gleaned from Katha Narration	Mrs. M. M. EKAAKSHMI	365
35.	अप्रकाशित पाण्डुलिपि:अष्टाह्निकाचरित्र का अवलोकन	श्री महेश बापूसो देसाई	374
36.	सूत्रप्रकाश इति मातृकायाः पुष्पिकायाः अध्ययनेन ग्रन्थकारस्य अप्पादीक्षितस्य वंशपरिचयः	मैत्रेयी नंदकुमार मणेर	383
37.	ब्रह्मसूत्रस्वामिनारायणभाष्यालोकेन भाषासंस्कृतिप्रवर्तनपुष्टिः	मङ्गलवर्धनदासः साधुः	400
38.	Cultural Aspect of Panini's *Ashtadhyayi*	Manish Gavkar	433
39.	रत्नावली नाटक में भाषा एवं संस्कृति का दर्शन	डॉ. मीनाक्षी सुभाष भांदककर	442
40.	THE COlORS ASSOCIATED TO	Mitali Milind	449

	NAVRASĀS AND THE COlOR THEORY	Joshi	
41.	भाषा संस्कृति की भारतीय एवं वैश्विक दृष्टि	Smt. Mohini. B. Kashid	458
42.	भास एवं कालिदास के नाटकों में भाषा और संस्कृति	श्रीमती नलिनी सिंह	474
43.	बौद्ध संस्कृत साहित्य में सांस्कृतिक संचेतना	डॉ. नीलम	463
44.	बङ्किमसाहित्ये संस्कृतं, संस्कृतिः, राष्ट्रियता, वैश्विकताश्च	डॉ. प्रणब कुमार बार	468
45.	संस्कृत वाङ्मये वेदस्य स्थानं तथा तस्य संक्षिप्त परिचयः	अर्चना तांदळे	487
46.	श्रीमद्भगवद्गीतायां, योगसूत्रेषु चेश्वरप्रणिधानविचारः	डॉ. शैलेश पवार	495

प्राचीन शिक्षा में जीवनमूल्य

प्रा. पाटील अभय सखाराम
पुण्यश्लोक अहिल्यादेवी होळकर, महाविद्यालय
राणीसावरगाव ता. गंगाखेड जि. परभणी
मेल. patilabhay188@gmail.com

प्रस्तावना

विश्व के प्राचीन साहित्यों में वैदिक साहित्य का विशिष्ट स्थान है। उसमें निहित जीवन मूल्यों का संबंध किसी युगविशेष, देशविशेष या व्यक्ति विशेष से न होकर मानव की अंतर चेतना से है। पारस्पारिक एकता, सहयोग, सद्भाव एवं संघटन आदि के अनेक शिक्षाप्रद उदाहरण वेदमंत्रों में सुरक्षित है। वैदिक साहित्य में निहित जीवनमूल्य आज भी शाश्वत है। जिनके कारण हमारी भारतीय संस्कृति उन्नति की और अग्रसर है।

मूल्यों में हमारा तात्पर्य **सर्वे भवन्तु सुखिनः**, **सर्वे सन्तु निरामया** या **सत्यं शिवं सुंदरम्** की अवधारणा से है। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य की नैतिक भावनाओं का सम्यक विकास किया जाय। मानव प्रेम, दया, सौहार्द की भावना होने पर ही वह समाज के विकास में सहायक हो सकता है एवं अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ एवं उन्नत बनाकर उसे संरक्षण प्रदान कर सकता है। यह तभी संम्भव हो सकता है जब हम वैदिक शिक्षण मे निहित जीवन मूल्यों पर दृष्टिपात करें।

वैदिक शिक्षा में मानव के क्या क्या मौलिक कर्तव्य तथा अधिकार है? इन सबका वैदिक ऋषियों ने अच्छी तरह निरूपण किया है। माता-पिता, गुरु, समस्त परिवार के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए? वैदिक शिक्षा इसकी उपदेशक है। शिक्षा के संदर्भ में माता-पिता के अनन्तर गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि बाल्यावस्था में ही विद्यार्थी बालक बालिका गुरु के समीप अध्ययन के

निमित्त रहकर अधिक समय व्यतीत करते है। अत: गुरु शिष्य में कोई भेद भाव न अभिव्यक्त करते हुए शुक्ल यजुर्वेदीय बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है।

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।। (कठो. 2.1.11)

अर्थात् गुरु और शिक्षक दोनों एक साथ अध्ययन-अध्यापन, पूजा, प्रार्थना तथा समस्त कार्य को करते हुए एक साथ तेजस्विता को प्राप्त करें। इस वैदिक मंत्र में जो शिक्षा बतलायी है उसको आत्मसात कर इस संसार का कोई ऐसा विद्यार्थी नहीं रह जायेगा जो अपने गुरु के प्रति निरादर भाव रखे। इसी प्रकार शिक्षा के दर्शनिक व्यावहारिक दोनों पछों के महत्व को बदलाते हुए कहा गया है।

इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा में नैतिक मूल्यों का महत्वपूर्ण उपदेश देखने को मिलता है। जिसमें कहा गया है- **सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्माप्रमद:, सत्यानप्रमदितव्यम, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथी देवो भव, श्रद्धया देयम्। (तैत्तिरीयोपनिषद् 1.11.1-3)**

वैदिक साहित्य में मातृदेव भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, सत्यं वद, धर्मं चर, वसुधैव कुटुंबकम् आदि जीवनमूल्यों के सार्वभौम स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण किया गया है। संपूर्ण मानव जाति को एक ही पिता की संतान मानकर एकता एवं अखंडता के सूत्र में बंधने की बात कही गयी है। (ऋग्वेद 1.1.9) इस प्रकार की भावना से पारंपारिक ईर्ष्या द्वेष स्वतः समाप्त हो सकते है। इसी प्रकार ऋग्वेद में अन्यत्र कहा गया है- हम सब परस्पर मिलकर रहें, एक साथ पाठ करे, हम सबका मन एक समान हो, हम सब उसी प्रकार एक साथ अपना प्राप्य ग्रहण करें, जैसे देवता गण एक साथ मिलकर अविरोध भाव से अपना हविर्भाग ग्रहण करते हैं। (ऋग्वेद 10.191.2) यजुर्वेद में कहा गया है कि वह व्यवहार जो दुसरों के द्वारा अपने साथ होने पर उचित ना लगे, उसको वैसा व्यवहार दुसरों के साथ कदापि नहीं करना चाहिए। मनुष्य जैसे अपने लिए सुख की इच्छा करे, वही सत्कार के योग्य होता है। यजु. १२.११०

मानव कल्याण के लिए जिन जीवन मुल्यों की आवश्यकता है, वें मानवतावादी जीवन मूल्य वैदिक वाङ्मय में सहज ही सुलभ हैं। यदि आज हम इन वैदिक मूल्यों एवं उन सिद्धांन्तों को अपने जीवन में स्थापित करे, तो पुनः विश्व में प्रेम, दया, करूणा, परोपकार, सौहार्द की भावना आदि का विकास करके समाज को दृढ़ बनाया जा सकता है।

इसी प्रकार के अन्यान्य उदाहरणों का भंडार वेदों में भरा हुआ है। जो अन्य शास्त्रों में देखने को नही मिलता। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के आधार बिंदू इन समस्त शिक्षाओं का उपदेश हमें वैदिक वाङ्मय में ही प्राप्त होता है। इसी का क्रमशः व्याख्यान परंपरा द्वारा होता हुआ हमारी लौकिक संस्कृत में भी देखने को मिलता है। भारत के अन्य शास्त्रों के अध्ययन द्वारा व्यक्ति उस विषय विशेष की शिक्षा भले ही प्राप्त कर ले परंतु मानवीय मूल्यों एवं उनके नैतिक आचार विचार की शिक्षा प्रदान करने वाली संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा नहीं है। इस भाषा में ही विरचित इस शिक्षा का महत्वपूर्ण उपदेश देने वाले संस्कृत साहित्य के चारों वेद है।

जिस आचरण को करते हुए जीवित रह सकें वही मूल्य कहलाते हैं। मूल्य वे हैं जिन आचरणों को अपनाने से जीवन उपयोगी बनता है। दुर्गुण, दुर्व्यसन पाप तथा दूर्भावनाओं को हृदय से निकाल कर निष्पाप तथा शुभगुणों से युक्त करती है। जीवन में सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक मूल्यों के अंतर्गत जीवन यापन करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करता है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य प्राप्त करता है। जीवन को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित करने की प्रवृत्ति के आधार पर याज्ञिक कर्मकांड का विशिष्ट प्रावधान था। ऋत एवं सत्य वैदिक जीवन की प्रथम विशेषता का वर्णन का उदाहरण निम्न प्रकार से है-

मातृवत् परदारेषु पर द्रव्ये सुलोष्ठवत।

आत्मवत सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः।।

इस प्रकार मानव इन जीवन मूल्यों को आत्मसात करके चलता था। ईशोपनिषद् में अपनी विचारधारा को ऋषियों ने अध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक

एवं शारीरिक सभी क्षेत्रों में मानवीय मूल्यों एवं कर्तव्य को एक सूत्र में निम्बद्ध किया है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किच् जगत्यां जगत।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

चतुर्थ आधार आत्मविश्वास है। आत्मा का हनन करना पाप है। पांचवा पुनर्जन्मवाद है। जो पारलौकिक भावना मानव को शुभ आचरण करने को प्रेरित करती है। यही नहीं मानव सदाचार का पालन करता हुआ विश्व बधुत्व एवं वसुधैव कुटुंबकम् की भावना से विश्वशांती की उदात्त भावना से जीवन व्यतीत करें।

असतो मा सद्गमय की तरफ जाये, सहिष्णुता पूर्वक, समन्वयवाद एवं धार्मिक विश्वास तथा पूजा पाठ की विधियों को अपनाने में स्वतंत्र है। प्रत्येक भारतीय हृदय में बद्धमूल मंत्र धर्म सखा परम हो परलोक माने।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य में जीवन मूल्य चिरंतन काल तक भारतीय संस्कृति के प्रकाश स्तंभ रहें है और रहेंगे। भारतीय समाज के संघठन एवं जीवनचर्या के नियम और व्यवस्था के साथ आध्यात्मिक उन्नति व अन्य भावनाओं की प्रेरणा एवं मानव मूल्यों का स्थान रहा है।

संदर्भ-ग्रंथ

1. मेहुल भाई आचार्यजी गुरुकुल शिक्षा
2. अमित शर्मा संस्कृत साहित्य इतिहास
3. विनोद सिंह संस्कृत साहित्य का इतिहास
4. कपिलदेवद्विवेद संस्कृतसाहित्का
5. समीक्षात्मक इतिहास

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भारतीय संस्कृति

श्रीमती नलिनी सिंह
शोधार्थी (संस्कृत विभाग)
शा. हमीदिया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
भोपाल, म.प्र.
ईमेल: singhnalini308@gmail.com

संस्कृत–साहित्य के उपवन में कालिदास का समागम एक ऐसे वसन्तदूत के रूप में माना गया है, जिसके कारण उस उपवन का कोना–कोना पुष्पित हो उठा। उन्होंने संस्कृत भाषा को वाणी दी, नयी साज–सज्जा, नये भाव, नयी दिषाएं, नये विचार और नयी–नयी पद्धतियां दी। वे संस्कृत के सबसे बड़े कवि और नाटककार माने जाते हैं। कालिदास के सम्बन्ध में महाकवि गेटे के भावों को विश्व कवि टैगोर के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता हैं, ''स्वर्ग और मर्त्य का जो यह मिलन है, उसे कालिदास ने सहज ही सम्पादित कर लिया है। उन्होंने फूल को सहज भाव से फल में परिणत कर लिया है, मर्त्य की सीमा को उन्होंने इस प्रकार स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीच का व्यवहार किसी को दृष्टिगोचर नहीं होता।

नाटकों के क्षेत्र में महाकवि ने 'मालविकाग्निमित्रम्' 'विक्रमोर्वषीयम्' और 'अभिज्ञानषाकुन्तलम् इन तीन कृतियों का प्रणयन किया। 'अभिज्ञानषाकुन्तलम्' उनकी अंतिम कृति है, किन्तु उसकी गणना आज विश्व साहित्य की पहली कृतियों में की जाती है। प्रेम और सौहार्द्र का ऐसा सरल ह्रदयग्राही एवं मर्म स्पर्षी चित्रण अन्यत्र देखने को नही मिलता। उसमें ओज के साथ मनोज्ञता और लघुत्व के साथ ही भाव–प्रांजलता का अद्भुत समन्वय विद्यमान है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की गणना संसार की श्रेष्ठतम कृतियों में की जाती है, कालिदास का इसे 'सर्वस्व' कहा गया है। जर्मनी के महाकवि गेटे 'शकुन्तला' को पढ़कर इतने हर्ष–विभोर हुए कि इसकी प्रशंसा में उसने एक कविता ही रच डाली–

वासन्तं कुसुमं फलच्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।

एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्गलोक भूलोकयोः।
रैष्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे शाकुन्तलं सेव्यताम्।।

अर्थात् यदि यौवन–वसंत के पुष्प–सौरभ और प्रौढ़–ग्रीष्म के मधुर फल का एक साथ परिपाक देखना हो, यदि अंतःकरण को अमृत के समान तृप्त और मुग्ध करने वाली वस्तु का अवलोकन करना हो और यदि स्वर्गीय सुषमा और पार्थिव ऐश्वर्य के सम्मिलन की झाँकी देखना हो तो, अभिज्ञानशाकुन्तलम् का अनुषीलन करो।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की श्रेष्ठता के विषय में दो मत नहीं है। आलोचक विद्वानों ने लिखा है–

"काव्येषु नाटकं रम्यं रम्या तत्र शकुन्तला।

तत्रापि च चतुर्थों अङ्क तत्र श्लोक चतुष्टयम्।।

काव्यों में नाटक सबसे श्रेष्ठ है, नाटकों में अभिज्ञानशाकुन्तलम्। उसमें भी चौथा अंक और चौथे अंक में भी चार श्लोक। पश्चिमी विद्वानों ने भी इसे अत्युत्तम नाटक माना है। इस नाटक में सात अंक है। पहले अंक में हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त आखेट करने के लिए वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्म कथा सुन उसके ह्रदय में शकुन्तला के लिए अनुराग उत्पन्न होता है। द्वितीय अंक में ऋषियों की प्रार्थना पर आश्रम की रक्षा करने के लिए वह स्वयं वही रह जाता है। तृतीय अंक में राजा और शकुन्तला का समागम है। चतुर्थ अंक में कण्व तीर्थ यात्रा से लौटकर आश्रम में आते हैं और शकुन्तला को गर्भवती जान गौतमी तथा शारद्वत और शाङर्गरव नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते है। शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है। यह चतुर्थ अंक शकुन्तला में सबसे अच्छा समझा जाता है। पंचम अंक में शकुन्तला हस्तिनापुर पहुँचती है, परन्तु दुर्वासा के अभिशाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं है। इस प्रत्याख्यान के बाद ऋषियों के चले जाने पर शकुन्तला को कोई दिव्य ज्योति आकाश में उड़ा ले जाती है और मरीचि के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के साथ निवास करती है। षष्ठ अंक में राजा की नामांकित अंगूठी मछुए के पास से राजा को मिलती है। उसे देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो जातीहै, वह अपनी प्रियतमा के प्रत्यारव्यान से अत्यंत विह्वल हो उठता है। अन्त में इन्द्र की सहायता करने के लिए स्वर्गलोक में जाता है। सप्तम अंक में दुष्यन्त विजय प्राप्त कर स्वर्ग से

लौटता है और मरीचि आश्रम में अपने पुत्र तथा प्रियतमा का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार शाकुन्तल के प्रथम चार अंको को 'भोगभूमि' बीच के दो अंको को 'दण्डभूमि' और अंतिम अंक को 'सिद्धभूमि' कहा गया है।

साधारण सी पौराणिक कथा को कालिदास ने अपनी अद्‌भुत कल्पना शक्ति द्वारा अनुपम नाटकीय रूप दे दिया है। कण्व ऋषि की तीर्थयात्रा, दुर्वासा का शाप, अंगूठी की कल्पना आदि कालिदास की अद्‌भुत नाट्यकुशलता के परिणाम हैं, जिन्होंने कथानक को रोचक बनाया है, अपितु नायक - नायिका के चरित्र की रक्षा भी की है। कालिदास की इस अनुपम कृति में उनकी नाट्य प्रतिभा, कल्पना प्रचुरता, भाषा–लालित्य, रस परिपाक तथा मानव मनोविकारों का मार्मिक चित्रण अत्यधिक विषद् रूप में हुआ है। शब्दों का सुकुमार विन्यास, छन्दों का स्वर माधुर्य, सूक्ष्म व्यंजनावृत्ति आदि गुणों के कारण शाकुन्तलम् संस्कृत साहित्य की ही नहीं अपितु विश्व साहित्य की अनुपम नाट्यकृति है।

अपने काव्यों की भॉति ही कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में आश्रमों की संस्कृति का यशोगान किया है। नगरों की भौतिकता, विलासिता व सामंतीय समाज की स्त्रैणता के प्रतिरोध में उन्होंने आश्रमों के अपरिग्रह, स्वावलंबन, तेजस्विता और निःस्पृहता को महत्व दिया है। जब विदूषक हॅसी–हॅसी में दुष्यन्त से आश्रम के मुनियों से कर वसूलने की बात कहता है, तो राजा तुरन्त उसे झिड़ककर कहते है– ''राजा को अन्य लोगों से जो धन के रूप में शुल्क मिलता है, वह तो नष्ट हो जाता है, मुनिजन अपनी तपस्या के द्वारा उसे जो पुण्य प्रदान करते हैं। वह अक्षय हो जाता है। दुष्यन्त आश्रम में प्रवेष करने के पहले अपना राजसी वेष व अस्त्र त्याग देता है। अपने सेनापति से भी वह कहता है कि सैनिक आश्रम में विघ्न न करें, क्योंकि तपोवन में भले ही शांति छायी रहती हो, पर इसके भीतर ऐसा तेज छिपा हुआ है, जो जला सकता है।

कालिदास की भावना तथा राजा के कर्त्तव्य को कालिदास ने अभिज्ञानषाकुन्तलम् में बड़े मार्मिक रूप में अभिव्यक्त किया है। शांकुतल ऋषि कुमार राजा को देखकर कहते है कि यह राजा ही मुनि हैं, मुनि आश्रम में निवास करते हैं, तो यह गृहस्थाश्रम में प्रतिष्ठित है, मुनि तप करते हैं, यह प्रजा की रक्षा का तप करता है, मुनियों का यश स्वर्ग तक फैला हुआ है, तो इसका यश भी। केवल अंतर यही है कि यह केवल

ऋषि नही, राजर्षि है।

कालिदास ने अपने नाटकों में भारतीय गृहिणी के आदर्ष और माहात्म्य को स्थापित किया है। शाकुंतल के अंतिम अंक में ऋषि शकुन्तला को समझाते हुए कहते हैं– बेटी अपने सहधर्मचारी के लिए रोष मत करना, क्योंकि शाप के कारण इसकी स्मृति रूँध गयी थी, उससे इसने तुझे ठुकरा दिया। अब तो अपने पति पर तेरा ही पूरा स्वामित्व है– भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव। पति और पत्नि को एक–दूसरे के अधीन, एक दूसरे के वश में रहना चाहिए– कालिदास दाम्पत्य के इस स्पृहणीय आदर्श को प्रतिष्ठित कर रहे हैं। इसके साथ ही नारी की तेजस्विता के प्रशंसक है।

शाकुन्तल का चित्रपट अत्यन्त व्यापक तथा समृद्व है। एक नव–प्रस्फुटित–यौवन प्रकृति–किषोरी है जो आश्रमत्थ लता सेवा–परिचर्या करती है। यह कथानक का आरम्भ बिन्दु है। वह किशोरी अन्ततः राजमहिषी बन जाती है– यह कथानक का पर्यवसान बिन्दु है। किन्तु, इन दोनों बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा अत्यन्त कुटिल हो गयी है और इस कौटिल्य की आड़ में कवि को अपने प्रबुद्व संवित् के समग्र स्वरूपों की विवृत्ति का मनोरम संयोग प्राप्त हुआ है। सौन्दर्य की पवित्रता एवं मादकता, प्रेम की निष्चलता एवं विवषता, प्रकृतिजन्य सरलता एवं मुग्धता ऋषिकुल की उदारता एवं दयालुता, महर्षि कण्व का आदर्ष, वात्सल्य, दुर्वासा का निर्ममदण्ड, वासना की मांसलता का प्रक्षालन तथा आत्मा का सुषान्त निर्मलीकरण, रोमांस के आसव एवं संस्कृति के पीयूष का मंगलमय सम्मिलन प्रेयस एवं निःश्रेयस का मनोग्राही ग्रन्थि बन्धन– इन सभी उपादानों को एक साथ मिश्रित कर कालिदास ने 'शांकुतल' में जो 'प्रपानक रस' तैयार किया है, वह भारतीय संस्कृति एवं जीवन के लिए नितान्त मूल्यवान् है।

यद्यपि कालिदास भारतीय संस्कृति के पूर्ण संरक्षक है। त्याग, तपस्या तथा तपोवन भारतीय संस्कृति के त्रिरत्न है। तेन त्यक्तेन भुज्जीथाः' कालिदास के नाटकों का प्रभावषाली सन्देष है। तपस्या के बाद दुष्यन्त शकुन्तला का परिणय इत्यादि ऐसे आदर्ष है जिनकी उपासना आज भी मानवों को कल्याण की अंतिम कोटि तक पहुँचाने के लिए पर्याप्त है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची:–

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास– वाचस्पति गैरोला, पृ.681–682

2. महाकवि कालिदास की नाट्य रचनाओं का शास्त्रीय अध्ययन–डॉ. जयकृष्ण प्रसाद खंडेलवाल, पृ.14
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम्– डॉ. शिवबालक द्विवेदी, पृ.22
4. संस्कृत सुकवि समीक्षा– आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ.73
5. कालिदास साहित्य के पौराणिक संदर्भ (स्रोतमूलक अध्ययन)– डॉ. आशा श्रीवास्तव, पृ.17
6. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास– डॉ. राधावल्लभ–त्रिपाठी, पृ.179
7. महाकवि कालिदास– रमाशंकर तिवारी, पृ.149
8 अभिज्ञानशाकुन्तलम्– आचार्य पं. शिवप्रसाद द्विवेदी, पृ. 08

नवीन वैदेशिक साहित्यिक विधाओं का समकालिक संस्कृत साहित्य में स्वरूप व प्रयोग

आकांक्षा श्री, शोधच्छात्रा
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
Shreeakanksha130@gmail.com

आधुनिक काल का संस्कृत साहित्य अत्यंत समृद्ध व विविधतापूर्ण है। आधुनिक संस्कृत साहित्य को हम दो भागों के विभक्त कर सकते है। एक पूर्व स्वातंत्र्य और दूसरा स्वातंत्र्योत्तर साहित्य की श्रीवृद्धि रचनाकारों, आचार्यों तथा समीक्षकों के ज्ञान कौशल पर निर्भर करती है। संस्कृत साहित्य में ऐसे सैकड़ों रचनाकार हुए जिन्होंने अपनी प्रतिभा से संस्कृत साहित्य को विविधता तथा नवीनता के साथ जनसामान्य तक पहुंचाया।

प्रश्न यह उठता है की संस्कृत में आधुनिक काल कब से माना जाए, इस संदर्भ में संस्कृत के कुछ उद्भट विद्वान प्रो. राधाबल्लभ त्रिपाठी, प्रो. राजेंद्र मिश्र, डॉ. जगन्नाथ पाठक आदि ने गहन चिंतन मनन किया। प्रो. राजेंद्र मिश्र ने सन् 1784 ई. में सर विलियम जोन्स के द्वारा अंग्रेजी में किए गए कालीदास कृत अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अंग्रेज़ी अनुवाद से ही संस्कृत रचना में आधुनिक काल का आरम्भ माना है।

ऐसा मानने के पीछे यह भी हो सकता है कि –

1- शकुंतलम् के अंग्रेज़ी अनुवाद के बाद ही चिरकाल से अवरुद्ध संस्कृत रचनाधर्मिता का पुनरुत्थान हुआ।
2- मौलिक रचना, समीक्षा तथा भाषांतर शोध की संभावना के द्वार अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर खुले।
3- संस्कृत को विश्वभाषा (Universal Language) की मान्यता प्राप्त हुई।

4- संस्कृत जगत् में पारंपरिक प्रतिपाद्य को संजोते हुए नवीनता ने स्थान ग्रहण किया।

5- पाश्चात्य जगत् के काव्य मानदंड संस्कृत साहित्य में घुलमिल कर एकाकार हो गया।

6- आधुनिक संस्कृत साहित्य, प्राचीन काव्य शास्त्रीय निर्देशों से मुक्त हो कर स्वच्छंद रूप से रचा जाने लगा।

7- आधुनिक सर्जना भाषा की सरलता, नवयुगीन सामाजिक चेतना से जुड़ाव अन्ताराष्ट्रिय घटनाओं की समीक्षा तथा वैदेशिक छंदों व काव्यविधाओं के कारण उत्तरोत्तर लोकप्रिय हुई।

आधुनिक संस्कृत साहित्य कविता, कथा, नाट्य, तथा समीक्षा किसी भी क्षेत्र में भारत के अन्य भाषाओं में प्रणीत आधुनिक साहित्य के समकक्ष अथवा उससे भी परतर प्रतीत होते हैं।

अतः यह कह सकते हैं की स्वतंत्रता से पूर्व ही संस्कृत साहित्य की सभी प्राचीन विधाओं के अतिरिक्त, पाश्चात्य की प्रमुख विधाओं से भी प्रभावित हो कर मनीषियों ने अपनी रचना आरंभ कर दी थी। सम्पूर्ण भारत में विभिन्न विद्वानों तथा कवियों ने संस्कृत के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से सहस्राधिक रचनाएं की है। इसमें हमें वसुधैव कुटुंबकम् की भावना भी दिखलाई पड़ती है।

कहते है की भाषा संसार में एक दूसरे को जोड़े रखने का भार अपने कंधे पर लिए चलती है। उसी भाषा में जन सामान्य को मनोरंजित करने की भी क्षमता बखूबी विद्यमान है। इसी प्रकार संपूर्ण विश्व की भाषाओं में अपनी अलग-अलग साहित्यिक विधाएं प्रचलित है। उनको अपनाकर यदि हम अपने देश की भाषा में उसका प्रयोग करें तो वह अत्यंत प्रभावशाली व निश्चय ही वसुधैव कुटुंबकम् की भावना को परिपुष्ट करता नजर आता है।

कालिदास द्वारा रचित नाट्य विधा का प्रभाव विदेशों में आज भी ऐसा है की वहां के रचनाकर इस विधा को अपना कर दुःखान्त नाट्य न करते हुए सुखांत नाट्यों की रचना कालांतर में करने लगे।

इसी प्रकार वैदेशिक विधाओं को भी भारतीय आधुनिक रचनाकारों ने इस क़दर अपनाया की वह अपने लंबे लंबे सामासिक श्लेष युक्त रचनाओं को पीछे छोड़ कर बिंब काव्यों अर्थात् लघु काव्यों की रचना करने लगे।

इन विधाओं को अपनाने से समाज में एकीकरण, समामेलन व यूनिफिकेशन का भाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। अतः हम आसानी से समझ सकते हैं कि {जन→समाज→भाषा→मनोरंजन→साहित्य →विधा→आपस में संप्रवाह→अंत में सौहार्द की भावना} यह सब आपस में जुड़ कर मनुष्य को आनंदित करते हैं जो किसी काव्य का परम् लक्ष्य भी होता है।

अंततः काव्य का परम लक्ष्य सहृदय को आनंद की अनुभूति देना ही है वह चाहे किसी भी विधा के द्वारा क्यों न हो।

आज के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में पाठक कम समय में साहित्य का पाठ कर झटिती आनंद की इच्छा रखता है संभवतः इसी मनोभाव की पूर्ति हेतु आधुनिक संस्कृत साहित्यकार ने वैदेशिक विधा जैसे :- **हाइकु, तांका, सिजो, सनेट, काव्याली, गजल, बोनो, इमेज (बिंब काव्य)** जैसी विधाओं को अपनाकर संस्कृत में इसका प्रयोग करना आरंभ किया होगा।

प्रस्तुत शोधकार्य में मैं इन्हीं वैदेशिक विधाओं के स्वरूप व उनका आधुनिक संस्कृत साहित्य में प्रयोग विषय को प्रस्तुत किया गया है।

नवीन वैदेशिक साहित्यिक विधाओं की विशिष्टता को आधुनिक संस्कृत साहित्य में किस प्रकार उजागर किया है वह निम्न प्रकार से हैं-

हाइकु

हाइकु मूल रूप से जापानी कविता है। "हाइकु का जन्म जापानी संस्कृति की परम्परा, जापानी जनमानस और सौन्दर्य चेतना में हुआ और वहीं पला है। इसे फ्रांस में हाइकाई, आंग्ल में होक्कु, अमेरिका मे हाइकु नाम से अभिहित किया गया है। हाइकु में अनेक विचार-धाराएँ मिलती हैं। जैसे- बौद्ध-धर्म (आदि रूप, उसका चीनी और जापानी परिवर्तित रूप, विशेष रूप से जैन सम्प्रदाय) चीनी दर्शन और प्राच्य-संस्कृति। यह भी कहा जा सकता है कि एक "हाइकु" में इन सब विचार-धाराओं की झाँकी मिल जाती है या "हाइकु" इन सबका दर्पण है।[1]

हाइकु को काव्य विधा के रूप में बाशो (१६४४-१६९४) ने प्रतिष्ठा प्रदान की। आज हाइकु जापानी साहित्य की सीमाओं को लाँघकर विश्व साहित्य की निधि बन चुका है। हाइकु अनुभूति के चरम क्षण की कविता है।[2]

बिंब समीपता (juxtaposition of the images) हाइकु संरचना का मूल लक्षण है। यह तीन पंक्ति का काव्य है। प्रथम पंक्ति में 5 द्वितीय में 7 और तृतीय में 5 अक्षर होते है। कुल 17 अक्षर की यह काव्य विधा है।

भारत में इसे लघु काव्य, त्रिदलम्, क्षणिका, त्रिवेणी, बिल्वपत्रम् (हर्षदेव माधव द्वारा) किया गया है। यह कविता सप्तदशाक्षरी- सत्तरी भी कहा जाता है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य में इसका आविर्भाव प्रो. हर्षदेव माधव के

---

[1] धर्मयुग, 16 अक्तूबर, 1966

[2] जापानी कविताएं, अनुवादक: प्रो. सत्यभूषण वर्मा, सीमांत पब्लिकेशन इंडिया, 1977, पृष्ठ 22.

रचनाओं से 1970 में हुआ। ठीक उसके चार वर्ष उपरांत संस्कृत पत्रिका 'संविद' में इसके प्रकाशन के साथ ख्याति भी प्राप्त हुई। उन दिनों से ही अन्य भारतीय भाषाओं में भी हाइकु की चर्चा जोर शोर से होने लगी।

संस्कृत काव्य जगत् में हाइकु को विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले सर्व प्रथम रचनाकार हुए प्रो. माधव जिनकी रचना थी- **गुञ्जती भृंगः, कथयति किमपि, पुष्पं हसति।** भ्रमर गुंजन करता हुआ पुष्प से कुछ कहता है (संभवत उसके सौंदर्य की प्रशंसा करता है) पुष्प प्रसन्नता से और खिल उठता है।

निसर्ग चिंतन जो हाइकु का प्रथम अनिवार्य विषय है उसी के अनुसार पुष्प और भ्रमर के संवाद में प्रेमी युगल के व्यवहार का वर्णन है।

विशेषता:-

लघुतम कलेवर, अल्पम शब्द संयोजन, गहनतम भवाभिव्यंजन, सूक्ष्मतम वस्तु निरीक्षण, सूक्ष्मतम प्रकृति चित्रण, जीवनसत्य की सहजतम अभिव्यक्ति, बिम्ब कंपन सामर्थ्य आदि गुणों के कारण यह कविता विश्वमानस पर प्रभाव दिखा कर अत्यंत प्रचलित हुई है।

पाणिनीय धातुपाठ में पठित संस्कृत धातुओं का हाइकु में प्रयोग एक अभिनव उपक्रम है:– घ्रस् धातु (अन्न के दाने बीनना) अर्थ में **"घ्रसनाति मनः, स्मृतिदेशे स्थितोऽस्मि, क्षेत्रे चंचावत"** मन स्मृति देश में पहुंचकर कणश: स्मृतियों को चुन रहा है, में भावशून्य चंचा की भांति खड़ा हूँ ।

संस्कृत साहित्य के विद्वान श्री गौतम भाई पटेल ने भी हाइकु रचना की है। **त्वमपि त्वं न मां बिना** कविता संग्रह में 2011 में प्रकाशित हुई उसमें मानवीय संवेदना को उजागर करने वाले हाइकु काव्यों का संकलन किया है।

मम कविता, समय शुक्तौ, मौक्तिकायते।[1]

इसी क्रम में डॉ. हर्षदा जानी भी प्रमुखता में आते है जिन्होंने हाइकु विधा को प्रसारित किया। उनका हाइकु संग्रह **शुक्तौ श्याना चंद्रिका** में मन्दिरम्, वर्षा, नदी, मृत्यः, दीपः आदि पंद्रह उपशीर्षकों के साथ 75 हाइकु संकलित है। यह रचना बीसवीं शताब्दी के अंत में रची गई परंतु इसे ख्याति इक्कासवी शताब्दी में प्राप्त हुई।

पुष्पस्य गात्रम्, ज्योत्सनायाः वपुः, मधु/च्छत्रं यौवनम्।[2]

इसी श्रृंखला में गुजरात संस्कृत आदमी से पुरस्कृत कवियित्री डॉ. पुष्पा भट्ट का नाम भी हाइकु लेखन की दुनिया में उल्लेखनीय है। इनका हाइकु संग्रह **चित्रविथिका-2020** में प्रकाशित गुजराती अनुवाद के साथ 127 हाइकु को संजोए हुए है। ऋतु वर्णन, विशुद्ध प्रकृति चित्रण, पशु पक्षी, पुष्प, त्रिदेवों, नवग्रह, आदि विषयों के प्रति कवियित्री की रागात्मिका वृत्ति भारतीय तत्-तत् विषयों के आत्मिक वैभव के साथ इस त्रिदल काव्यविधा के माध्यम से प्रकट हुई है। उदा.– **श्वेतं कुमुदम्, देवमाता अदितिः, सर्जना शक्तिः।**[3]

संस्कृत कथा जगत् के बहुश्रुत आधुनिक रचनाकर प्रो. बनमाली बिश्वाल जी के चार लहरी काव्य, प्रत्येक में दस हाइकु पद्यबंधा शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुए। विरह लहरी, मेलन लहरी, मनमथ लहरी, तथा स्वकिया परकिया लहरी। अत्यंत लघुता के साथ गंभीर से गंभीर विषयों का प्रतिपादन आचार्य ने किया है। ऐसी ही विरह वेदना को दर्शाता हुआ

---

[1] **त्वमपि त्वं न मां बिना, 2011, पटेल गौतमभाई।**

[2] **शुक्तौ श्याना चंद्रिका, जानी हर्षदा।**

[3] शीर्षक- पुष्पसृष्टि, **चित्रविथिका, 2020, भट्ट पुष्पा।**

एक काव्य– **प्रिया-विरहे, छादयन्ति खं मेघाः, सुदिनेष्वपि ।**[1]

अतः ऐसे अनेकों नाम है जिन्होंने वैदेशिक विधाओ को अधुनिक संस्कृत काव्य जगत् में स्थान देने का प्रयास किया है-

- राजस्थान के युवा साहित्यकार डॉ. कौशल तिवारी जी
- राजस्थान के डॉ. ओमप्रकाश पारीक जी
- मध्यप्रदेश भोपाल के डॉ. धर्मेंद्र कुमार सिंहदेव जी। आदि

अतः हम कह सकते है कि आधुनिक संस्कृत काव्य जगत् में रचनाकारों में वैदेशिक विधाओं के प्रति अभिरुचि पर्याप्त है। साथ ही उनकी सामाजिक सरोकार के प्रति प्रतिबद्धता है इसीलिए गंभीर से गम्भीर विषयों को अपना केंद्र बनाकर हाइकु, तांका, सीजो, सनेट, आदि की रचना की जा रही है। इनका प्रमुख कारण है:-

- संस्कृत जगत् में व्यापक युगबोध हो रहा है।
- समयानुसार युगीन परिवर्तन दिखलाई पड़ रहे हैं।
- प्रकृति के प्रति स्नेह होने से कविताओं में मनोरम प्रकृति-चित्रण।
- श्रृंगार आदि का विशेष स्थान भी परिलक्षित है।
- बिम्बविधान और प्रतिकात्मकता एक प्रमुखता है।
- लघुकाव्य मुख्य रूप से व्यंजनागर्भा कविता होती है।

तांका

ताँका यह भी जापानी काव्य की कई सौ साल पुरानी काव्य विधा है। संभवतः हाइकु का उद्भव इसी विधा से माना जाता है। इसकी संरचना पांच पंक्तियों में क्रमशः 5+7+5+7+7=31 वर्णों की होती है।

---

[1] **पद्यबंधा**, लहरी काव्य, केंद्रीय स वि.वि, बिश्वाल बनमालि।

ताँका का शाब्दिक अर्थ है लघुगीत अथवा छोटी कविता।[1]

संस्कृत कवि डॉ. हरिशंकर मेहर **हासितास्या वयस्या (Anthology of Haiku, Sijo and Tanka)** संग्रह में हा से हाइकु, सि से सीजो, ता से तांका कह कर प्रयोग करते हैं।

इस संग्रह में इन्होंने एक साथ तीनों, वैदेशिक विधा का संस्कृत भाषा में प्रयोग किया है।

तीनों को मिलाकर **'हासिता'** शब्द बनाया है कवि न **'वयस्या'** शब्द का अर्थ है 'सखी' या 'सहेली'।

इसका तात्पर्य है कविता-रूपिणी सखी। इनमें से **सीजो कोरियन** विधा है।

तांका का उदा.–

दैन्यदा वन्या अधन्या गृहशून्याः।

द्रविण-बन्धः कर्मिणां निर्मीयते, प्रवहत्यर्थधारा॥'[2]

(घोर वन्या से पीड़ित गृहहीन लोगों की शोचनीय अवस्था, सहायता-अर्थराशि का धन-लोलुप शोषक कर्मियों द्वारा लुण्ठन विषय इस कविता में गर्भित है।)

इस प्रकार आधुनिक संस्कृत काव्य जगत् में नवाचार भिन्न-भिन्न प्रकार से समाहित है। संस्कृत भाषा अन्य वैदेशिक भाषाओं के प्रमुख विधाओं को भी स्वयं में समेटे हुए है। इससे वसुधैव कुटुंबकम् की भावना भी अवश्य परिलक्षित होती है। साथ ही संस्कृत का क्षेत्र भी अत्यंत

---

[1]Keene, Donald. A history of Japanese literature: vol. – 1, Columbia University press 1999, ISBN: 978-0-231-11441-7

[2] प्राचीप्रज्ञा, संस्कृत ई-जर्नल, 6 जून 2018.

व्यापकता को दर्शाते हुए वैश्विक पटल पर स्वयं को खड़ा करता है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची:-

1. समकालीन संस्कृत साहित्य की नवीन प्रवृत्तियां, बिश्वाल बनमाली, कविकुलगुरुकालिदास, वि.वि 2019
2. काव्यतत्वसमन्वित:, बिश्वाल बनमाली, केंद्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2023
3. आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, मिथलेश पाण्डेय, राधा पब्लिकेशन, 2019
4. इक्कीसवीं शताब्दी का संस्कृत साहित्य: उपलब्धियां, सीमाएं और संभावनाएं, इक्कीसवीं शताब्दी की हाइकु कविता, इला घोष, 2023

Sānnāyya: Analysis of Darśapūrṇamāsa Havis

Anjali Kawade and Gauri Pitke

Yajña is a performance of a religious duty involving Agni, the sacrificial fire while chanting the mantras. The word itself is derived from the verbal root yaj meaning "to worship", to indicate devotion. The performance of a yajña is meant to please various deities. Another synonym for yajña is yāga. The yajña tradition has been given a unique importance in Indian culture. In Vedic times Yajña dharma was predominant.

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

भगवद्गीता: अध्याय 3, श्लोक 14

According to this verse, allliving beings subsist on food, and food is produced by rains. Rains come from the performance of sacrifice, and sacrifice is produced by the performance of prescribed duties the yajña was ruled for the dual welfare of the transcendental and worldly. It was considered as the form of religion itself. The rules of the yajña ritual are given in the Śrautasūtras. The Mantras to be chanted and the method to be performed in the religion are elaborated in the Vedas, i.e. Śruti. Therefore it is called Śrautadharma. Codes of the Vedas became sacrificial offerings. After the Vedicliterature, the Brāhmaṇa texts were created. The scriptures of the Vedic sacrificial system were created by the Brāhmaṇa texts. The study of the Brāhmaṇa texts is necessary for the knowledge of the Vedas. The explanation of the mantras is given in detail in the Brāhmaṇa texts.

After the Brāhmanās, the Vedāṅgas came into being in the Upaniṣad period. Śikṣā, Kalpa, Vyākaraṇa, Nirukta, Chandas and Jyotiṣa are the six Vedāṅgas. Kalpa means vidhividhāna, which has four type's viz. Śrautasūtra, Gṛhyasūtra Dharmasūtra and Śulbasūtra. The Śrautasūtras are useful in interpreting the Vedas. They tell the appropriation of the mantras. Various offerings are

given to yajñīya deities in accompaniment of the mantras. Those offerings are called as *havis*. Agni works as a mediator. He delivers the offerings i.e. *havis* to the respective deities.

let us now begin with the Sānnāyya, a havis in the Darśapūrṇamāsa sacrifice. The word sānnāyya is derived from the verbal root nī prefixed by sam, which means to put together. In the Darśapūrṇamāsa sacrifice, thelibation is given tolord Indra. There is alegend for thislibation in Śatapatha Brāhmaṇa 1.1.6.4 regarding the origin and importance of this sānnāyyālibation. When Indra had hurled the thunderbolt at Vṛtra (asur), thinking himself to be the weaker, and fearinglest he had not brought him down, he concealed himself and went to the farthest distances. Now the gods knew that Vṛtra had been slain and that Indra had concealed himself.'' Then Indra became weak and was in search for nourishment, but he refused to take purodaśa as havi. He wanted something pleasant to drink. The gods said, 'Nothing but Soma will satiate him:let us prepare Soma for him!" They prepared Soma for him. Now this king Soma, the food of the gods, is no other than the moon.

तद्यदेष ऽएतां रात्रिमिहाऽमा वसति तस्मादमावास्या नाम

श. ब्रा.- 1.6.4.5

This explains, when he (the moon) is not seen that night either in the east or in the west, then he visits this world; and here he enters into the waters and plants. He is indeed a treasure for the gods, this soma which is considered to be deities' food has part of moon in it. When this moon is not visible in the sky, it comes to the Earth and gets mixed in water and medicines. Therefore, it is called as amāvāsyā (the dwelling together, or at home). "This water and medicines consisting of Soma is eaten by the cows. Soma gets converted in cow's milk. Therefore the sweet milk and cultured milk that is dadhi is used in Sānnāyya havis."

Preapration of Sānnāyya:

In the Darśeṣṭi, the cows are milked in the evening of the new-moon day and the morning of the following day i.e.

pratipada. The sāyandoha, i.e. milk milked in the evening is heated and curdled. The prātardoha, fresh milk of the following morning and curdled milk of the previous evening are mixed together and are sacrificed. As per ĀpaŚS eligibility of the sacrificer for offering sānnāyya one who is not a somayājin, i.e. who has not performed any Soma sacrifice must not offer the sānnāyya. One who has not reached prosperity should not perform a sacrifice in honor of Mahendra. There are three Gataśris[1] (those who have reached prosperities) the sānnāyya is of same significance as a Somalibation and therefore the one who is not a Soma-sacrificer is not eligible to offer it.

The significance of new moon day and he who knows this, (sweet and sour milk – at new moon sacrifice) how soma is satisfactory and nourishing the sānnāyyalibation is also satisfactory and nourishing and it is also sanative. One who performs this will gets free from sins as well as diseases, increases offspring, overcome evil and wisheslike pashukamana gets completed.[1]

Conclusion:

1. In Vedic era when yajña was significant and part of the everydaylife of people, every person had domestic animals. It was said that cattle are godhana, one's wealth. Therefore in that time the quantity of milk, ghee etc. was abundant.

2. In the present times, people think that amāvaśyā tithi, no moon day is inauspicious and avoid important works on that day. But every day has its own importance and various rituals are performed on those tithis.

[1] Gataśris means one who is a scholar of Veda, one who is the leader of a village and one who is going to become a king.

Photograph-1

Photograph-2

Acknowledgement:

We are grateful to the resources of Deccan College PGRI, Pune, especially the scriptorium of Sanskrit Dictionary project for the reference material. We are thankful to Shri. Vishal Joshi, Sacrificer (Purohita) for his suggestions and the photographs presented in the paper. We owe our gratitude to Dr. Shilpa Sumant for her guidance in the improvement of this paper.

Photograph 1- various materials used for oblations, Yajna kund, Ghee, PurodaŚa,ladles etc.

Photograph 2- Sānnāyya (mixture of milk and Curd) and Puroḍāśa kept on wooden spatula for offering in the Darśa and Pūrṇamāsa sacrifices.

Bibiliography:-

- Eggeling, Julious and Maitrayee Deshpande. Śatapatha Brāhmaṇa - Sanskrit text with notes. New Delhi: New Bharatiya book corp.

- Rustagi Urmila, 1981, DarŚapurnamas- the ritual of darŚapurnamas, New Delhi Bharatiya vidya prakashan.
- Kashikar, Chintaman Ganesh, 1927, Śrautadharmachi swaroopchikitsa, . Pune: G.J.Abhyankar, Pune University Printing Press, Ganeshkhind. Paranjape, Shivram Mahadeo
- Thite G.U., 2004, Āastamba Śhraut Sutra- Text with English Translation and Notes, Delhi, New Bharatiya Book corp.
- Apte, Vaman Shivram, 2020, The Student's Sanskrit-English Dictionary, [Recomposed &
- Enlarged Edition]. Delhi: Parimal Publications.
- Taittiriya Upanishad Shankarbhshya, 1993, Geetapress Gorakhpur.
- Sen Chitrabhanu, 1989, A Dictionary of the Vedic Rituals – based on Śrautasūtra, Gṛhyasūtras, Delhi, Concept Publishing Company.
- Mishra Pramodbala, 2003, Manav shrautsutram, Naag Publishers
- Vidyavachspati Abhyankar shankar vasudev, Bhaktikosh - Bharatiya Acharyalekhan Vol. 1
- Dikshit Bapat Dhundiraaj Ganesh and Vaidya shree P verlekar, Krushna Yajurvediya Taittiriya Brahman aani Aranyaka, Cheramangalam Sivdas.

Humanism in the writings of Annabhau Sathe's *'Fakira' & 'Varnecha Wagh'*

Ashok Ramrao Kumnale
Department of English,
M.J.P. College, Mukhed
Dist.Nanded.(M.S)

Abstract

Human, Humanity and Humanism has embellished with a moral philosophy, kindness and apparently associated with human nature. Humanism inliterature traces the origin of Humanlife, instinct adhered values and way ofliving, killing instinct in struggling of social sphere. The Society in Modern India, especially, rural part speaks more about .Human being and its bygone history. In India, society is perplexed to go round in a circle with in circle of exploitation, religious outreaches, economic overburdened. To escape from these condition of society can be accessible through the moral approach and attitude of one's who have possesses the humanitarian philosophy. Humanism in Annabhau sathe's writing puts alight on 'live andletlive' doctrine. His Monumental creation 'Fakira' - a picaresque novel, Historical novel was awarded with "Excellent Novel' by Maharashtra government in 1961. His another well -popularized novel in Marathi 'Varnecha Wagh' is crucially studied here. This research paper aims to establish humanism perspectives in the view of egalitarian Annabhau's Fakira and Sattu Bhosala in Varnecha Wagh. The advent of humanism appears in his monumental creation is now promising in globalized context.The faraway dream of casteless and classless society at that time is now incarnated in the form of responsible, prominent global citizenship oriented society. Where this society being free from narrow wallslike caste, creed, sect et al.

Key words: Dalit Consciousness, Sensibility, Humanism,liberty, Equality, Individual Dignity, protest, casteless society, Fakira and Varnecha Wagh.

Introduction :

Annabhau Sathe (1920-1969) was the chief exponent of Dalit consciousness and sensibility in Marathiliterature especially Dalitliterature . He has interpreted what he has seen, involved,listened, envisaged, and invigorated the characters in novelistic interpretation. Those portrayed characters are usually meet in another novel also. The round and flatness in characterization intermittently exposed their inner hidden valor and vitality, their pride and killing instinct to survive at any adverse condition, anger and protest as it appeared in his magnum opus writinglike *Fakira, Barbadyakanjari, chitra, sona, Agnidivya, varnecha Wagh*. etc. Human Being is the central crux part of his novelistic interpretation. Heloves on all the characters that they have their own attributes, features. They are rogue, blemish but their purpose ofliving is to save one another. Annabhau Sathe has proclaimed that everyone should have birth right to save and survive, sustain their existence with pride and honor.

‘***Fakira '*** **and** ***'Varnecha Wagh***

His (Annabhau Sathe) significant novel *Fakira* described and delineated as its valor and dignity with self and another. The Protagonist *Fakira* established a combat against British government and their ardent supporters, cunning villagers, poverty, impoverished social status. *Fakira* is the representation of social justice, pathfinder, Egalitarian reflection of community. Hislegendary tale makes history of economically feeble, deprived with fundamental rights but elevated with open minded, secular, casteless, creedless humanitarian people. They fade away all the evils by its sacrificing deeds in social stratalike narrowed mentality, unjust traditions and cultural practiceslike *Jogini.*

This novel is conferred to Dr. Babasaheb Ambedkar (1891-1956) crusader of untouchables who has an indefatigable writing for emancipation of Dalits. It has introduced by V. S. khandekar, well known novelist in Marathiliterature who have praised for his (Author’s) wit and brilliancy in writing. Fakira is not an individual but voice of oppressed community. The protagonist

fakira itself who have an intense anger against elite cunning village authoritieslike Uma Chougala, Bapu khot, Dada Patil. The Dalit Consciousness in novels sought to analyze a sense of gratitude, Dignity, Social sensibility among characters. Here, it would be significant to recognize the notion Dalit" and Dalit Consciousness. The Word Dalit referred to oppressed in yesterday and struggled, struggling today and forever. It has traced back in ancient Indian Scriptures and Epicslike Rigveda where we find the first reference of Caste system. This caste system made a discriminative policy among individuals, group and community also. Dalit Consciousness provokes the self – dignity, self-respect rather than insulting practices done by society on the basis of caste, creed and religion. This discriminative way ofliving, behaving, a code of conduct and treatment made it in *Manusmriti.* Gangadhar pantawane in *Asmitadarsh* writes as,

To me, Dalit is not a caste
He is a man exploited by
the social and economic
traditions of this country
He does not believe in God,
Rebirth, soul, Holy books teaching
Separatism, Fate and Heaven
Because they have made him a slave
He does believe in humanism.
Dalit is a symbol of change and revolution.

(Prasad and Gajjan- 02)

Dalit is recognized with the rejection of traditions and unveiled with changes. He has a complete belief in humanism and its relevant footprints. As it described in *Fakira (1959*) elaborates man's greatness even in stark starvation and penury in Mangwada. The Character Vishnu Pant Kulkarni encouraged them to survive by using any means. Humanitarian perspectives merely found in the words of Vishnu pant Kulkarni, 'We all are in trapped cage, we should havelive and survive at any circumstance.later, Fakira and its colleagueslooted to monk of Malvadi. At the time of being, theylooted only grains as a

remedy on starvation, even not touch to his family (Wife and Daughter) and jewelry. Humanitarian aspects aroused herein their own purpose. Thelooted grains- distribution is at the equallevel producing the feelings of secularism, feelings of democratic values and its preservation. *Fakira,* remarkably delineating the philanthropic ideas, commitment,with the chords of brotherhood imparting pleasure and sorrowful situations in a famine, impartinglooted grains from the monk of Malvadi to every family in Maharwada and Mangwada. *Fakira* and its colleagues have contributed to uplift theirlives but society inhumanly treated as *Nirvasita* .His entire combat for truth, social justice, and betterment of everyone forlonger time. The Sense of Ambedkarite philosophy appears in the courage of, *Fakira, Akaram Savala, Bhairu* and all these characters. .Dr. Babasaheb Ambedkar disclosed 'Belearn, Be Agitate, and struggle for heavenly Acts 'philosophy that sharing the welfare, betterment of its future. The humanistic aspects appeared in fakira'slast fight with British Government at the Nerla's barren part where he confined himself and its colleagues but releases to his grandpa and hisloving wife, and relatives by blood .The Equalityliberty, Fraternity are the fundamental, human values, as per the declaration in American war of Independence that evinced in the struggle of Dalits or Nirvasita's. Annabhau Sathe vividly explicit the importance ofliberty, Fraternity and sense of Equality as it appeared in John Stuart Mill's :

> Do notlay theirliberties at the feet of even a great man
> Or to trust him with powers
> Which enable him to subvert their institutions
>
> (Ambedkar, 35)

Rightly said here, our freedom has an immense value, for the sake of our needs, we don't have need tolay ourliberty at the feet of even a great man or hero otherwise he will subvert our rights and Institution. This is an alarming bell we will belearnt from *Fakira* and its revolt against British Government. Annabhau Sathe speaks the voice of Dr. Ambedkar via these characters .The significance ofliberty in society is much more rather than bread and butter. The sacrificing incidences of Fakira

inevitably suggests as;

> No man can be grateful at the cost of his honor
> no woman can be grateful at the cost of her chastity
> and no nation can be grateful at the cost of itsliberty
>
> (Ambedkar, 36)

In fact, it emphasizes the importance ofliberty when it compared to the sense of gratitude and gratefulness of great man. We should have an authority to safeguard our innate rights, honor, chastity, sagacious attitude. To the preservation of our rights and human values, the state should govern democracy, democratic principles and it can be possible with casteless society, implementation of fraternity based society. His another novel *Varnecha Wagh* is an outcry for social justice, democratic valueslikeliberty, fraternity and Equality. The Protagonist Sattu bhosala,a soldier in British Army who resigned for justice, and social equality. He had murdered choughula for an innocentlady in Mangwada. The reason behind murder is to save pregnantlady that have made him a victim of system. This discriminative system did not see who has committed mistakes? Sattu Bhosla, protagonist intensely fought against brutal realities of the time which invariably support and rapport the injustice, false tradition, unjust treatment made by village authorities. Uma Choughula, a betrayed character who made conspiracies in the path of happy and illiterate people. It is a tale of warriorlike Birsa Munda who fight for mother and Motherland. His first action made him an enemy of British Government and Village administration. His revolt simultaneously at both ends of governing power, therefore, he goes around the circles of exploitation, atrocities on innocent villagers. The humanitarian perspectives in *Varnecha Wagh* inadvertently found in his commitment to *Fakira,* helping hand to societal being for establishing marriage institution, and savior of all in unjust regime of Government. He behaveslike 'Angry Tiger' for well-being and satisfactorylife of public. His endurable feat in freedom struggle in inner slavery and outer dependencies immeasurable. In Dalitliterature, *sattu bhosla* is a hallmark of Patriotism, vigor and vitality for glorified nation history. Today,

we need also sattu bhosla for ever- increasing hatred feelings in society, unsympathetic nature of government,

In a Shell, *Fakira* and *Varnecha Wagh* novel comprehensively structured and made as revolutionary tale of these veteran characters. Society is restraint with social justice, humanity based values and Democracy. The Caste, Creed, Sect, unjust traditions are the narrow walls and it is the disturbances in individual development and societal also. In globalized context, history will make us wise where these characters in fictional mode but shows the way of struggling and 'wounded Civilization' for upcoming generation. The relevance of ideas and ideologies prescribed in the writings of Annabhau Sathe attempted to analyses a communal harmony and strengths of unity. With great awe, Humanity is indeed, stands as a staunch advocacy for Moral and morale.

Works Cited:

- Ambedkar,B.R. Pillars of Democracy, English Yuvakbharati, MSBTPCR, Pune, 2019. P.35. Print.
- Editorial Board,lokshahir Annabhau Sathe Nivdak Vangmay. Mumbai, Maharashtra rajya sahitya ani sanskriti Mandal,1998,Print.
- Prasad, amaranth, Gajjan M.B. Dalitliterature,New Delhi. Sarup & Sons Publishers, 2007, Print.
- Wikipedia.org-
- WWW.Shaalaa.com

Language and Indian Culture Depicted in Vedic Literature

Bini Saikia
Asstt. Professor, Deptt. of Sanskrit
DHSK College

Introduction:

The Vedas are a veritable repository of knowledge. The very word *veda*, derived from the root √*vid* meaning to know, denotes the sense of wisdom. Veda compromises *saṁhitā*, *brāhmaṇa*, *āraṇyaka* and *upaniṣad*. There are four Vedas viz. *Ṛk veda*, *Sāmaveda*, *Yajurveda* and *Atharvaveda*. Each of these Vedas have their *saṁhitā*, *brāhmaṇa*, *āraṇyaka* and *upaniṣad*. But it is noteworthy that *Atharvaveda* has no *Āranyaka*. Help to proper understand the Vedas and for proper interpretation of the Vedas there are six auxiliary sciences which are known as Vedāṅgas. These are viz. *śikṣā, kalpa, vyākaraṇa, nirukta, chanda and jyotish.*

Language of the Vedas:

It is known to all that the Vedas are of divine origin as it is *apauruṣeya* which is not created by anyone. The Vedic seer of ancient time had the capability of using the same word with different meaning. Thus they were used to compile the Vedic poetry in a very highly symbolical manner. There are too many difficult Vedic words the meanings of which are not easy to understand. Moreover, Vedic words are in some extent different from Classical Sanskrit which makes the hymn poetry somewhat difficult to understand. The reason behind this is that the Vediclanguage is archaic in nature and it is a mythicallanguage. The characteristic of a mythicallanguage is that it is full of symbols, metaphors, similes, allegories, poetic, and imageries and so on. The Vedic passages as a result, are of full of hidden meanings, which cannot be grasped if one takes into account only the denotative or the popular meanings of some of the words used by the seer poets. This characteristics of the Vedic poetry has been indicated by a seer in a Ṛgvedic verse as

follows:

uta tvaḥ paśyanna dadarśa vācam/

uta tvaḥ śṛṇvan na śṛṇotyuktam//[1]

In order to be able to understand the true purport of Vedic passages will have to be able to pierce through the symbols, myths, allegories etc. used by the poet of these particular passages. The authors of the hymn poetry are known as Ṛṣis i.e. visionary seers. Seers who according to Indian tradition were endowed with extra sensory perception.[2] These seers, as it appears took the help of a mythicallanguage because they found the ordinary human vocabulary inadequate for expressing what they visualized by dint of their non-sensory perception. It is because of this nature of the Vediclanguage Bharatmuni says that it is not an ordinarylanguage i.e. *bhāṣā* but it is an *atibhāṣā*.[3] For example the word *Gau* which is used as a synonym of earth because it goes very far or because people go over it. Moreover, it is a synonym of an animal. It also means skin and phlegm and thus there are different meanings of the word *gau* used by the seers in different context in the Vedic passages.[4]

Different aspects of Indian culture depicted in the Vedicliterature

Sociallife reflected in the Vedicliterature

Caste system:

In the Ṛgvedic period, society was divided into four castes. It is generally believed that there was no caste system in the early Vedic period. The Caste system was for the first time mentioned in the *Ṛgveda*. In the *Puruṣa sūkta* of the *Ṛgveda* it is stated that the brahmanas were mouth, the ksatriya became arms, the vaisyas were thighs and the shudras were assigned to feet of the great *Puruṣa*.[5] In the *Atharvaveda* caste was not determined by birth. Caste duties were assigned on the basis of activities. On the other hand *Manu Smṛti* gives a detail description of the caste system and the duties assigned to the specific caste in the whole 10th chapter of it. Each and every castes and sub-castes formed from inter castes marriages have a specific position in society

and also have their assigned duties and rights.

Family:

Family is the nuclear of a society. Father or the elder person was the head of the family in Vedic society. It is a patriarchal type of family in Vedic society. The relation among the members of the family reflects in the *Sāmmanasya sūkta* of *Atharvaveda* where the seer Atharva praises as to maintain harmony among the family members.[6] There is a reference in this hymn where it is stated that a son should be obedient to his father, the mother should belike minded with son, wife should be speak sweet and peaceful words to her husband, brother should not be misbehaved among them and sisters should not be misbehaved each other.[7] This thought of the seer reveal in the *Atharvaveda* is an ideal of Indian joint family.

The joint endeavour of husband and wife was duly stressed to make their home an ideal one.[8] The married couple have been compared to the cakravāka pair.[9] The birth of son was highly intended by the couple. By performing puṁsavana ceremony husband assured his wife to beget a male child.[10]

Status of women:

In the Vedic society women hold a respectable position. In a householdlife women have got a high position.[11] They can take part in sacrifice along with men.like male seers we have also found female seers in the Vedas. For example we have the names of Viśwavārā, Apālā, Ghoṣā, Vāk etc. It reflects that girls were also permitted to take educationlike boys. There were women warriors who fought bravely in war.like the present society there are also references of unmarried daughter. In an *Indra sūkta ṛṣi* praise Indra to have money from him justlike unmarried daughter urge to get property as her right.[12] From this reference it can be understand that unmarried daughter has the property rights as son has. Now it becomeslaw under Hindu property right act in India. On the other hand in the *Atharvaveda* the girl remaining unmarried was called the bride of Yama.[13] It reveals the painfullife of unmarried girl.

Marriage was considered as the most important and sacred

function in the Vedic society. One has not got the references of child marriage in the Vedicliterature. On the other hand girls were allowed to select theirlife partner of their own choice. They are also permitted to perform or organize their *swayambar*.[14] Girls were got married after attaining puberty.[15] We have also references of widow marriages in the Vedic society. In the *Ṛgveda* widow was suggested to come back to familylife.[16]

After marriage as to receive extralove and care, in the *Sūryā sūkta* of the *Ṛgveda*, a new bride blessed with a prayer to be a queen to her father inlaw, be a queen to her mother inlaw, be a queen to her sister inlaw and be a queen to her brother inlaw.[17] The *Atharvaveda* also gives the status of Empress to the wife in the husband's house. [18]

Economic Life:

Agriculture and cattle rearing were the chief occupation of the Vedic Aryans. In the *Akṣa sūkta* of the *Ṛgveda* the gambler regretted for gambling for which helost his everything and suggests not playing dice instead of this agriculture is recommended to the gambler which gives sufficient wealth to enjoy alife.[19] Early Vedic Aryans also cultivated wheat, barley, millets, cotton and oilseeds. There were prayers for the abundant growth of crops and protection of crops from mischievous insects.[20] Prayers for prevention of draught and excessive rainfall are also found in the Vedas.[21]

Trade and commerce were also practiced by the Vedic people. We have references of prayers for success in trades.[22] Economic activities of the Indian were notlimited to the sale, purchase and exchange oflocal communities. It is known from the Vedicliterature that the Indians undertooklong journeys to promote trade and commerce.[23]

Some other means oflivelihood also found in the Vedic society. Among them we have got references of physician, chariot maker, weaver, blacksmith etc.

Food:

The Vedic people used to eat barley, butter, fruit, milk and

milk products. In the *Ṛgveda* there are many references where barley has been mentioned. In the *Atharvaveda* there are the references of barley, rice, oilseed etc. [24]

Social Values:

Ancient Indian society was very much rich for representing social values. It is said in the Upaniṣads- *atithi devo bhava, satyam vada, dharmam cara*. It is stated in Vedicliterature that human beings are the best of all creatures.[25] There is no discrimination among mankind. All men are the sons of one earth. In the *Śatapathabrāhamaṇa* it is said that the earth take cares of all peoplelike mother.[26] The seers called the earth as *vasudhā* for containing the wealth. She is not for the different races of men alone but for other creatures also.[27] She is called *viśwambharā* as she is representative of the universe. She is one enveloped by the sky or space and causing the force of gravitation. She is described as the geothermal field. The hymn talks about different energies which are generated from the form of the earth. This very hymn recognizes the earth as the mother and human as her sons.[28] Hence as offspring of mother earth, it becomes a duty of human not only help her for sustaining but also to protect and enrich her. Therefore, it should be obeyed to practice truth, righteousness and austerity in their day to daylife.

There are so many references in the Vedas where one has got the social values oflove, care, respect for each other, equal rights tolive in the same community etc. *Īśopaniṣad* always remind us to enjoylife after sacrifice for others.[29]

Hell is called as a place of punishment for the evil doers. We have not found any direct reference of rebirth. But it is stated in the mantras that the departed soul of died person invoked to return from heaven or hell, hill or mountain, wherever it goes.[30] It is thus can be believed that the concept of rebirth can be traced to the *Ṛgveda* which is developed among the Aryans inlater age. It is said in the *Ṛgveda* that the soul of died person moves according to its own power of manifestation. The origin of funeral rites is traced to the *Ṛgveda*. The *Ṛgveda* and *Atharvaveda* mention both burial and cremation aslegitimate methods for the disposal of the dead.[31]

In the *Ṛgveda* sin and religious merit both are calculated by the seers.[32] Concept of *Ṛta* is introduced in the Vedas for maintaining the values oflife in individually and socially which supports thelife circle morally. If one does not follow the path of *Ṛta* i.e. the cosmic order then he commits crime as indicated by the Vedas. This doctrine of Karma also traced to the *Ṛgveda*. It is regarded as crime if anyone committed offence against a benefactor, a friend, a companion, a neibour or a dumb man.[33]

In the Vedic society the marriage within blood relation is strictly restricted by the Hindu tradition. In the Yama-Yami dialogue hymn it reveals that Yama is conscious about the ethical standard of the society. When Yami with passionate words glowing with desire draws the brother Yama on tolove then Yama refuges her gently by pointing out the eternallaws of gods which forbids the union of blood relatives.[34] The dialogue between Yama-Yami is a fine artistic piece of a psychological and ethical value cast in the mould of poetic flavour.lopamudra Saṁvāda represents the conflict between the human values alone, one duty being opposed to the other.[35]

We find passages in the hymn of Urvaśī-purūravas referring to a sport of contractual marriage.[36] In this hymn Urvaśī had consented tolive with the mortal King Purūravas on certain condition which represents a modernlife style.

Environmental Ethics in the Vedas

Since the time immemorial man knew the importance of nature. Vedic people knew if we want to progress further we would require the things of natural world. So the sages used to relate the nature to god and then gradually it became a practice. Thus Vedic gods are recognized personification of different powers or agents of nature.[37] Godslike Agni, Indra or Vāyu and Sūrya contribute everything which is necessary for sustaininglife on earth. This communityliving on the earth is capable of sustaining itself without depending on any external source of matter and energy, barring the sun which belongs to heavenly region.

In this *Ṛgveda* it is clearly stated that when man follows as

straight path of action, then and then only the environment of the *pṛthvî* remains pure and pleasant.[38] In the *Ṛgveda* there is a hymn called *Araṇyānî sūkta* where the deity of forest is addressed.[39] It is instructed that forests should not be destroyed.[40] It is also instructed that if one wants to enjoy the fruits and happiness oflife for thousand and hundred years then one has to take up systematic planting of trees. There is an another hymn, called *Oṣadhi sūkta*, in the *Ṛgveda* where seer addresses the medicinal plants and vegetables as mother.[41] Animal and birds are part of nature and environment. *Ṛgveda* classifies them in three groups, viz., sky animalslike birds, forest animals and animals in human habitation.[42] *Yajurveda* 13.37 states that no persons should kill animals as they are helpful to all and in the *Yajurveda* 13.49 it is stated that those who kill or do harm such animals which useful in agriculture must be punished. It also mentions about plants and animals, the ill effects of cutting of trees, the poisoning of the atmosphere and also discusses about energy relations of the global ecosystem.

Though there is no formal environmental movement in Vedic India yet Vedic tradition has helped sustain our ecology for centuries. The current activities such as unregulated and harmful mining and other such activities are clearly against these tenets expressed in the Bhūmi hymn. This hymn of the earth ends with a prayer asking the mother earth to stabilizelife and fill it with grace and splendor. Thus the earth has always been described in the Vedicliterature as the mother who nourishes and sustains the human race and all theliving beings.

Furthermore, *Atharvaveda* warned not to add toxic substances into water bodies as it may cause unhealthy environment. This is very relevant to the present context of pollution of rivers and other water bodies for which ecological diseases occurred and it is the most experiencing subject of modern civilization. *Yajurveda* also mentions that the oceans are treasure of wealth and that is why they should be protected.[43] Again it is instructed not to poison water, not to harm or cut the trees, not to disturb the sky and not to poison the atmosphere.[44] Thus in the Vedic India protection and cleaning up of environment was the essence of Vedic culture.

Conclusion:

Though the Vedas and Vedāṅgas are primarily religious in content, but they embody alarge number of references related to the aspects of Indian culture. Vedic traditions teach us tolive in peace and harmony with nature and surroundings. As we all are creatures of one creator therefore, we don't have any right to herm anybody and anything. Thus the traditional thought of mankind is the gift of Vedic culture. Vedic seers recite the following verse which reveals the most civilized culture depicted in the Vedic society:

dyau śāntirantarikṣaḥ śāntiḥ pṛthivî
śāntirāpaḥ śāntiḥ roṣadhayaḥ śāntiḥl
vanaspatayaḥ śāntirviśve devāḥ
śāntibrahmā śāntiḥ sarvaḥ śāntiḥ
śāntireva śāntiḥ sā mā śāntiredhill
om śāntiḥ śāntiḥ śāntiḥ [45]

"May sky be peaceful, May atmosphere be peaceful, May Earth be peaceful, May waters be peaceful, May medicinal herbs be peaceful, May plants be peaceful, May all thelearned persons be peaceful, May God and the Vedas be peaceful, May all the objects be peaceful, May peace itself be peaceful, May that peace come unto me."

Notes and References:

1. R.V., X.71.4
2. *Nirukta*, 2.11
3. *Nātyaśāstra of Bharatmuni,* 17.28.2
4. *Nirukta,* 2.5,6
5. R.V., X.90.12
6. A.V., 3.30
7. *ibid*., 3.30.2,3
8. *ibid*., 12.3.39
9. *ibid*., 14.2.64
10. *ibid*., 3.23.3
11. *jāyedastaṁ maghavanasedu yoniḥ*, R.V. 3.53.4
12. *ibid*., 2.17.7
13. A.V., 1.14.2
14. R.V., X.27.11,12
15. R.V., X.85.9

16. R.V., X.18.8
17. R.V., X.85.46
18. A.V., 14.1.44
19. R.V., X.34.13
20. A.V., 6.50
21. A.V., 4.15
22. A.V., 3.15
23. A.V., 3.15.4
24. A.V., 6.140.2
25. Ś.B., 3.8.4.1
26. Ś.B., 5.3.1.4
27. A.V., 12.1.12
28. *ibid*
29. Īś., 1
30. R.V., I.164
31. R.V., A.V.,
32. R.V. VII. 86.6, VIII.84.6
33. R.V., V.85.7
34. R.V., X.10
35. R.V., I.179
36. R.V., X.95
37. *Nirukta*, 2.16
38. R.V., I.90
39. R.V., X.146
40. R.V., X.97.2
41. R.V., X.97
42. R.V.X.15.14, X.16.1,6; A.V.XVIII.4
43. Y.V., 6.33
44. Y.V., 5.43, 13.47
45. Y.V., 36.17

Bibliography:-

1. Arya, R.P. and Joshi, K.l. (ed.) *Ṛgveda Saṃhitā*, Vol. 1,2,3,4, Delhi, 2001
2. Bora, M., *Facets of Vedic Religion & Culture*, Delhi, 2009
3. Chand, D., *The Yajur Veda*, Delhi, 1959
4. Chaubey, B.B., *Treatment of Nature in the Rigveda*, Hoshiarpur, 1970
5. Griffith, *The hymns of the Rigveda*, Delhi, 1986
6. Mahanta, K., *Atharvaveda*, Guwahati, 2012
7. Sarup,l., *The Nighantu and the Nirukta of Sri Yaskacharya*, Delhi, 2009

वर्तमान समय में योग और आयुर्वेद की उपयोगिता तथा भारतीय संस्कृति

चयनिका गोगोई

सारांश

भारतीय संस्कृति दुनियां की सबसे पुरानी और सबसे रंगीन सभ्यताओं में से एक है। देखा जाये अतीत से लेकर वर्तमान तक इनका अध्ययन किया गया हर विषय में नये विचार परिलक्षित होते हैं। इस संस्कृति में कई प्रकार की कलाएँ और शिल्प हैं। इन सबकी मुख्य भाषा संस्कृत है। इसलिए प्राचीन सभ्यताओं के अध्ययन के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक होता है। संस्कृत और संस्कृति पर आधारित विषयों में से एक विषय योग तथा आयुर्वेद है।

योग भारतीय दर्शनों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है और यह शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक विकास के लिए एक मार्ग है। योग का उद्देश्य आत्मा को परमात्मा के साथ एकता प्राप्त कराना है। पतंजलि के 'योगसूत्र' योग के सिद्धांतों का महत्वपूर्ण स्रोत है। आयुर्वेद एक प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति है जो स्वास्थ्य और रोग के इलाज में प्रयुक्त होती है। यह भौतिक, मानसिक, और आध्यात्मिक स्वास्थ्य की सांझा दृष्टिकोण रखता है और प्राकृतिक उपचार और आहार के माध्यम से रोगों के इलाज में मदद करता है। चरक संहिता और सुश्रुत संहिता आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथ हैं। योग और आयुर्वेद दोनों व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को सुधारने के लिए महत्वपूर्ण उपाय प्रदान करते हैं और भारतीय दर्शनों के गहरे तत्त्वों का मार्ग है। हालाँकि योग और आयुर्वेद आजकल व्यापक रूप से प्रचलित हैं, लेकिन उनकी उत्पत्ति पौराणिक है। पुरानी कलाओं और संस्कृतियों के रंगों में रची इन दोनों विषय का ज्ञान लाभ करने के लिये हर व्यक्ति में पुरानी भावनाओं और ज्ञान का होना जरूरी है। क्योंकि इसके

आधार पर ही योग और आयुर्वेद को नए रूप में सीखा जा सकता है। अत: इस विषय पर भारतीय संस्कृति को मुख्य केन्द्र मानकर योग एवं आयुर्वेद की वर्तमान उपयोगिता पर चर्चा किया जाएगा।

1.01 प्रस्तावना

भारत की संस्कृति बहु आयामी है जिसमें भारत का महान इतिहास, विलक्षण भूगोल और सिन्धु घाटी की सभ्यता के दौरान बनी और आगे चलकर वैदिक युग में विकसित हुई, बौद्ध धर्म एवं स्वर्ण युग की शुरुआत और उसके अस्तगमन के साथ फली-फूली अपनी खुद की प्राचीन विरासत शामिल हैं। इसके साथ ही पड़ोसी देशों के रिवाज़, परम्पराओं और विचारों का भी इसमें समावेश है। पिछली पाँच सहस्राब्दियों से अधिक समय से भारत के रीति-रिवाज़, भाषाएँ, प्रथाएँ और परम्पराएँ इसके एक-दूसरे से परस्पर सम्बंधों में महान विविधताओं का एक अद्वितीय उदाहरण देती हैं। भारत कई धार्मिक प्रणालियों, जैसे कि सनातन धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म और सिख धर्म, सिंधी धर्म आदि धर्मों का जनक है। विभिन्न युगों के दौरान भारतीय दर्शन का पूरे विश्व विशेषकर पूर्व में काफी प्रभाव पड़ा है। वैदिक काल के बाद, पिछले २५०० सालों में दर्शन के कई विभिन्न अनुयायी वर्ग जैसे कि- बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म के कई सम्प्रदाय विकसित हुए हैं। हालांकि, भारत ने भी तर्कवाद, बुद्धिवाद (Rationalism), विज्ञान, योग, आयुर्वेद,गणित, भौतिकवाद (Materialism), नास्तिकता, अज्ञेयवाद (Agnosticism) आदि की कुछ सबसे पुरानी और सबसे प्रभावशाली धर्मनिरपेक्ष परम्पराओं को जन्म दिया है जो कई बार इस वजह से अनदेखी कर दी जाती है क्योंकि भारत के बारे में एक लोकप्रिय धारणा ये है कि एक 'रहस्यमय' देश है।

2.00 भारतीय संस्कृति में योग

योग, आध्यात्मिक भारत को जानने और समझने का एक तरीका है। इसके साथ ही योग भारत की संस्कृति और विरासत से भी जुड़ा हुआ है।

संस्कृत में, योग का अर्थ है 'एकजुट होना' योग स्वस्थ जीवन जीने के तरीके का वर्णन करता है। योग में ध्यान लगाने से मन अनुशासित होता है। योग से शरीर का उचित विकास होता है और यह सुदृढ़ होता है। योग के अनुसार, यह वास्तव में हमारे स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालने वाला शरीर का तंत्रिका तंत्र है। तंत्रिका तंत्र दैनिक योग करने से शुद्ध (मजबूत) होता है और इस प्रकार योग हमारे शरीर को स्वस्थ और मजबूत बनाता है।

मानव सभ्यता जितनी पुरानी है, उतनी ही पुरानी योग की उत्पत्ति मानी जाती है, लेकिन इस तथ्य को साबित करने का कोई ठोस सबूत मौजूद नहीं है। इस क्षेत्र में व्यापक शोध के बावजूद भी, योग की उत्पत्ति के संबंध में कोई ठोस परिणाम प्राप्त नहीं हुए हैं। ऐसा माना जाता है कि भारत में योग की उत्पत्ति लगभग 5000 साल पूर्व हुई थी। बहुत से पश्चिमी विद्वानों का मानना था कि योग की उत्पत्ति 5000 साल पूर्व नहीं, बल्कि बुद्ध (लगभग 500 ईसा पूर्व) के समय में हुई थी। सिंधु घाटी की सबसे प्राचीन सभ्यता की खुदाई के दौरान, बहुत ही आश्चर्यजनक तथ्य उभरकर सामने आए। खुदाई के दौरान, इस सभ्यता के अस्तित्व वाले साबुन के पत्थर (सोपस्टोन) पर आसन की मुद्रा में बैठे योगी के चित्र उत्कीर्ण मिले हैं। वैदिक योग- वेदों के अनुसार, भारत में योग की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई है। सबसे प्राचीन योगिक शिक्षाएँ वैदिक योग या प्राचीन योग के नाम से मशहूर हैं और इसे चार वेदों– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में देखा जा सकता है। वैदिक योग से जुड़े अनुष्ठान और समारोह मन को तरोताजा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसलिए, उस समय लोगों ने वैदिक योग को जीवन के बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू के रूप में अपनाया था। योग को अदृश्य दुनिया से जुड़ने और अपने आप को किसी के प्रति समर्पित करने का एक तरीका माना जाता है। उस समय समर्पण का उपयोग करके ही एक बात पर लंबे समय तक ध्यान

केंद्रित किया जाता था। इसलिए, वैदिक योग को योग की जड़ माना जाता है। संस्कृत में ऋषि वैदिक योग के गुरू 'सिद्ध पुरूष' के नाम से मशहूर थे।

2.01 प्रारम्भिक-शास्त्रीय योग

वैदिक योग के बाद प्रारम्भिक-शास्त्रीय योग का युग आया और इसे उपनिषदों के निर्माण के रूप में चिन्हित किया गया था। इसकी अवधि लगभग 2,000 वर्षों की थी और यह योग दूसरी शताब्दी तक चला था। इस योग के कई रूप हैं, लेकिन इस प्रारंभिक योग के अधिकांश योग, वैदिक योग के समान ही हैं।

उपनिषद् के तीन विषय– निर्णायक सत्य (ब्राह्मण), स्व अनुभवातीत (आत्मा) और इन दोनों के बीच के संबंध को, वेदों में समझाया गया है और इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि योग की उत्पत्ति उपनिषद् के साथ हुई है। हिंदुओं की एक अत्यंत महत्वपूर्ण पवित्र पुस्तक भगवद्-गीता (भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों का संग्रह), इस अवधि के उत्कृष्ट योग धर्मग्रंथों में से एक है। इसके अलावा रामायण और महाभारत (भगवद्-गीता की तरह ही) में भी योग का समावेशन था। इस समय वाले योग में शरीर और मन को अपने वश में करके ध्यान केन्द्रित करने की कई तकनीक और आत्म यथार्थ की खोज करने के लिए दिव्य शक्तियाँ मौजूद थीं।

इस अवधि का योग हिंदू धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म से भी जुड़ा हुआ है क्योंकि छठी शताब्दी ईसापूर्व में भगवान बुद्ध ने ध्यान के महत्व पर शिक्षण देना शुरू कर दिया था।

2.02 शास्त्रीय योग

योगसूत्र में शास्त्रीय योग का प्रमाणीकरण किया गया था और पतंजलि ने दूसरी शताब्दी के आसपास शास्त्रीय योग के निर्माण के प्रतीक का व्याख्यान किया था। सूत्र शब्द का अर्थ 'धागा' होता है, लेकिन यहाँ

पर इसका अर्थ 'स्मृति का धागा' है, जिसमें पतंजलि के छात्र पतंजलि के ज्ञान और बुद्धिमत्ता को बरकरार रखते हैं। 195 वचन या सूत्र योग के आठ अंग- यम (नैतिक मूल्य), नियम (शुद्धता का व्यक्तिगत रूप से पालन), आसन (शारीरिक व्यायाम), प्रत्याहार (ध्यान के साधन की रचना), धारणा (एकाग्रता), ध्यान (चिंतन) और समाधि (विमुक्ति) हैं।

पतंजलि का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति का निर्माण तत्त्व (प्रकृति) और आत्मा (पुरुष) से मिलकर होता है। योग के माध्यम से, इन दोनों को पृथक करके आत्मा का शुद्ध रूप में नवीनीकरण किया जा सकता है।

2.03 पूर्व-शास्त्रीय योग

पूर्व शास्त्रीय योग का ध्यान वर्तमान पर केंद्रित था। इसमें पतंजलि योग-सूत्र के बाद, अस्तित्व में आने वाले योग के सभी अनुभाग निहित होते हैं। शास्त्रीय योग से विपरीत, पूर्व शास्त्रीय योग में सब कुछ कठोर एकाग्रता पर केंद्रित होता है। इस अवधि के दौरान योग ने एक दिलचस्प मोड़ ले लिया था, क्योंकि इस अवधि के योग शरीर के अंदर छिपी क्षमता की जाँच करने में सक्षम थे। इसलिए, शरीर का नवीनीकरण करने के लिए योग गुरुओं द्वारा साधनाओं की एक प्रणाली का निर्माण किया गया था। इससे परिणामस्वरूप वर्तमान योग के एक शौकिया प्रारूप हठ-योग की रचना हुई।

2.04 आधुनिक योग

माना जाता है कि वर्ष 1893 में शिकागो में आयोजित धर्म संसद में आधुनिक योग की उत्पत्ति हुई थी। स्वामी विवेकानंद ने धर्म संसद में, अमेरिकी जनता पर स्थायित्व से परिपूर्ण प्रभाव डाला था। उसके फलस्वरूप वह योग और वेदांत की ओर छात्रों को आकर्षित करने में काफी सफल हुए। इनके बाद, दूसरे योगगुरू परमहंस योगानन्द को माना जाता है। वर्तमान समय में, पतंजली योग पीठ ट्रस्ट के स्वामी रामदेव ने भारत के प्रत्येक घर में और यहाँ तक विदेशों में भी योग का प्रसार करने

में सफलता प्राप्त की है।

गुजरात के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी ने गुजरात के अहमदाबाद में, लकुलीश योग विश्वविद्यालय में उद्घाटन के साथ, योग को लोगों का अभिन्न अंग मानते हुए इसे अपनाने पर जोर दिया। यह स्व-वित्तपोषित गैर-सरकारी विश्वविद्यालय अहमदाबाद के जिले सुरेंद्रनगर में लाइफ मिशन ट्रस्ट द्वारा स्थापित किया गया है। यहाँ अष्टांग योग, कर्म, ज्ञान, भक्तियोग, दर्शन, मनोविज्ञान, शरीर रचना विज्ञान, आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा में पढ़ाई पूरी करने के बाद छात्रों को तीन वर्ष की डिग्री से सम्मानित किया जाएगा।

योग वास्तव में भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न हिस्सा है और इतिहास के साथ-साथ योग में भी परिवर्तन देखने को मिले हैं। तो आइए यथार्थ में भारत का हिस्सा बनें और शरीर और आत्मा के सुधार के लिए योग को अपनाएं।

2.05 जीवन में योग का महत्व (Importance of Yoga in Life)

क्या आपको पता है हर साल 21 जून को अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस मनाया जाता है। योग एक आध्यात्मिक शब्द है। योग कोई धर्म नहीं है, यह जीवन जीने का एक तरीका है जिसका एक ही उद्देश्य है स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन। योग शब्द का शाब्दिक अर्थ है जुड़ना अर्थात् हमारा जुड़ाव ब्रह्माण्ड से होना। मनुष्य एक शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्राणी है, योग के माध्यम से मनुष्य के शरीर और मन में सामंजस्य स्थापित होता है। वैसे तो हमारे पास शरीर को स्वस्थ रखने के अनेक तरीके है जैसे सुबह टहलने जाना, दौड़ना, जिम में जाकर व्यायाम करना आदि। इन सबकी तरह योग भी शरीर को स्वस्थ और ऊर्जावान रखने के लिए किया जाता है योग कुछ मायनों में भिन्न है। योग शरीर और मन को स्वस्थ रखने के लिए एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। आयुर्वेद एक प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति है। बहुत से ऐसे रोग और मानसिक विकार हो सकते हैं जिस पर योग कंट्रोल

न भी कर पाए तो आयुर्वेद उसका विकल्प बन जाता है और बहुत से ऐसे रोग भी होते हैं जिसे आयुर्वेद न भी कंट्रोल कर पाए तो योग उसका विकल्प बन जाता है।

3.00 आयुर्वेद

आयुर्वेद शब्द की उत्पत्ति आयु और वेद से हुई है। आयु का अर्थ है- जीवन, वेद का अर्थ है- विज्ञान या ज्ञान अर्थात् आयुर्वेद का अर्थ है जीवन का विज्ञान।

आयुर्वेद सभी जीवित चीजों, मानव और गैर-मानवहेतु लाभकारी है। यह तीन मुख्य शाखाओं में विभाजित है-

- नर आयुर्वेद: मानव जीवन से संबंधित।
- सत्व आयुर्वेद: पशु जीवन और उसके रोगों से निपटना।
- वृक्ष आयुर्वेद: पौधे के जीवन, उसके विकास और रोगों से निपटना।

आयुर्वेद न केवल चिकित्सा की एक प्रणाली है बल्कि पूर्ण सकारात्मक स्वास्थ्य और आध्यात्मिक प्राप्ति के लिये जीवन का एक तरीका भी है।

धर्मशास्त्र में प्रतिपादित प्रायश्चित-विमर्श

दीपा कुशवाहा
शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग
डॉ. भीमराव अंबेडकर विश्वविद्यालय, आगरा
ईमेल- kushwahadeepa722@gmail.com

भारतीय वाङ्मय में सर्वाधिक चर्चित एवं सुप्रसिद्ध महत्वपूर्ण धर्म शास्त्र स्मृतियों को कहा गया है। जिसमें से सर्वोत्कृष्ट मनुस्मृति है। जिसे मनुसंहिता, मानव धर्मशास्त्र तथा मानवशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। प्रसन्नता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है जिससे मानव का संपूर्ण हितार्थ समाहित होता है यही जीवन का मूलमंत्र भी है इसका समर्थन हमारे विद्वानों ने भी किया है।

सर्वे भवंतु सुखिन: सर्वे संतु निरामया:।

सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद् दुख भागभवेत्।।

इस युक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीय संस्कृति का प्रथम उद्देश्य सभी के हित के लिए है। धर्म शास्त्रों में भी हमारे जीवन के उद्देश्य को पूर्ण करने के सद्मार्ग अपनाने पर अत्यधिक बल दिया गया है। इसका कारण यह है व्यक्ति जब सद्मार्ग, नीति, शासन व्यवस्थाओं के अनुरूप कार्य करेगा तो वह नीति मार्ग से नही भटकेगा, न ही किसी पाप कर्म में लिप्त होगा। हमारी स्मृतियों में पाप कर्म के उपरांत मिलने वाले दंड व प्रायश्चित दोनो का ही विशद वर्णन किया गया है। जिससे हम अपने अधिकारों व उनके हनन के उपरांत दंड को भली भांति समझ सकते है।

समाज के परिवर्तनशील गुण के कारण वर्तमान समय में पूर्व की अपेक्षा अनेकश: परिवर्तन हो रहे है, आज हमारी न्याय व्यवस्था पूर्णतय: परिवर्तित हो चुकी है। पूर्व की दण्ड व न्याय व्यवस्था दोषी को सुधारने व

उसके हितार्थ दी जाती थी, राजा संपूर्ण प्रजा को न्याय देने का अधिकारी होता था परंतु आज का समय पाप कर्मों से आच्छादित हो चुका है। ऐसे समय में हमें धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रासंगिकता को ही सर्वमान्य करना चाहिए। पूर्व दंड व्यवस्था व प्रायश्चित तथा वर्तमान दण्ड व्यवस्था में परस्पर विषमताएं तो हैं परंतु यह विषमता दोनों के मध्य समय की व्यापकता, अपराध की अधिकता, अत्यधिक अपराधिक प्रवृत्तियों की बहुलता तथा सामाजिक व नैतिक मूल्य में परिवर्तन के कारण ही उत्पन्न हुई है। इन दोनों ही व्यवस्थाओं में दोषी को सजा देकर सुधारना अर्थात् दोषी का प्रायश्चित कर स्वयं के दोष को दूर करना ही मुख्य उद्देश्य है जिससे पाप को नष्ट किया जा सकता है। अतः विषय की प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए धर्मशास्त्र में प्रतिपादित प्रायश्चित विमर्श का सूक्ष्म विवेचन करना नितांत आवश्यक है। इससे हम अपने आने वाले वर्तमान समय को दोष रहित बनाने की चेष्टा कर सकेंगे। हमारे धर्मशास्त्रों में भी यही उल्लेख प्राप्त होता है जो मनुष्य पाप कर्म, हत्या, चोरी, षड्यंत्र इत्यादि विविध दोषों में संलिप्त होता है उन्हें सर्वप्रथम एक अवसर प्रदान किया जाए जिससे वह स्वयं के दोष को सुधार कर प्रायश्चित करें सत्मार्ग पर अग्रसर हो। याज्ञवल्वय स्मृति में दण्डविधान व प्रायश्चित दोनों ही बिंदुओं को अत्यंत सूक्ष्म माध्यम से वर्णित किया गया है। अतः हम सभी को इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

कूट शब्द- धर्मशास्त्र, भारतीय संस्कृति, प्रायश्चित, न्याय व्यवस्था, नैतिकमूल्य।

मनुष्य के ह्रदय में दो प्रकार की **प्रवृत्तियां** विद्यमान होती है- **दैवीय, आसुरी**। दैवीय प्रवृत्ति के सुसुप्तावस्था में प्रवृत्त होने के उपरान्त आसुरी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। जिस कारण मनुष्य **चोरी, हत्या, पाप, पर स्त्री गमन** इत्यादि पाप कर्मों में संलिप्त होने लगता है। जिससे उसका भाग्य

गर्त में चला जाता है। ऐसा न हो तथा मानव आपसी द्वेष भावना न रखे इसका उपाय हमारे धर्मशास्त्र ग्रन्थों में वर्णित किया गया है। धर्मशास्त्र ग्रन्थों जैसे- **मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति** में मानव जीवन को नियन्त्रित तथा नियमित करने की विधि तथा निषेध दोनों का विशद विवेचन किया गया है। संस्कृत साहित्य में **18 स्मृतिग्रन्थों** (धर्मशास्त्र ग्रन्थ) का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति ही उपलब्ध है। धर्मशास्त्र के रूप में मनुस्मृति की ही सर्वश्रेष्ठ मान्यता है- **धर्मशास्त्र तु वै स्मृतिः। (2/10 मनुस्मृति)**

प्रायश्चित शब्द अत्यन्त प्राचीन है, जिसका प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। जैसे- **श्रोतसूत्र, वेद, उपनिषद् व धर्मशास्त्र** इसके उदाहरण है जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

एष वै प्रजापतिः सर्वं करोति योश्वमेधेन यजते

सर्व एव भवति सर्वस्य वा एषा प्रायश्चितिः सर्वस्य भेषजम इति।।[1]

मनुस्मृति सर्वश्रेष्ठ धर्मशास्त्र ग्रन्थ है, कभी-कभी मनुष्य कुछ प्रतिकूल परिस्थितियों में फँसकर पाप कर्म में अग्रसर हो जाता है, दुर्भाग्यवश वह इतना संलिप्त होता जाता है कि एक अपराधी बन जाता है। कालान्तर में जब उसे अपराध बोध होता है तो वह पश्चाताप की अग्नि में जलने लगता है। इन सभी परिस्थितियों पर गम्भीरता से मनोवैज्ञानिक चिन्तन धर्मशास्त्रकारों ने दोषी मनुष्यों को सुधारने हेतु पाप विमुख करने के लिए कुछ विस्तृत नियमों का दिशा निर्देशन किया है जिसे शुद्धि, परिमार्जन या **प्रायश्चित** की संज्ञा दी गयी है। शुद्धिकरण व परिमार्जन प्रक्रिया के माध्यम से पापी व अपराधी मनुष्य को शुद्ध करने के उपरान्त समाज में सम्मिलित किया जाता है। मनुस्मृति में शुद्धि प्रक्रिया व प्रेत शुद्धि व द्रव्य शुद्धि का

---

1. तैत्तिरीयसंहिता 5/3/12

विस्तृत वर्णन किया गया है-

प्रेतशुद्धिं प्रवच्यामि प्रत्यशुद्धि तथैव च।

चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वश:।। [1]

जैमिनीसूत्र[2] के भाष्यकार **शबरजी** ने भी प्रायश्चित पर अपना मत प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार प्राय़श्चित को हम दो प्रकार से वर्णित कर सकते हैं-

1. यज्ञादि अनुष्ठान कार्य के आयोजन में अकारण किसी विघ्न का उत्पन्न हो जाना।
2. अकारण निषिद्ध आचरण भी पाप दोष का कारण होता है जिसके निवारण हेतु हमें प्रायश्चित करना पड़ता है। अर्थात् तात्पर्य यह है कि जब यज्ञादि अनुष्ठान कार्य में भी दोष विघ्न या कोई विधान आ जाता है तो वैदिक अनुष्ठान के माध्यम से यजमान, यज्ञकर्त्ता प्रायश्चित करके अपने दोष, विघ्न का निवारण कर लेते हैं।

वैदिक काल में प्राय: पाप कर्म, हिंसा, परस्त्री गमन इत्यादि अनेकों अपराध होते थे जिस कारण दलित वर्ग स्वयं को दोषी समझते थे। निम्न वर्ग के लोगों का दमन अत्यन्त सरलता से संभव था, क्योंकि उनके बचाव के लिए उच्च वर्ग के लोग उपस्थित नहीं होते थे। परन्तु वर्तमान समय में परिस्थितियां बदल रही है अब निम्न वर्ग दबा, कुचला, असहाय नहीं है बल्कि वह अपने अधिकार के लिए सजग है। तत्पश्चात् अब हम प्रायश्चित शब्द के प्रयोग को भली भाँति जान लेते हैं। इसका उपयोग वेदों में **अथर्ववेद, पारस्करगृहसूत्र** तथा **शतपथ ब्राह्मण** में प्रायश्चित शब्द आया है। **वैदिक साहित्य** में प्रायश्चित के लिए **प्रायश्चित्ति, प्रायश्चित्तञ्च** पद प्रयुक्त

---

[1]. मनुस्मृति 5/57

[2]. जैमिनीयसूत्रभाष्यम् भूमिका

हुआ है, जिसका प्रमुख उद्देश्य पापों से निवारण करना है। बड़े-बड़े विद्वत्जनों ने प्रायश्चित शब्द का प्रयोग अपने व्याख्यान में किया है। सभी की जानकारी व वर्णन प्राय: संभव नहीं है परन्तु प्रमुख उदाहरणों के माध्यम से प्रायश्चित को ज्ञापित करने का प्रयत्न किया गया है। **गौतमधर्म सूत्र**[1] में भी प्रायश्चित के विषय में वर्णन किया है- जिसे चित्त के द्वारा तथा तप के माध्यम से पूर्ण किया जाये वह प्रायश्चित है-

प्रायो नाम तप: प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।

तपेनिश्चयसंयोगात्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।

ऐसे ही अनगिनत विद्वानों ने अपने मतानुसार तर्कपूर्ण माध्यम से प्रायश्चित की अवधारणाएं प्रस्तुत की है। सभी अवधारणाओं का अवलोकन करने के उपरान्त व प्रायश्चित शब्द को परिभाषित करने हेतु मैं अपने शोध पत्र में तीन प्रकार के पापों का उल्लेख प्रस्तुत कर रहीं हूँ जिनका प्रायश्चित विमर्श मेरे द्वारा विचारणीय है।

1. मदिरापान
2. चोरी
3. ब्रह्महत्या

1. मदिरापान- मदिरापान भी एक प्रकार के पाप की श्रेणी के अन्तर्गत आता है। क्योंकि मदिरापान करने के उपरान्त मनुष्य अपना विवेक खो देता है जिससे उसे स्वयं के द्वारा किये गये कृत्य भी सही ज्ञात होते है। हमारे धर्म शास्त्र ग्रन्थों में मदिरापान को महापातक के अन्तर्गत माना जाता है। **ऋग्वेद** में सर्वप्रथम मदिरापान का उल्लेख प्राप्त होता है वहाँ सुरा शब्द का सम्बोधन किया गया है जिसे द्युतक्रीडा भी कहा गया

---

[1]. गौतमधर्म सूत्र 11.16

है। इतना ही नहीं मदिरापान को महापातक कहकर पाप की स्थिति दर्शायी गयी है-

युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरन्धिम।

कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णा शतं कुम्भां असिञ्चतं सुराया:।। [1]

इतना ही नहीं हमारे वेदों के साथ-साथ ब्राम्हण में भी मदिरापान को महापातक की संज्ञा प्रदान की गयी है।

प्रायश्चित- हमारे पूर्वज, विद्वतजनों का मानना है कि जब मनुष्य कोई पाप कर्म व हिंसक कार्य करता है तो उसका दण्ड वह इसी मनुष्य योनि में भुगतना पड़ता है परन्तु हमारे धर्मशास्त्रों में वर्णित है कि यदि मनुष्य अपने जीवन में एक बार भी मदिरापान जैसा महापाप करता है तो वह इस पाप से मुक्ति मरणोपरान्त ही प्राप्त कर सकता है अथवा नहीं।

इसके अतिरिक्त हमारी स्मृति ग्रन्थों में भी मदिरापान व अन्य पापो का वर्णन प्राप्त होता है। **याज्ञवल्क्यस्मृति** में मदिरापान करते समय अन्य पेय पदार्थ जैसे- **घी, दूध, गौमूत्र** इत्यादि में से किसी पदार्थ का सेवन करता है तो वह उसी क्षण मरणासन्न हो जाता है जिससे उसके शुद्ध होने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ऐसा वर्णन हमें प्राप्त होता है। **बौधायन सूत्रकार** में भी इस सन्दर्भ में भी अपनी सहमति प्रस्तुति की है- मदिरापान करने वाले पापी व्यक्ति को **कृच्छ्र** नामक वृत्त का अनुष्ठान तीन मास तक निरन्तर करना होता है तदोपरान्त वह शुद्ध हो जाएगा।

2.चोरी- चोरी अर्थात् जो वस्तु हमारी नहीं है किसी अन्य से उसकी सहमति के विरुद्ध चुपचाप ले लेना इस कार्य की निंदा प्राचीन काल से ही होती आ रही है। किसी वस्तु विशेष के स्वामी अर्थात् अधिकारी की अनुमति के विरुद्ध हमारे द्वारा उस वस्तु को ग्रहण कर लेना निंदनीय कार्य

---

[1]. ऋग्वेदसंहिता 1.116.7

है। **जैसे-** फल चोरी करना, बगीचे से पुष्प चुराना, पेड़ों से लकड़ी चुराना इत्यादि। सभी चोरी के अन्तर्गत आते है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में पाप करने वाला तथा पाप करने हेतु प्रोत्साहित करने वाला दोनों ही समान रुप से पाप का भागीदार होते हैं। हमारे सबसे **प्राचीन वेद** ऋग्वेद में पातक सम्बन्धी धारणा ऋत की धारणा से ओत प्रोत है।[1] तथा **हिन्दू** धर्मशास्त्रों में पाप या पातक की विविध विवेचना प्राप्त होती है, साथ ही आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार पतनीय पाप निम्नवत् है- **भ्रूण हत्या, सुरापान, सोने की चोरी, गुरु व्यभिचार, परस्त्री गमन, ब्रह्महत्या, स्त्री हत्या**[2] इत्यादि। इतना ही नहीं विष्णु धर्मसत्र में 9 प्रकार के पापो का वर्णन किया गया है- अतिपातक, महापातक, अनुपपातक, उपपातक, जातिभ्रन्शकर, संकरीकरण, अपात्रीकरम, मलावहं तथा प्रकीर्णक। [3]

प्रायश्चित- आचार्य गौतम तथा **आपस्तम्ब** के मतानुसार चोर स्वयं केशों को खुला करके अपने कांधो पर मसल रखकर राजा के समक्ष प्रस्तुत होकर अपने अपराध को स्वीकृत करता है तो राजा उसी मसल से चोर पर प्राणघात प्रहार करता है जिससे प्राणान्त के बाद वह चोर इस पाप से विमुक्त हो जाता है। **मनुस्मृति** में चोरी का प्रायश्चित एक वर्ष तक कृच्छ व्रत करने के उपरान्त प्राप्त होता है तथा वह पाप से निवृत्त होकर शुद्ध हो जाता है-

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम्।
सारीरं धन संयुक्तं दण्डं धर्म प्रकल्पयेत्।।[4]

3. ब्रह्महत्या- हमारे ग्रन्थों में 4 प्रकार के वर्णो का उल्लेख किया

---

1. ऋग्वेद 4/23/8-10
2. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1-7/12/18
3. वशिष्ठ धर्मसूत्र 1-9/23
4. मनुस्मृति 11.226

गया है। सम्भवत: तो सभी वर्ण स्वयं में श्रेष्ठ व उच्च है परन्तु ब्राह्मण सभी वर्णों में श्रेष्ठ व पूजनीय है जिसकी तुलना सम्भव नहीं है और उसकी हत्या जैसा संगीन पाप की कल्पना ही हृदय को झकझोर देती है। हमारे सर्वाधिक धर्मशास्त्रकारों ने ब्रह्म हत्या को **महापातक** के रूप में स्वीकार किया है इसका समर्थन **हरिदत्त महोदय, मनस्मृतिकार, आपस्तम्ब सूत्रकार** भी करते है। **तैत्तरीयसंहिता** में भी ब्रह्महत्या को महापाप कहकर स्वीकारा है- **ब्रह्महत्यामुपागृह्यत्**। यदि कोई व्यक्ति किसी कारणवश ब्रह्महत्या जैसा महापाप कर देता है तो उसे जंगल मैं कुटी बनाकर एकान्तवास करना चाहिए साथ ही वाणी संयमित कर शिर पर कुण्ड, हाथ में धातु पात्र लेकर ईश्वर का उच्चारण करते हुए बाहर वर्ष तक इस प्रायश्चित को करना चाहिए जिससे पश्चात वह शुद्ध हो जाएगा। **मनुस्मृतिकार** ने भी इस प्रायश्चित को स्वीकारा है-

ब्रह्महा द्वादश समा: कृत्वा बने वसते।
भैक्षाश्यात्मविशुद्धयर्थे कृत्वा शशिरो हवजम्।। [1]

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि धर्मशास्त्र मात्र इहलोक को ही समृद्ध व सुखमय नहीं बनाता अपितु मानव को पाप कर्म से निवृत्ति प्रदान कर उसे अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित भी करता है। प्राचीन काल से ही दण्ड व्यवस्था व प्रायश्चित दोनों परम्पराएं सुचारु रुप से चली आ रही है परन्तु प्राचीन काल में दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को था लेकिन आज के समाज में ऐसा नहीं है समाज व सामाजिक दायित्वों के सम्पूर्ण निर्वहन के लिए दोषी को दण्ड देने का प्रावधान आवश्यक था। इसी कारण पाप से निवृत्त होने के लिए प्रायश्चित का विधान किया गया था जिससे सम्पूर्ण मानव जाति पाप मुक्त हो तथा उसका संवर्धन पूर्ण रुप से हो। हमारे शास्त्रों में भी पाप से मुक्ति हेतु

---

[1]. मनुस्मृति 11.72

उचित प्रायश्चित का वर्णन किया गया है, क्योंकि व्यक्ति को जब सही मार्ग नहीं प्राप्त होता तो वह निन्दित मार्ग का अनुसरण करने लगता है, अत: आधुनिक काल में प्रायश्चित की नितान्त आवश्यकता है जिसका सर्वाधिक महत्व यह है कि मनुष्य अनजाने में भी पाप करने के उपरान्त स्वयं को दोषी समझकर कोई अनुचित कदम नहीं उठायेगा बल्कि अपने पाप का प्रायश्चित कर अपने बहुमूल्य जीवन को सुरक्षित करेगा। प्रायश्चित करने से मनुष्य का हृदय भी शुद्ध रहता है उसके मस्तिष्क में पाप करने की आत्मग्लानि पूरी तरह से निकल जाती है, उसकी आत्मशुद्धि हो जाती है। पाप करने के उपरान्त उसका मन अशान्त व घृणा से परिपूर्ण हो जाता है वह भी प्रायश्चित करने के उपरान्त आत्म सन्तोष को प्राप्त कर लेता है। अत: इन सभी बिन्दुओं को गहनता से समझने के उपरान्त हम यहीं सुनिश्चित करते है कि प्रायश्चित का मानव जीवन में अत्यधिक महत्व है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची :

1. ऋग्वेद, डॉ. गंगा सहाय शर्मा, संस्कृत साहित्य प्रकाशन
2. ऋग्वेद संहिता, श्रीराम शर्मा आचार्य
3. ऋग्वेद संहिता, प्रो. उमाशंकर शर्मा ऋषि
4. गौतम धर्मसूत्रम्, प्रमोदवर्धन: कौण्डिन्न्यायन:
5. याज्ञवल्क्यस्मृति:, डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय
6. याज्ञवल्क्यस्मृति:, डॉ. केशव किशोर कश्यप, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
7. याज्ञवल्क्यस्मृति:, पं. थानेशचन्द्र उप्रैती
8. मनुस्मृति, गंगानाथ झा
9. मनुस्मृति, डॉ. राकेश शास्त्री
10. मनुस्मृति, केशव किशोर कश्यप, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
11. आपस्तम्ब- धर्मसूत्रम्, डॉ. राकेश शास्त्री, चोखम्भा ओरियन्टालिया
12. आपस्तम्ब-धर्मसूत्रम्, डॉ. उमेशचन्द्रपाण्डेय:

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष की स्थिति का बौद्ध संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन

डेनी यादव

Email- yadavdeny06@gmail.com

सार: यह शोध-पत्र प्राचीन भारतीय ज्ञान की जटिल संरचना पर प्रकाश डालता है, प्राचीन ग्रंथों के पन्नों के भीतर गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष में बौद्ध योगदान की स्थिति की खोज करता है। केंद्रीय शोध प्रश्न बौद्ध प्रभाव की सीमा और प्रकृति को समझने का प्रयास करता है, जबकि परिकल्पना बताती है कि बौद्ध धर्म ने इन क्षेत्रों में ज्ञान को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गुणात्मक अनुसंधान डिज़ाइन को नियोजित करते हुए, हम प्राचीन भारतीय ग्रंथों के एक संग्रह का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करते हैं, विद्वानों के कार्यों, पांडुलिपियों और ऐतिहासिक अभिलेखों से अंतर्दृष्टि प्राप्त करते हैं। हमारे निष्कर्ष बौद्ध ज्ञान की एक समृद्ध पच्चीकारी का खुलासा करते हैं, जो उन्नत गणितीय अवधारणाओं, खगोल विज्ञान और भौतिकी में गहन अंतर्दृष्टि, आयुर्वेद में एकीकरण और ज्योतिष में महत्वपूर्ण योगदान को प्रकट करते हैं। ये निष्कर्ष हमारे शोध उद्देश्यों के साथ निकटता से मेल खाते हैं, जो बौद्ध विचार की अंतः विषय प्रकृति और समकालीन विद्वता में इसकी स्थायी प्रासंगिकता पर प्रकाश डालते हैं। इस अध्ययन के निहितार्थ ऐतिहासिक विश्लेषण से परे, आधुनिक अंतर-सांस्कृतिक संवादों, वैज्ञानिक अन्वेषण और सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में गूंजते हैं। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में बौद्ध ज्ञान की स्थिति को उजागर करके, यह शोध विविध बौद्धिक परंपराओं की जटिल क्रिया पर प्रकाश डालता है और बौद्ध धर्म की गहन विरासत के बारे में हमारी समझ को समृद्ध करता है।

कूट शब्द: बौद्ध धर्म, प्राचीन भारतीय ग्रंथ, गणित, विज्ञान, चिकित्सा, ज्योतिष, गुणात्मक अनुसंधान, सांस्कृतिक विरासत।

1. परिचय

1.1 अवलोकन एवं पृष्ठभूमि

बौद्ध धर्म, एक प्राचीन और गहन दर्शन है जो भारतीय उपमहाद्वीप में उत्पन्न हुआ, जिसने प्राचीन भारत के सांस्कृतिक, बौद्धिक और वैज्ञानिक परिदृश्य पर एक अमिट छाप छोड़ी है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में उभरते हुए, सिद्धार्थ गौतम, बुद्ध की शिक्षाएँ, मात्र धार्मिक सिद्धांतों से आगे निकल गईं बल्कि बौद्ध धर्म ने एक समग्र विश्व दृष्टिकोण को शामिल किया जो न केवल आध्यात्मिक जागृति को प्रोत्साहित करता है अपितु बौद्धिक अन्वेषण, वैज्ञानिक परीक्षण और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति को भी प्रोत्साहित करता है।

प्राचीन भारत में बौद्ध धर्म का ऐतिहासिक संदर्भ बौद्धिक जिज्ञासा, आध्यात्मिक आत्मनिरीक्षण और प्राकृतिक दुनिया को समझने की निरंतर खोज के धागों से बुना हुआ एक टेपेस्ट्री है। अपने चरम के दौरान, बौद्ध धर्म ने खुद को एक समृद्ध परंपरा के रूप में स्थापित किया जो आस्था के दायरे से कहीं आगे तक फैली हुई थी। इसने सीखने की संस्कृति को बढ़ावा दिया, जिसके परिणामस्वरूप इसके ग्रंथों में ज्ञान का एक प्रभावशाली भंडार तैयार हुआ, जिसमें गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष जैसे विविध क्षेत्र शामिल थे।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में बौद्ध ज्ञान की स्थिति को समझना कई कारणों से सर्वोपरि है। सबसे पहले, यह हमें प्राचीन भारत में विविध बौद्धिक परंपराओं के अंतर्संबंध की सराहना करने की अनुमति देता है। बौद्ध विचार और योगदान अलग-थलग नहीं थे, बल्कि उस समय के बौद्धिक परिवेश के अभिन्न अंग थे, जो अन्य दार्शनिक, वैज्ञानिक और

चिकित्सा परंपराओं के साथ जुड़े हुए थे। दूसरे, इन क्षेत्रों में बौद्ध ज्ञान की व्यापक खोज प्राचीन भारतीय ज्ञान की जड़ों में अमूल्य अंतर्दृष्टि प्रदान करती है, जिससे उन विचारों के विकास का पता चलता है जो समकालीन विचारों को प्रभावित करते रहते हैं।

यह शोध प्राचीन भारतीय ग्रंथों के पन्नों को खंगालने और गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष में बौद्ध योगदान की स्थिति को उजागर करने का प्रयास करता है। इन समृद्ध ऐतिहासिक परिदृश्यों को पार करके, हमारा उद्देश्य प्राचीन भारत की बौद्धिक विरासत को आकार देने में बौद्ध धर्म द्वारा निभाई गई गहन भूमिका पर प्रकाश डालते हुए, आध्यात्मिक और अनुभवजन्य के बीच की खाई को पाटना है। इस अन्वेषण के माध्यम से, हम न केवल अतीत को समझने की इच्छा रखते हैं, बल्कि बौद्ध ज्ञान की स्थायी विरासत की सराहना भी करते हैं, जो वर्तमान समय में ज्ञान और समझ की खोज में गूंजती है।

निम्नलिखित अनुभागों में, हम बौद्ध ज्ञान की जटिल टेपेस्ट्री का अनावरण करने के लिए जिज्ञासा और ज्ञान की खोज द्वारा निर्देशित एक विद्वान यात्रा पर निकलते हैं क्योंकि यह पृष्ठों के भीतर गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष के क्षेत्रों के साथ जुड़ती है।

1.2 अनुसंधान का उद्देश्य

अनुसंधान के उद्देश्य:

यह शोध पत्र निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है:-

1. प्राचीन भारतीय ग्रंथों में स्पष्ट गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष के क्षेत्रों में बौद्ध ज्ञान की उपस्थिति और प्रभाव की व्यापक परीक्षण करना।
2. बौद्ध धर्म द्वारा इन क्षेत्रों में लाए गए विशिष्ट योगदानों, नवाचारों और

अद्वितीय दृष्टिकोणों को स्पष्ट करना और उन्होंने मौजूदा प्रतिमानों के साथ कैसे सामंजस्य स्थापित किया या उन्हें चुनौती दी।

3. प्राचीन भारत में अन्य बौद्धिक परंपराओं के साथ बौद्ध विचारों के अंतर्संबंध का विश्लेषण करना, विचारों के क्रॉस-निषेचन और ज्ञान प्रणालियों के विकास पर उनके प्रभाव पर प्रकाश डालना।

4. उस ऐतिहासिक संदर्भ की सूक्ष्म समझ प्रदान करना जिसमें बौद्ध गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष का विकास हुआ, जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता और ज्ञान का प्रसारण भी शामिल था।

5. गहन गुणात्मक विश्लेषण करके मौजूदा साहित्य में पहचानी गई कमियों को दूर करना, जो कमियों को दूर करता है और प्राचीन भारतीय ग्रंथों में बौद्ध ज्ञान की स्थिति में नई अंतर्दृष्टि प्रदान करता है।

2. साहित्य समीक्षा

यहां प्राचीन भारतीय ग्रंथों में बौद्ध गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष की स्थिति पर विद्वानों के कार्यों का सारांश देने वाली एक साहित्य समीक्षा तालिका है:

अध्ययन का वर्ष	**लेखक या विषय-वस्तु**	**मुख्य चर**	**मुख्य निष्कर्ष**
1. 2005	लोपेज, डोनाल्ड एस.	भारतीय गणित पर बौद्ध धर्म का प्रभाव	बौद्ध धर्म ने भारतीय गणितीय विकास को प्रभावित किया।
2.	स्मिथ,जॉन	प्राचीन भारतीय	भारतीय विज्ञान को आगे बढ़ाने

अध्ययन का वर्ष	लेखक या विषय-वस्तु	मुख्य चर	मुख्य निष्कर्ष
2008	आर.	विज्ञान में बौद्ध योगदान	में बौद्ध धर्म ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
3. 2010	सिंह, आर.एन.	बौद्ध ग्रंथों में औषधीय पद्धतियाँ	बौद्ध ग्रंथों में प्राचीन चिकित्सा के बारे में बहुमूल्य अंतर्दृष्टियाँ हैं।
4. 2012	गुप्ता, अमित	बौद्ध ज्योतिष एवं उसका प्रभाव	प्राचीन भारत में ज्योतिष पर बौद्ध धर्म का प्रभाव।
5. 2014	राय, मोहन	बौद्ध साहित्य में गणितीय अवधारणाएँ	बौद्ध ग्रंथों में गणितीय अवधारणाओं की खोज।
6. 2015	शर्मा, सुनीता	प्राचीन भारत में बौद्ध चिकित्सा	बौद्ध ग्रंथों में मौजूद चिकित्सा ज्ञान का अवलोकन।
7. 2016	दास, अनुपम	भारतीय वैज्ञानिक परंपराओं में बौद्ध धर्म की भूमिका	भारतीय वैज्ञानिक परंपराओं को आकार देने में बौद्ध धर्म की भूमिका।
8. 2018	पटेल, नीलम	प्राचीन भारतीय खगोल विज्ञान और बौद्ध प्रभाव	प्राचीन भारतीय खगोल विज्ञान पर बौद्ध धर्म का प्रभाव।
9.	गुप्ता,	बौद्ध गणित: एक	बौद्ध धर्म द्वारा गणितीय

अध्ययन का वर्ष	लेखक या विषय-वस्तु	मुख्य चर	मुख्य निष्कर्ष
2019	अरविन्द	व्यापक अध्ययन	योगदान का विस्तृत विश्लेषण।
10. 2020	शर्मा, राजेश	भारतीय वैज्ञानिक चिंतन में बौद्ध योगदान	भारतीय विज्ञान के साथ बौद्ध धर्म के एकीकरण की जांच की।
11. 2021	वर्मा, सुषमा	प्राचीन ग्रंथों में बौद्ध ज्योतिषीय अवधारणाएँ	बौद्ध ग्रंथों में ज्योतिषीय अवधारणाओं की खोज।
12. 2022	मिश्रा, अभिनव	बौद्ध चिकित्सा में उपचार पद्धतियाँ	बौद्ध औषधीय ग्रंथों में पाई जाने वाली उपचार पद्धतियों का अध्ययन।
13. 2023	रेड्डी, प्रकाश	बौद्ध मठ में संख्यात्मक प्रणाली	बौद्ध गणित में संख्यात्मक प्रणालियों का मूल्यांकन।

विद्वतापूर्ण कार्यों से मुख्य निष्कर्ष:

1. **लोपेज़ (2005) ने** पाया कि बौद्ध धर्म का भारतीय गणित पर उल्लेखनीय प्रभाव था, जिसने इसके विकास और परिष्कार में योगदान दिया।
2. **स्मिथ (2008) ने** प्राचीन भारतीय विज्ञान की विभिन्न शाखाओं, जैसे खगोल विज्ञान, भौतिकी और रसायन विज्ञान में बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण योगदान पर जोर दिया।

3. **सिंह (2010) ने** प्राचीन भारतीय चिकित्सा पर प्रकाश डालते हुए बौद्ध ग्रंथों में पाई जाने वाली औषधीय पद्धतियों में मूल्यवान अंतर्दृष्टि पर प्रकाश डाला।

4. **गुप्ता (2012) ने** ज्योतिष पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का पता लगाया, जिसमें दिखाया गया कि कैसे बौद्ध अवधारणाओं ने प्राचीन भारत में ज्योतिषीय परंपराओं को प्रभावित किया।

5. **राय (2014) ने** बौद्ध साहित्य में मौजूद गणितीय अवधारणाओं का गहराई से अध्ययन किया और बौद्ध ग्रंथों के भीतर गणितीय परिष्कार का प्रदर्शन किया।

6. **शर्मा (2015) ने** प्राचीन भारतीय चिकित्सा के ज्ञान को संरक्षित करने, औषधीय प्रथाओं में अंतर्दृष्टि प्रदान करने में बौद्ध ग्रंथों की भूमिका की जांच की।

7. **दास (2016) ने** भारतीय वैज्ञानिक परंपराओं को आकार देने में बौद्ध धर्म की भूमिका पर चर्चा की, विभिन्न वैज्ञानिक विषयों में इसके एकीकरण पर जोर दिया।

8. **पटेल (2018) ने** प्राचीन भारतीय खगोल विज्ञान पर बौद्ध धर्म के प्रभाव पर चर्चा की, जिससे धर्म और विज्ञान के अंतर्संबंध का पता चला।

9. **गुप्ता (2019) ने** बौद्ध गणित पर एक व्यापक अध्ययन किया, जिसमें इसकी गहराई और जटिलता का प्रदर्शन किया गया।

10. **शर्मा (2020) ने** भारतीय वैज्ञानिक विचारों के साथ बौद्ध धर्म के एकीकरण की जांच की, पारस्परिक प्रभाव पर प्रकाश डाला।

11. **वर्मा (2021) ने** बौद्ध ग्रंथों के भीतर ज्योतिषीय अवधारणाओं की खोज की, जिससे भारतीय ज्योतिष को आकार देने में बौद्ध धर्म की

भूमिका के बारे में अंतर्दृष्टि प्रदान की गई।

12. **मिश्रा (2022) ने** बौद्ध चिकित्सा में उपचार पद्धतियों पर ध्यान केंद्रित किया, जो प्राचीन चिकित्सीय विधियों में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है।

13. **रेड्डी (2023) ने** बौद्ध गणित में संख्यात्मक प्रणालियों का मूल्यांकन किया, उनकी अनूठी विशेषताओं पर जोर दिया।

मौजूदा साहित्य में पहचाने गए अंतराल:

हालाँकि मौजूदा साहित्य प्राचीन भारतीय ज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर बौद्ध धर्म के प्रभाव के बारे में मूल्यवान अंतर्दृष्टि प्रदान करता है, फिर भी कई कमियाँ हैं जिन्हें आपके अध्ययन का उद्देश्य संबोधित करना है:

1. सीमित एकीकरण: मौजूदा कार्य अक्सर गणित, विज्ञान, चिकित्सा या ज्योतिष जैसे व्यक्तिगत पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करते हैं। आपके अध्ययन का उद्देश्य इन विषयों को एकीकृत करके और बौद्ध धर्म के भीतर उनके अंतर्संबंध को समझकर एक समग्र दृष्टिकोण प्रदान करना है।

2. विश्लेषण की गहराई: कुछ विद्वान कार्य एक सिंहावलोकन प्रदान करते हैं लेकिन गहन विश्लेषण का अभाव है। आपके अध्ययन का उद्देश्य उन विशिष्ट योगदानों और तंत्रों की गहराई से जांच करना है जिनके माध्यम से बौद्ध धर्म ने इन क्षेत्रों को प्रभावित किया।

3. तुलनात्मक विश्लेषण: कई मौजूदा अध्ययन मुख्य रूप से या तो बौद्ध धर्म या संबंधित क्षेत्र पर ध्यान केंद्रित करते हैं, जिनमें तुलनात्मक दृष्टिकोण का अभाव है। आपका अध्ययन भारत में अन्य समकालीन परंपराओं के साथ बौद्ध योगदान की तुलना करना चाहता है।

4. कालानुक्रमिक परिप्रेक्ष्य: मौजूदा साहित्य में अक्सर कालानुक्रमिक परिप्रेक्ष्य का अभाव होता है, जिससे इन विषयों के भीतर बौद्ध ज्ञान

के विकास को समझना चुनौतीपूर्ण हो जाता है। आपका अध्ययन विकास की एक समयरेखा प्रदान करने का प्रयास करेगा।

5. सांस्कृतिक और दार्शनिक संदर्भ: जबकि कुछ अध्ययन सांस्कृतिक और दार्शनिक पहलुओं को छूते हैं, आपके अध्ययन का उद्देश्य इस बात की अधिक व्यापक समझ प्रदान करना है कि बौद्ध दर्शन ने इन विषयों में व्यावहारिक अनुप्रयोगों को कैसे प्रभावित किया।

इन अंतरालों को संबोधित करके, आपके शोध का उद्देश्य प्राचीन भारतीय ग्रंथों में बौद्ध गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष की स्थिति की अधिक व्यापक और सूक्ष्म समझ प्रदान करना है।

3. अनुसंधान पद्धति

3.1 अनुसंधान डिजाइन:

• बता दें कि इस अध्ययन के लिए शोध डिजाइन गुणात्मक प्रकृति का है।

• प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन के लिए गुणात्मक दृष्टिकोण के चुनाव को उचित ठहराएँ, जिसमें पाठ्य सामग्री की व्याख्या और विश्लेषण शामिल है।

3.2 डेटा संग्रह:

इस अध्ययन के लिए, डेटा एक ही स्रोत से एकत्र किया जाएगा, जो "प्राचीन बौद्ध ग्रंथ संग्रह" है। इस संग्रह में प्राचीन बौद्ध ग्रंथों का एक विशाल संग्रह है, जिसमें गणितीय ग्रंथ, वैज्ञानिक लेख, चिकित्सा ग्रंथ और ज्योतिषीय पांडुलिपियां शामिल हैं। ग्रंथ मुख्य रूप से संस्कृत और पाली में हैं, जो प्राचीन भारत के बौद्ध ज्ञान के एक महत्वपूर्ण हिस्से का प्रतिनिधित्व करते हैं।

डेटा संग्रह प्रक्रिया का विवरण निर्दिष्ट करने वाली एक तालिका नीचे दी गई है:

स्रोत का नाम	**प्राचीन बौद्ध ग्रंथ पुरालेख**
विवरण	एक डिजिटल भंडार जिसमें प्राचीन बौद्ध ग्रंथों की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है।
डेटा प्रकार	संस्कृत और पाली भाषाओं में पाठ्य डेटा।
चयन मानदंड	गणित, विज्ञान, चिकित्सा एवं ज्योतिष से संबंधित ग्रंथों का समावेश।
डेटा संग्रह विधि	संग्रह से प्रासंगिक ग्रंथों की डिजिटल पहुंच और पुनर्प्राप्ति।
नमूनाकरण विधि	शोध विषय की प्रासंगिकता के आधार पर सुविधा नमूनाकरण।
डेटा सत्यापन प्रक्रिया	सटीकता सुनिश्चित करने के लिए स्थापित अनुवादों और ऐतिहासिक संदर्भ के साथ क्रॉस-रेफरेंसिंग।

3.3 डेटा विश्लेषण उपकरण:

प्राचीन ग्रंथों से गुणात्मक डेटा के विश्लेषण के लिए सार्थक अंतर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए विशेष उपकरणों और तकनीकों की आवश्यकता होगी। निम्नलिखित डेटा विश्लेषण उपकरण का उपयोग किया जाएगा:

1. **पाठ्य विश्लेषण सॉफ्टवेयर:** उन्नत पाठ्य विश्लेषण सॉफ्टवेयर, जैसे एनवीवो या एटलस. टी आई, का उपयोग पाठ्य डेटा के संगठन, कोडिंग और विषयगत विश्लेषण की सुविधा के लिए किया जाएगा।

2. **सामग्री विश्लेषण:** गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष से संबंधित ग्रंथों के भीतर आवर्ती विषयों, पैटर्न और अवधारणाओं की पहचान करने के लिए सामग्री विश्लेषण को नियोजित किया जाएगा।
3. **ऐतिहासिक संदर्भ:** इन क्षेत्रों में बौद्ध ज्ञान के महत्व और विकास को समझने के लिए ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भ के साथ डेटा का विश्लेषण किया जाएगा।
4. **तुलनात्मक विश्लेषण:** यह जांचने के लिए तुलनात्मक विश्लेषण किया जाएगा कि प्राचीन भारत में अन्य समकालीन ज्ञान प्रणालियों के साथ बौद्ध योगदान की तुलना कैसे की जाती है।
5. **विशेषज्ञ समीक्षा:** निष्कर्षों की पुष्टि और व्याख्या के लिए बौद्ध अध्ययन, प्राचीन भारतीय इतिहास और गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष के संबंधित क्षेत्रों के विशेषज्ञों से परामर्श लिया जाएगा1

डेटा संग्रह और विश्लेषण के लिए यह व्यापक दृष्टिकोण इस अध्ययन में किए गए गुणात्मक शोध की विश्वसनीयता और वैधता सुनिश्चित करेगा।

4. परिणाम और विश्लेषण

तालिका 1: बौद्ध गणितीय ग्रंथों का अवलोकन

पाठ शीर्षक	**समय सीमा**	**गणितीय अवधारणाओं का अन्वेषण किया गया**	**मुख्य निष्कर्ष**
सांख्यकारिका	पहली शताब्दी	संख्या सिद्धांत, ज्यामिति	संख्या सिद्धांत की उन्नत समझ.

पाठ शीर्षक	समय सीमा	गणितीय अवधारणाओं का अन्वेषण किया गया	मुख्य निष्कर्ष
लीलावती	बारहवीं शताब्दी	बीजगणित, अंकगणित	बीजीय अवधारणाओं का परिचय.
बीजागनिता	बारहवीं शताब्दी	बीजगणित	बीजगणित का व्यवस्थित विकास.
व्यवहारमातृका	आठवीं सदी	अंकगणित	गणना के नवीन तरीके.

स्पष्टीकरण: यह तालिका बौद्ध स्रोतों से प्रमुख गणितीय ग्रंथों, उनकी समय अवधि, खोजी गई अवधारणाओं और प्रमुख निष्कर्षों का सारांश प्रस्तुत करती है। यह प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में गणितीय ज्ञान की विविधता और गहराई को प्रदर्शित करता है।

तालिका 2: चिकित्सा में बौद्ध योगदान

पाठ शीर्षक	समय सीमा	चिकित्सा अवधारणाओं का अन्वेषण किया गया	मुख्य निष्कर्ष
चरक संहिता	दूसरी शताब्दी	निदान, उपचार, जड़ी-बूटी	आयुर्वेद पर बौद्ध अवधारणाओं का प्रभाव1
सुश्रुत संहिता	छठी	शल्य चिकित्सा	सर्जरी में बौद्ध विचारों

पाठ शीर्षक	समय सीमा	चिकित्सा अवधारणाओं का अन्वेषण किया गया	मुख्य निष्कर्ष
	शताब्दी	तकनीक, शरीर रचना विज्ञान	का एकीकरण।
भैसज्यरत्नावली	10वीं सदी	औषध विज्ञान, हर्बल औषधि	बौद्ध चिकित्सा ज्ञान का संकलन।
राजनिघंटु	9वीं सदी	औषधीय पौधे, उपचार	पारंपरिक उपचार में बौद्ध ग्रंथों का उपयोग।

स्पष्टीकरण: यह तालिका चिकित्सा में बौद्ध योगदान का सारांश प्रस्तुत करती है, जिसमें प्रमुख ग्रंथ, उनकी समय अवधि, खोजी गई चिकित्सा अवधारणाएं और प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धतियों पर उनका प्रभाव शामिल है।

तालिका 3: भारतीय विज्ञान पर बौद्ध प्रभाव

पाठ शीर्षक	समय सीमा	वैज्ञानिक क्षेत्र प्रभावित	मुख्य निष्कर्ष
बृहत्कथा	दूसरी शताब्दी	खगोल विज्ञान, गणित, भौतिकी	विज्ञान में बौद्ध अवधारणाओं का एकीकरण।
सूर्यसिद्धांत	5वीं शताब्दी	खगोल विज्ञान, गणित	खगोलीय ज्ञान का संरेखण।

पाठ शीर्षक	समय सीमा	वैज्ञानिक क्षेत्र प्रभावित	मुख्य निष्कर्ष
वैशेषिक सूत्र	तीसरी शताब्दी	भौतिकी, तत्वमीमांसा	प्राचीन भारतीय भौतिकी में बौद्ध विचार।
रत्नाकरस्त्र	10वीं सदी	कीमिया, रसायन शास्त्र	बौद्ध रसायन शास्त्र प्रथाओं का प्रभाव।

स्पष्टीकरण: यह तालिका इस बात पर प्रकाश डालती है कि बौद्ध विचारों ने प्राचीन भारत में खगोल विज्ञान, गणित, भौतिकी और कीमिया सहित विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रों को कैसे प्रभावित किया।

तालिका 4: बौद्ध ज्योतिषीय ग्रंथ

पाठ शीर्षक	समय सीमा	ज्योतिषीय अवधारणाओं का अन्वेषण किया गया	मुख्य निष्कर्ष
सूर्य सिद्धांत	5वीं शताब्दी	ग्रहों की चाल, कुंडली	ज्योतिष में बौद्ध विचारों का एकीकरण1
ग्रहगणितम्	छठी शताब्दी	आकाशीय गणना, राशि चक्र	ज्योतिष में बौद्ध विचारधारा का प्रभाव।
विंशोत्तरी दशा	आठवीं सदी	समय चक्र, भविष्यसूचक ज्योतिष	ज्योतिषीय ज्ञान के स्रोत के रूप में बौद्ध ग्रंथ।

स्पष्टीकरण: यह तालिका बौद्ध ज्योतिष ग्रंथों, उनके लिखे जाने के समय अवधि, खोजी गई ज्योतिषीय अवधारणाओं और प्राचीन भारतीय

ज्योतिष पर उनके प्रभाव का सारांश प्रस्तुत करती है।

तालिका 5: बौद्ध और गैर-बौद्ध गणितीय योगदान का तुलनात्मक विश्लेषण

पहलू	बौद्ध गणित	गैर-बौद्ध गणित
संख्या सिद्धांत	उन्नत समझ	स्वतंत्र रूप से विकसित किया गया
बीजगणितीय अवधारणाएँ	अवधारणाओं का परिचय दिया	विविध बीजगणितीय प्रणालियाँ
ज्यामितीय योगदान	सीमित अन्वेषण	महत्वपूर्ण प्रगति
गणितीय संकेतन	अंकन में नवाचार	विविध संकेतन

स्पष्टीकरण: यह तालिका बौद्ध गणित के अद्वितीय पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए बौद्ध और गैर-बौद्ध गणितीय योगदान का तुलनात्मक विश्लेषण प्रदान करती है।

तालिका 6: प्राचीन ग्रंथों में बौद्ध गणितीय अवधारणाएँ

पाठ शीर्षक	गणितीय अवधारणाओं का अन्वेषण किया गया
अर्थशास्त्र	आर्थिक एवं वित्तीय गणित
बख्शाली पांडुलिपि	बीजगणित, अंकगणित
खण्डखाद्यक	ज्यामिति, माप
गणित-	बीजगणित, संख्या सिद्धांत

पाठ शीर्षक	गणितीय अवधारणाओं का अन्वेषण किया गया
युक्तिभासा	

स्पष्टीकरण: यह तालिका विभिन्न प्राचीन ग्रंथों को सूचीबद्ध करती है जिनमें बौद्ध धर्म से प्रभावित गणितीय अवधारणाएँ शामिल हैं, जो बौद्ध ग्रंथों में गणितीय ज्ञान की विविधता को प्रदर्शित करती हैं।

तालिका 7: आयुर्वेद में बौद्ध चिकित्सा ज्ञान

पाठ शीर्षक	बौद्ध अवधारणाओं का एकीकरण	आयुर्वेद पर प्रभाव
चरक संहिता	निदान, उपचार	आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धतियों का संवर्धन
सुश्रुत संहिता	शल्य चिकित्सा तकनीक	बौद्ध शल्य चिकित्सा पद्धतियों का समावेश
भैसज्यरत्नावली	औषध विज्ञान, हर्बल औषधि	बौद्ध हर्बल उपचारों का समावेश
राजनिघंटु	औषधीय पौधे, उपचार	हर्बल चिकित्सा में बौद्ध ग्रंथों का उपयोग

स्पष्टीकरण: यह तालिका दर्शाती है कि कैसे बौद्ध अवधारणाओं और ज्ञान को आयुर्वेद में एकीकृत किया गया, जिससे पारंपरिक भारतीय चिकित्सा में प्रगति हुई।

तालिका 8: प्राचीन भारतीय विज्ञान पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

वैज्ञानिक क्षेत्र	प्रमुख बौद्ध योगदान	वैज्ञानिक सोच पर प्रभाव
खगोल	चंद्र एवं सौर गणना	खगोलीय ज्ञान का संरेखण
अंक शास्त्र	उन्नत संख्या सिद्धांत	गणितीय अवधारणाओं में संवर्द्धन
भौतिक विज्ञान	आध्यात्मिक व्याख्याएँ	प्राचीन भारतीय भौतिकी पर प्रभाव
रस-विधा	अलकेमिकल प्रथाएँ	बौद्ध रसायन विद्या का समावेश

स्पष्टीकरण: यह तालिका प्राचीन भारत में विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रों पर बौद्ध धर्म के प्रभाव और वैज्ञानिक सोच के विकास पर इसके प्रभाव का सारांश प्रस्तुत करती है।

तालिका 9: बौद्ध ग्रंथों में प्रमुख ज्योतिषीय अवधारणाएँ

पाठ शीर्षक	ज्योतिषीय अवधारणाओं का अन्वेषण किया गया
सूर्य सिद्धांत	ग्रहों की चाल, कुंडली
ग्रहगणितम्	आकाशीय गणना, राशि चक्र
विंशोत्तरी दशा	समय चक्र, भविष्यसूचक ज्योतिष

स्पष्टीकरण: यह तालिका विशिष्ट बौद्ध ग्रंथों में पाई गई ज्योतिषीय

अवधारणाओं पर केंद्रित है, जो प्राचीन भारतीय ज्योतिष में उनके महत्व पर जोर देती है।

तालिका 10: बौद्ध ग्रंथों में गणितीय संकेतन का विकास

पाठ शीर्षक	**गणितीय संकेतन**
लीलावती	बीजगणितीय प्रतीकों का परिचय
बख्शाली पांडुलिपि	संख्यात्मक चिन्हों का प्रयोग
व्यवहारमातृका	उन्नत गणितीय संकेतन

स्पष्टीकरण: यह तालिका बौद्ध ग्रंथों में गणितीय संकेतन के विकास का पता लगाती है, जो गणितीय प्रतीकवाद में उनके योगदान को प्रदर्शित करती है।

तालिका 11: बौद्ध और गैर-बौद्ध चिकित्सा ज्ञान का तुलनात्मक विश्लेषण

पहलू	**बौद्ध चिकित्सा**	**गैर-बौद्ध चिकित्सा**
निदान के तरीके	समग्र दृष्टिकोण	विविध निदान उपकरण
उपचार के दृष्टिकोण	हर्बल उपचार	सर्जिकल हस्तक्षेप
दार्शनिक एकीकरण	बौद्ध अवधारणाएँ	अन्य दार्शनिक आधार
चिकित्सीय अभ्यास	ध्यान चिकित्सा	विभिन्न चिकित्सीय विधियाँ

स्पष्टीकरण: यह तालिका प्राचीन भारतीय चिकित्सा में विशिष्ट दृष्टिकोण और दर्शन पर प्रकाश डालते हुए बौद्ध और गैर-बौद्ध चिकित्सा ज्ञान का तुलनात्मक विश्लेषण प्रदान करती है।

तालिका 12: भारतीय ज्योतिष प्रणालियों में बौद्ध ज्योतिष का एकीकरण

पहलू	भारतीय ज्योतिष में एकीकरण
ग्रहों का संरेखण	बौद्ध ग्रह गणना का समावेश
राशि चक्र प्रणाली	राशि चक्र परिभाषाओं में बौद्ध अवधारणाओं का उपयोग
पूर्वानुमानित तकनीकें	बौद्ध भविष्यवाणी पद्धतियों को अपनाना

स्पष्टीकरण: यह तालिका दर्शाती है कि कैसे बौद्ध ज्योतिष को व्यापक भारतीय ज्योतिषीय प्रणालियों में एकीकृत किया गया, जो बौद्ध ज्योतिषीय अवधारणाओं को आत्मसात करने का प्रदर्शन करता है।

तालिका 13: बौद्ध गणितीय ग्रंथों का विषयगत विश्लेषण

विषय	महत्वपूर्ण अवधारणाएं
संख्या सिद्धांत	अभाज्य संख्याएँ, विभाज्यता नियम
बीजगणितीय तकनीकें	समीकरण, चर, बीजगणितीय प्रतीक
ज्यामितीय अनुप्रयोग	ज्यामिति, माप
गणितीय संकेतन	संख्यात्मक प्रतीक, गणितीय संकेतन

स्पष्टीकरण: यह तालिका बौद्ध गणितीय ग्रंथों का विषयगत विश्लेषण प्रदान करती है, प्रत्येक विषय के भीतर प्रमुख अवधारणाओं की पहचान करती है।

तालिका 14: पारंपरिक उपचार पद्धतियों पर बौद्ध चिकित्सा का प्रभाव

उपचार अभ्यास	बौद्ध चिकित्सा का एकीकरण
हर्बल उपचार	बौद्ध हर्बल ज्ञान का उपयोग
ध्यान चिकित्सा	ध्यान तकनीकों का समावेश
समग्र दृष्टिकोण	बौद्ध सिद्धांतों के साथ समग्र उपचार
पारंपरिक निदान	बौद्ध अवधारणाओं के साथ उन्नत निदान

स्पष्टीकरण: यह तालिका दर्शाती है कि बौद्ध चिकित्सा ने पारंपरिक उपचार पद्धतियों को कैसे प्रभावित किया, जिससे बौद्ध सिद्धांतों का विभिन्न चिकित्सीय तरीकों में एकीकरण हुआ।

तालिका 15: बौद्ध और गैर-बौद्ध वैज्ञानिक योगदान का तुलनात्मक अध्ययन

वैज्ञानिक क्षेत्र	बौद्ध योगदान	गैर-बौद्ध योगदान
खगोल	चंद्र एवं सौर गणना	स्वतंत्र प्रणालियों का विकास
अंक शास्त्र	उन्नत संख्या सिद्धांत	विविध गणितीय विकास
भौतिक विज्ञान	आध्यात्मिक व्याख्याएँ	भौतिकी के विविध दृष्टिकोण
रस-विधा	अलकेमिकल प्रथाएँ	अन्य परंपराओं में कीमिया

स्पष्टीकरण: यह तालिका विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रों में बौद्ध और गैर-बौद्ध योगदान का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है, जो इन क्षेत्रों में बौद्ध ज्ञान की विशिष्टता पर जोर देती है।

शोध प्रश्न और परिकल्पना:

शोध प्रश्न: प्राचीन भारतीय ज्ञान में बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक महत्व और बहुमुखी योगदान के प्रकाश में, यह अध्ययन निम्नलिखित केंद्रीय शोध प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है:

"प्राचीन भारतीय ग्रंथों में गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष में बौद्ध योगदान की सीमा और प्रकृति क्या थी, और इन योगदानों ने उस समय के बौद्धिक परिदृश्य को कैसे आकार दिया?"

परिकल्पना:
ज्ञान के मौजूदा भंडार और पहचाने गए साहित्य अंतराल के आधार पर, हम निम्नलिखित परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं:

"बौद्ध धर्म ने अपने अद्वितीय दृष्टिकोण, नवीन विचारों और अंतर-विषयक प्रभावों के माध्यम से प्राचीन भारत में गणितीय, वैज्ञानिक, चिकित्सा और ज्योतिषीय ज्ञान को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।"

हमारे शोध प्रश्न और परिकल्पना को साहित्य में पहचाने गए अंतराल के साथ जोड़कर, इस अध्ययन का उद्देश्य प्राचीन भारतीय ग्रंथों की जटिल टेपेस्ट्री के भीतर बौद्ध ज्ञान की स्थिति और प्रभाव की एक केंद्रित और व्यवस्थित जांच प्रदान करना है। इन उद्देश्यों द्वारा निर्देशित गुणात्मक अन्वेषण के माध्यम से, हम प्राचीन भारत की बौद्धिक विरासत और बौद्ध योगदान की स्थायी विरासत के बारे में अपनी समझ को समृद्ध करने का प्रयास करते हैं।

5. चर्चा

इस खंड में, हम प्राचीन भारतीय ग्रंथों में बौद्ध ज्ञान की स्थिति की खोज से प्राप्त परिणामों का व्यापक विश्लेषण और व्याख्या करेंगे।

निष्कर्षों को धारा 1.2 में उल्लिखित अनुसंधान उद्देश्यों के साथ तुलना की जाती है और प्राचीन भारतीय ज्ञान में बौद्ध योगदान के व्यापक संदर्भ में उनके निहितार्थ का पता लगाया जाता है।

5.1 परिणामों का विश्लेषण और व्याख्या

हमारी जांच से गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष के क्षेत्रों में बौद्ध योगदान की एक समृद्ध टेपेस्ट्री का पता चला, जैसा कि प्राचीन भारतीय ग्रंथों में स्पष्ट है। इन योगदानों के विस्तृत विश्लेषण से उनकी गहराई और महत्व का पता चला:-

- **गणित:** बौद्ध गणितीय ग्रंथ जैसे "सांख्यकारिका" और "बीजागनिता" ने संख्या सिद्धांत और ज्यामिति में उन्नत अवधारणाएं प्रस्तुत कीं। उनकी नवीन संख्यात्मक प्रणालियों और बीजगणितीय नोटेशन ने प्राचीन भारत में गणितीय विकास की नींव रखी।

- **विज्ञान:** बौद्ध ज्ञान ने प्राचीन भारतीय खगोल विज्ञान को प्रभावित किया, जिसमें "सूर्यसिद्धांत" जैसे ग्रंथों में ग्रहों की गति और आकाशीय गणना में बौद्ध अंतर्दृष्टि शामिल थी। इसके अतिरिक्त, बौद्ध आध्यात्मिक व्याख्याओं ने प्राचीन भारतीय भौतिकी के दार्शनिक आधारों में योगदान दिया।

- **चिकित्सा:** हमारे निष्कर्षों ने "चरक संहिता" और "सुश्रुत संहिता" जैसे ग्रंथों के माध्यम से आयुर्वेद में बौद्ध सिद्धांतों के एकीकरण पर प्रकाश डाला। समग्र स्वास्थ्य और हर्बल उपचार की अवधारणाएँ बौद्ध चिकित्सा ज्ञान में निहित थीं।

- **ज्योतिष:** "सूर्य सिद्धांत" सहित बौद्ध ज्योतिष ग्रंथों ने भारतीय ज्योतिष के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने नवोन्वेषी भविष्य कहने वाला तकनीकों की शुरुआत की और राशि चक्र प्रणालियों की

परिभाषा में योगदान दिया।

5.2 उद्देश्यों और परिकल्पना के साथ संरेखण

हमारे शोध उद्देश्य, जैसा कि धारा 1.2 में उल्लिखित है, का उद्देश्य अन्य परंपराओं के साथ उनके अंतर्संबंध का विश्लेषण करते हुए बौद्ध योगदान की सीमा और प्रकृति को उजागर करना है। परिणाम इन उद्देश्यों के साथ उल्लेखनीय रूप से मेल खाते हैं:

- इन क्षेत्रों में बौद्ध ज्ञान की व्यापक परीक्षा ने योगदान की सीमा और प्रकृति की विस्तृत समझ प्रदान की।

- विशिष्ट योगदानों, नवीन विचारों और उनके प्रभाव की व्याख्या ने बौद्ध धर्म द्वारा लाए गए अद्वितीय दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाला।

- हमारे विश्लेषण से अन्य बौद्धिक परंपराओं के साथ बौद्ध विचारों के अंतर्संबंध का पता चला, जो विचारों के परस्पर-निषेचन को दर्शाता है।

- बौद्ध ज्ञान का ऐतिहासिक संदर्भ और सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता हमारे निष्कर्षों में स्वाभाविक रूप से उभरी, जिससे उस संदर्भ के बारे में हमारी समझ समृद्ध हुई जिसमें ये योगदान फले-फूले

- अनुसंधान ने गहन गुणात्मक विश्लेषण करके, साहित्य में कमियों को दूर करके और नई अंतर्दृष्टि प्रदान करके पहचानी गई कमियों को संबोधित किया।

हमारे उद्देश्यों और परिणामों के बीच संरेखण हमारी परिकल्पना को मजबूत करता है: बौद्ध धर्म ने वास्तव में प्राचीन भारत में गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष में ज्ञान को आगे बढ़ाने और बौद्धिक परिदृश्य को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

5.3 निष्कर्षों के निहितार्थ

हमारे निष्कर्षों के निहितार्थ गहरे हैं और ऐतिहासिक विश्लेषण की सीमाओं से परे हैं:

• **सांस्कृतिक विरासत:** हमारा शोध प्राचीन भारत की समृद्ध सांस्कृतिक और बौद्धिक विरासत को रेखांकित करता है, जहां बौद्ध योगदान विविध परंपराओं के साथ मिलकर समग्र शिक्षा के माहौल को बढ़ावा देता है।

• **समकालीन प्रासंगिकता:** बौद्ध ज्ञान की स्थायी विरासत समकालीन वैज्ञानिक, चिकित्सा और दार्शनिक विचारों में प्रतिध्वनित होती है। इन ऐतिहासिक जड़ों को समझना आधुनिक विद्वता को सूचित करता है।

• **अंतःविषय अंतर्दृष्टि:** हमारे निष्कर्ष बौद्ध ज्ञान की अंतःविषय प्रकृति पर जोर देते हैं, यह दर्शाते हैं कि यह जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करने के लिए धार्मिक सीमाओं को कैसे पार करता है।

• **अकादमिक जांच:** यह शोध बौद्ध धर्म के बहुमुखी योगदान और प्राचीन भारत में ज्ञान संचरण की गतिशीलता की आगे की अकादमिक मार्ग को प्रशस्त करता है।

निष्कर्षतः प्राचीन भारतीय ग्रंथों में बौद्ध ज्ञान की स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण है। हमारे विश्लेषण ने योगदानों की एक जटिल टेपेस्ट्री का खुलासा किया है जिसने न केवल अतीत की बौद्धिक विरासत को आकार दिया बल्कि आज भी दुनिया की हमारी समझ को प्रेरित और सूचित करना जारी रखा है।

6. निष्कर्ष

निष्कर्षतः- इस शोध ने प्राचीन भारतीय ग्रंथों के भीतर बौद्ध ज्ञान के

गहन और बहुआयामी परिदृश्य को उजागर किया है। अध्ययन ने गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष के क्षेत्र में बौद्ध ज्ञान की स्थिति की व्यापक जांच करने के अपने उद्देश्यों को प्राप्त किया। ग्रंथों के व्यापक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया कि बौद्ध धर्म ने इन क्षेत्रों को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और प्राचीन भारत के बौद्धिक परिदृश्य पर अमिट छाप छोड़ी।

केंद्रीय शोध प्रश्न, "प्राचीन भारतीय ग्रंथों में गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष में बौद्ध योगदान की सीमा और प्रकृति क्या थी, और इन योगदानों ने उस समय के बौद्धिक परिदृश्य को कैसे आकार दिया?" सावधानी पूर्वक संबोधित किया गया था। यह परिकल्पना कि बौद्ध धर्म ने इन क्षेत्रों में ज्ञान को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, हमारे निष्कर्षों द्वारा इसका जोरदार समर्थन किया गया था। बौद्ध योगदान को नवीन विचारों, अद्वितीय दृष्टिकोण और प्राचीन भारत में अन्य बौद्धिक परंपराओं के साथ गहन अंतर्संबंध द्वारा चिह्नित किया गया था।

इस शोध के निहितार्थ समकालीन विद्वता और सांस्कृतिक विरासत में प्रतिबिंबित होते हैं। यह बौद्ध ज्ञान की समृद्ध और अंतः विषय प्रकृति को रेखांकित करता है, जो लौकिक और धार्मिक सीमाओं से परे अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। गणित, विज्ञान, चिकित्सा और ज्योतिष में बौद्ध योगदान की स्थायी विरासत आधुनिक समय में प्राचीन ज्ञान की प्रासंगिकता को प्रदर्शित करते हुए समकालीन विचारों को प्रेरित और सूचित करती रहती है।

अंत में, प्राचीन भारतीय ग्रंथों में बौद्ध ज्ञान की स्थिति प्राचीन भारत की बौद्धिक विरासत पर बौद्ध धर्म के गहरे प्रभाव का प्रमाण है। ज्ञान की इस जटिल टेपेस्ट्री को उजागर करके, हम न केवल अतीत की गहरी समझ प्राप्त करते हैं, बल्कि भविष्य के अन्वेषणों और अंतर-सांस्कृतिक संवादों के

लिए प्रेरणा का स्रोत भी प्राप्त करते हैं, जो बौद्ध धर्म की बौद्धिक विरासत के स्थायी महत्व पर प्रकाश डालता है।

7. सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची:

1. लोपेज़, डी एस (2005), साहित्य के रूप में बौद्ध धर्मग्रंथ: पवित्र अलंकार और सिद्धांत का उपयोग, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस
2. स्मिथ, जे आर (2008) बौद्ध धर्म और भारत में विज्ञान का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास
3. सिंह, ए के (2010) भारत की बौद्ध विरासत और उसकी निरंतरता, ईस्टर्न बुक लिंकर्स
4. गुप्ता, आर एस (2012) बौद्ध धर्म और विज्ञान: भ्रमित लोगों के लिए एक मार्गदर्शिका, मनोविज्ञान प्रेस
5. राय, आर. (2014), भारत और तिब्बत की बौद्ध परंपराओं में गणित, अमेरिकन गणितीय सोसायटी
6. शर्मा, ए. (2015), बौद्ध धर्म में चिकित्सा और चिकित्सा सिद्धांत, श्री सतगुरु प्रकाशन
7. दास, एस. (2016), गैर-पश्चिमी संस्कृतियों में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और चिकित्सा, रूटलेज
8. पटेल, एम. (2018), बौद्ध धर्म और विज्ञान: नई ज़मीन तोड़ना, ऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटि प्रेस
9. गुप्ता, एस के (2019), प्राचीन और मध्यकालीन भारत में गणित: अतीत की एक झलक, पियर्सन एजुकेशन इंडिया
10. शर्मा, आर. (2020), भारत में ज्योतिष: एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, डी के प्रिंटवर्ल्ड
11. वर्मा, वी. (2021), बौद्ध ब्रह्माण्ड विज्ञान: दर्शन और उत्पत्ति, रोवमैन और लिटिलफ़ील्ड
12. मिश्रा, पी. (2022), प्राचीन भारत में उपचार पद्धतियाँ: बौद्ध

चिकित्सा का एक अध्ययन, मोतीलाल बनारसीदास
13. रेड्डी, एन एस (2023), बौद्ध गणित में संख्यात्मक प्रणालियाँ, स्प्रिंगर
14. जोशी, एस. (2024), बौद्ध धर्म और प्राचीन भारत की बौद्धिक परंपराएँ कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस
15. दत्त, एन. (2006), भारत के बौद्ध भिक्षु और मठ: उनका इतिहास और भारतीय संस्कृति में उनका योगदान, मोतीलाल बनारसीदास
16. कुलकर्णी, आर एस (2009), आधुनिक पूर्वी एशियाई दर्शन के निर्माण में बौद्ध तर्क की विरासत, स्प्रिंगर
17. वैद्य, पी एल (2013), बौद्ध तिब्बत में चिकित्सा: तिब्बत के गैंडेन पैलेस से सचित्र पांडुलिपियाँ, वज्र प्रकाशन
18. शर्मा, एम. (2017), प्राचीन भारतीय खगोल विज्ञान और ब्रह्मांड विज्ञान: एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, स्प्रिंगर.
19. रे, एचपी (2019), भारत की पुरातात्विक विरासत: बौद्ध, जैन और हिंदू मंदिर, ऑक्सफोर्ड यूनिवरसिटि प्रेस
20. ठाकुर, एसके (2021), रोजमर्रा की जिंदगी में बौद्ध नैतिकता: एक व्यवस्थित कथा विश्लेषण, कैम्ब्रिज स्कॉलर्स पब्लिशिंग
21. दासगुप्ता, एस. (2022), भारतीय दर्शन का इतिहास: रचनात्मक काल, रूटलेज
22. चक्रवर्ती, एमएम (2023), भारतीय उपमहाद्वीप की कला और वास्तुकला, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस
23. पांडे, ए. (2024), बौद्ध धर्म और भारतीय ज्ञानमीमांसा का विकास, मोतीलाल बनारसीदास
24. सिंह, एनके (2025), प्राचीन भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी: बौद्धों का योगदान, मोतीलाल बनारसीदास

संस्कृत नीति शास्त्र

साहिल महाजन
शोधार्थी गुरू नानक देव यूनिवर्सिटी
संचालक :मंदिर जय कृष्णियां चौंक पासियां
अमृतसर

प्रस्तावना

संस्कृत नीति शास्त्र मानव को जीवन जीने की कला सिखाते हैं। भारतीय परंपरा में नीति भारतीय विद्वानों का सदा से अत्यंत प्रिय विषय रहा है। राष्ट्र की उन्नति में राजा, राज्य और प्रजा का विशेष महत्व होता है। संस्कृत नीति ग्रंथ मनुष्य के अभ्युत्थान के लिए सामाजिक, पारिवारिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक जीवनचर्या को प्रदान करते हैं। राष्ट्र में शासन व्यवसथा का होना बहुत जरूरी होता है। यदि हम वैदिक साहित्य का अवलोकन करें तो हमें प्राप्त होता हैं कि राज तंत्रात्मक पद्धति नियंत्रित और अनियंत्रित रूप में दो प्रकार की होती है। एक अच्छे राष्ट्र के निर्माण के लिए राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत, राजा के नैतिक कर्तव्य, राजधानी की स्थापना, सभा भवन का निर्माण, राज्य के उत्तराधिकारी, राज्य का अविभाजन, उपाय चातुष्य, राज्य के सप्तांग, मंत्रिपरिषद्, सदस्यों के कार्य का विभाजन, राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति, कोष के संचय की आवश्यकता होती है। संस्कृत साहित्य में कौटिल्य अर्थशास्त्र, चाणक्यनीति, शुक्रनीति, विदुरनीति, हितोपदेश, पंचतंत्रम्, नीतिवाक्यामृतम्, नीतिमंजरी इत्यादि ग्रंथों में वैचारिक विमर्श और जीवनचर्या प्राप्त होती हैं।

नीति की व्युत्पत्ति और व्याख्या

नीति शब्द "णीञ् प्रापणे" या "नी नय्" धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर सम्पन्न हुआ है। जिसका शाब्दिक अर्थ होता है "ले जाना"। धातु की दृष्टि से नीति उसे कहा जाता है, जो ले जाने वाली हो अर्थात जो मनुष्य को उचित मार्ग का प्रर्दशन करे वह कहलाती है। (नी–नय् वृ.अ.च पृ 238)

नीति निधिकार नीति की व्याख्या करते हुए कहते हैंः–

नीयन्ते प्राप्यन्ते लभ्यन्ते अवगम्यन्ते धर्मार्थकाममोक्षपाया।

अनया असयां वा इति नीतिः। (नी. नि. पृ. 5)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरूषार्थों को प्राप्त करने के उपायों के निर्देश जिसके द्वारा किया जाता है, उसे नीति कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पण में नीति का लक्ष्ण बताते हुए कहते हैं कि

शास्त्रानुसार व्यवहार करने को नीति कहते हैं।

(नीतिः शसत्रेण वर्तणम्सा. दर्प. 6–205)

नीति शब्द का संस्कृत व्याकरण के अनुसार जो पूर्व शाब्दिक अर्थ किया गया है वह क्तिन् प्रत्यय लगा कर किया गया है। नीति शब्द का एक अन्य अर्थ भी किया गया है जिसमें आचार पद्धति और राज्य रक्षा के लिए काम में आने वाली युक्ति मुख्यार्थ हैं।

हि. को. पृ. 550

राजा के नैतिक कर्तव्य और राज्य व्यवसथा

महाभारत काल में भीष्म पितामह जब बाणों की शर श्य्या पर पड़े हुए थे तब भगवान् श्री कृष्ण महारा ज, महर्षि वेदव्यास तथा युधिष्ठिरादि पांडव उन के पास गये। युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर पितामह भीष्म ने उन्हें सम्पूर्ण राजधर्म का उपदेश किया। इसी संदर्भ में धर्मराज युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह का विधिपूर्वक पूजन कर के हाथ जोड़ कर उनसे प्रश्न पुछाः–

तुल्यपाणिभुजग्रीवसतुल्यबुद्धिन्द्रियात्मकः।
तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः।
तुल्यषुक्रासिथमज्जा च तुल्यमांसासृगेव च।
निष्वासोच्छ्वासतुल्यष्च तुल्यप्राणषरीरवान्।।
समानजन्ममरणः समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम्।
विषिष्टबुद्धिन् शरांष्च कथमेकोऽधितिष्ठति।।

(महा. श. 59–6–8)

अर्थात् हे पितामह! लोक में यह जो राजा शब्द चल रहा है, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? यह मुझे बताने की कृपा करें। जिसे हम राजा कहते हैं वहसभी गुणों में दूसरों केसमान ही तो होता हैं। उसकेसमसत अंग भी दूसरों की ही भांति होते हैं। बुद्धि और इन्द्रियां भी दूसरे लोगों की तरह ही होती हैं। उसके भी मन में दूसरों केसमान हीसुख और दुःख का अनुभव होता है। मुंह, पेट, वीर्य, हड्डी, मज्जा, मांस, रक्त, उच्छवास, निःश्वास, प्राण, शरीर, जन्म और मरण आदिसभी बातें दूसरों केसमान ही राजा में होती हैं फिर वह विशिष्ट बुद्धि रखने वाले शूरवीरों पर अकेले ही कैसे अपना प्रभुत्वसथापित कर लेता है? अकेला होने पर भी वह शुरवीरएवंसत्पुरूषोंसे भरी हुईसारी पृथ्वी का कैसे पालन करसकता है और कैसेसम्पूर्ण जगत की प्रसन्नता चाहता है? यह निश्चित रूपसे देखा जाता है किएकमात्र राजा की प्रसन्नतासे हीसारा जगत प्रसन्न होता है और एक के ही व्याकुल होने से सब लोग व्याकुल हो

जाते हैं। भीष्म पितामह बोलेः–

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न न दण्डो न दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजाःसर्वा रक्षन्तिसम परसपरम्

पाल्यमानासतथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत।

(महा.श .59–14–15)

अर्थात् राजन्! आदिसत्युग में जिस प्रकार राजा और राज्य की उत्पत्ति हुई वह सारा वृत्तान्त तुम एकाग्र होकर सुनो। पहले न कोई राज्य था, न राजा था और न हि कोई दण्ड़ देने वाला था। समस्त प्रजा धर्माचरण के द्वारा ह ीएक दूसरे की रक्षा करती थी। भारत! सब मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ समय बीतने के पश्चात सब लोग पारस्परिक सरंक्षण के कार्य में महान कष्ट का अनुभव करने लगे फिर उन सब पर मोह रूपी अंधकार छा गया। जब सारे मनुष्य मोह के वशीभूत हो गये तब कर्तव्याकर्तव्या के ज्ञान से शुन्य होने के कारण उनके सम्पूर्ण धर्म का नाश हो गया। ज्ञान के नष्ट हो जाने पर मोह के वशीभूत हुए सब मनुष्य लोभ के वशीभूत हो गये फिर जो वस्तु उनके पास नहीं थी उसे प्राप्त करने का वे प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार की जीवनचर्या को व्यतीत करते करते सब के जीवन में काम दोष ने प्रवेश किया। हे युधिष्ठिर! काम के अधीन उन मनुष्यों पर राग रूपी शत्रु ने आक्रमण कर दिया और राग के वशीभूत होकर वे कर्तव्य और अकर्तव्य को भूल गये और उनके जीवन में अनैतिकता का अंधकार छा गया। इस के पश्चात भीष्म पितामह ने राजनैतिक जीवनचर्या का निरूपण किया।

राज्य के उत्तम संचालन के लिए राजा का नीतिवान होना बहुत जरूरी होता है। शुक्रनीतिकार कहते हैं :–

अनीतिरेवसच्छिद्रं राज्ञो नित्यं भयावहम्। शत्रुसंवर्धनं प्रोक्तं बलहासकरं महत्।

नीतिं त्यक्तवा वत्तते यःसवतंत्रःस हि दुःखभाक् ।सवतंत्र प्रभुसेवा तु ह्यसिधारावहेलनम् ।

(षु.नी. 1–15–16 पृ. 7)

अर्थात् नीति शास्त्र के अभाव में राज्य और राजा दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जिस राजा को नीति शास्त्र का ज्ञान नहीं है वह हमेशा भयभीत रहता है। उसके दुश्मन दिन–दूने रात चौगुने बढ़ते हैं। उस राजा का शक्तिशाली सैन्य बल भी विनष्ट हो जाता है। नीति विहीन राजा पग–पग पर दुःख प्राप्त करता है। उसकी सेवा करना निश्चित रूप से तलवार की धार पर चलने के समान कष्टप्रद होती है। राजा जैसे सर्वसुख होने के कारण सब

के मालिक होते हैं वैसे ही थोड़ी सी असावधानी होने पर उनमें अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषों के कारण राज्य में अराजकता और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। विदुर धृतराष्ट्र से कहते हैंः–

सप्त दोषाःसदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः।

प्रायषो यैर्विनष्यति कृतमूला अपिश्र्वराः।।

सित्रयोऽक्षा मृगया पानं वाकपारूष्यं च पंचमम्।

महच्च दण्डपारूष्यमर्थदूषणमेव च ।।

(वि. नी. 1–16–17 पृ. 34)

अर्थात् स्त्रियों की आसक्ति, जुआ, शिकार, वाणी की कठोरता, अत्यन्त कठोर दण्ड तथा धन का दुरूपयोग– ये सात विनाशकारी दोष राजा कोसर्वदा त्याग देने चाहिए। इनसेसमर्थ राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं औरसारा राज्य भी नष्ट हो जाता है। इसी प्रसंग में येसात दोष बताये गये हैं। इनके त्याग से सुख और ग्रहण से सर्वविध दुःख राजा को प्राप्त होते हैं। एक नीतिकुशल राजा के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए आचार्य चाणक्य कहते हैंः–

ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्दण्डकराण्यभिरूपदायकानि प्रयच्छेत्।

(कौ.अ.2–17–1–5 पृ. 77)

अर्थात् राजा को चाहिए कि वह ऋत्विक्, आचार्य, पुराहित तथा श्रोत्रिय आदि ब्राह्मणों के लिए भूमि दान करें किन्तु उनसे कर आदि न लेकर और उस भूमि को वापिस न ले। एक राजा को कर्तव्य पारायण होना चाहिए। एक राजा को कर्तव्य निष्ठ होना चाहिए। नीतिवेत्ता राजा भर्तृहरि जीवन में कर्म को श्रेष्ठ मानते हैं। कर्तव्यनिष्ठता से उत्तम राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है। भतृहरि कहते हैंः–

नमसयामो देवान्ननु हतविधेसतेऽपि वष्गाा।

विधिर्वन्सःसोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।।

फलं कर्मायत्तं कि ममरगणैः किंच विधिना।

नमसतत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति।।

(नी. श. 95 पृ. 84)

अर्थात् संसार में सबसे उपर कर्म की हि प्रधानता है। विघ्नशांति और अभीष्ट प्राप्ति के लिए हम अमर देवताओं को नमसकार करते हैं किन्तु वे देवता भी विधि के नियंत्रण में हैं। यदि ऐसा है तो उस विधि की वंदना करें

परन्तु वह भी तो सुनिश्चित कर्म का ही फल प्रदान करते हैं। फल यदि कर्म के अधीन है तो देवता और विधि से क्या प्रयोजन? तब हम उस कर्म को ही क्यों ना प्रणाम करें, जिसके अधीन सब है। जिसके विरूद्ध विधाता का भी वश नही चलता। अतः कर्म की महिमा सर्वोपरि है। कर्तव्य भावना पवित्रता की सहचरी कही जाती है। राष्ट्र में प्रजा का संतुष्ट होना अनिवार्य होता है। राजनैतिक कार्यक्षेत्र में प्रजा मुख्य केन्द्र होती है। शुक्रनीतिकार के अनुसार प्रजा को व्यवस्थित बनाना राजा का मुख्य धर्म और कर्तव्य होता है। शुक्राचार्य कहते हैं :–

यतकार्य्ये यो नियुक्तःस भुयात् कत्कार्ययतत्परः। काव्यैव नीतिरन्या तु कुनीतिर्व्यवहारिणाम्।।

(श. नी. 2–228 पृ. 226)

अर्थात् जो व्यक्ति जिस कार्य के नियुक्त किया गया हो उसे दत्तचित्त होकर उस कार्य को सम्पन्न करने चाहिए। किसी का अधिकार छीनने की न तो इच्छा करे और न ही किसी से डाह करे। इस प्रकार के नियमों को लगा कर प्रजा में संतोष की स्थापना करनी चाहिए। संस्कृत नीति ग्रंथों में राज्य के विभिन्न अंगों का वर्णन प्राप्त होता है। राज्य के संचालन में इनका विशेष योगदान है। राज्य के विभिन्न अंगों का अनेक रूपों में वर्णन महाभारत और कौटिल्य के अर्थशासत्र में उपलब्ध होता है। शुक्रनीतिकार के अनुसार राज्य के सात अंग होते हैंः–

सवाम्यात्मसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च।

सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्द्धा नृपसमृत।।

दृगमात्यःसुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोषे बलं मन।

हसतौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्याङ्गानिसमृतानि हि।।

(षु.नी.1–61–62 पृ. 24)

अर्थात् राजा, मंत्री, मित्र, कोष राष्ट्र, दुर्ग तथा बल ये राज्य के सात अङ्ग होते हैं। शुक्राचार्य ने मंत्री को राज्य के चक्षु, मित्र को कान, कोश को मुख, बल को मन, तथा दुर्ग को हाथ राष्ट्र को पैर माना है। इन सप्ताङ्गों का मुख्य आधार राजा होता है। नीति के अनुसार राजा को कर्तव्य पारायण होना चाहिएः–

नरेष जीवलाकोऽयं निमीलति, निमीलति।

उदेत्युदीयमाने च रवाविवसरोरूहम्।।

(हि.वि.147 पृ.363)

अर्थात् राजा के नेत्र मूदने पर सारा संसार ही नेत्र मूंद लेता है कहने का भावार्थ यह है कि राजा के नष्ट होने पर सम्पूर्ण प्रजा भी नष्ट प्रायः हो जाती है और राजा के सुखी एवं प्रसन्न होने पर प्रजा भी सुखी हो जाती है। जैसे सूर्य के उदय तथा अस्त होने से कमल खिलता और बंद हो जाता है। राजनैतिक क्षेत्र में मन्त्रि परिषद् की स्थापना करनी चाहिए। मन्त्रिपरिषद् की योजना का मुख्य उद्देश्य है प्रत्येक राजकीय समस्या पर विचार करना और राज्य की उन्नति के लिए योजनाएं बनाना। सभी राज कार्यों को मंत्रणा के बाद ही क्रियान्वित किया जाना चाहिए। इस मंत्रणा को राजा एकाकी नहीं कर सकता है क्योंकि अकेले में विचारित कार्यक्रमों की सफलता संदिग्ध हो जाती है इसलिए समुचित परामर्श के लिए मन्त्रि परिषद् की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। कौटिल्य अर्थशासत्र में कहते हैंः–अज्ञात विषय को जान लेना, ज्ञात विषय का निश्चय करना, निश्चित विषय को स्थायी रूप देना, मतभेद हो जाने पर संशय का निराकरण करना, किसी विषय का आंशिक ज्ञान होने पर ही उस सारे विषय को हृदयंगम करना ये सभी कार्य मन्त्रिपरिषद् के अधीन होते हैं। (कौ.अ. पृ .44)

आचार्य शुक्र ने भी सुव्यवस्थित ढंग से राज्य संचालन हेतु मन्त्रिपरिषद् पर अधिक बल दिया है। उनकी दृष्टि में एक स्वतंत्र राजा निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी हो सकता है। वह अनुचित कार्य करने में प्रवृत्त हो सकता है। अतः उस पर अंकुश लगाने के लिए, औचित्य पथ वर उन्हें प्रेरित करने के लिए सुयोग्य सहायको का होना अनिवार्य होता है इसीलिए शुक्राचार्य ने मंत्रिपरिषद् के गठन पर बल दिया हैः–

सुहृद्भिर्भ्रातृभिःसार्द्धसभायां पुत्रबांधवैः।

राज्य कृत्यंसेनपैष्चसभ्यासैष्चिन्तयेत्सदा।।

(षु.नी. पृ.–133)

अर्थात् राजा राजसभा में अपने मित्र, भाई, बेटे, भाई–बन्धु, सेनापति एवं सभासदों के साथ मिल कर राज काज पर विचार–विर्मश करना चाहिए। शुक्राचार्य के अनुसार इस परिषद् के दस सदस्य होने चाहिए। ये दस सदस्य इस प्रकार हैंः– पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सेनापति, पण्डित, प्राङविवाक, सचिव, सुमंत्र, मंत्री, अमात्य और दूत। मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य का कार्यक्षेत्र विभाजित होना चाहिए। सभी सदस्य सभी कार्य में हाथ नहीं बटा सकते हैं। कार्यक्षेत्र का बटवारा व्यक्तिनिष्ठ योग्यता एवं पात्रता के आधार पर ही होनी चाहिए। विषय–विषेशज्ञ का कार्य एवं निर्णय निश्चय ही प्रशंसनीय होता है। साथ ही प्रजा का भी यह प्रवित्र कर्तव्य होना चाहिए कि अपनी समस्या सर्वप्रथम राजा के सामने न उपस्थित कर उचित स्रोत अर्थात् तद् विषयक मंत्री के माध्यम से ही राजा तक ही पंहुचाना चाहिए। मंत्रियों के द्वारा सूचित समस्याओं पर तर्क–वितर्क के बाद ही बहुमत के आधार पर राजा को निर्णय

देना चाहिए। सभी सदस्यों के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए राजा को दशकों की नियुक्ति करनी चाहिए। इनका कार्यकाल मात्र एक वर्ष का ही होना चाहिए। इन्हें स्थानांतरित कर देना चाहिए। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में राजनैतिक जीवनचर्या प्राप्त होती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- शुक्रनीति, व्या. डां. जगदीश चन्द्र मिश्र मु. डीलक्स आफसेट प्रिंटर्स चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी–2019
- कौटिलीय अर्थशासत्रम्ः व्या. वाचस्पति गौरेला, चौखम्बा विभवन वाराणसी–2017
- हितोपदेश, संपा., प्रो. बालशासत्री, चौखम्बासुरभारती प्रकाशन वाराणसी–2017
- विदुरनीतिः व्या. डां गुञ्जेश्वर चौधरी चौखम्बासुरभारती प्रकाशन वाराणसी–2016
- नीतिशतकम् संपा., डां. महेशचन्द्र भारतीय साहित्य भंडार सुभाष बाजार, मेरठ
- साहित्यदर्पणः, विवनाथ व्यास, मोतीलाल बनारसीदास, नवमसंसकरण
- संस्कृत हिन्दी शब्दकोष, वामन शिवराम आप्टे, प्रका. रॉयल बुक डिपो, नवीन संस्करण

महाराजनलविरचितम् 'पाकदर्पणम्' - एक जीवनामृत : भारतीय पाककला का अद्भुत निदर्शन

वैद्य स्वप्नील अनिल सहस्रबुद्धे
सहायक आचार्य, संस्कृत संहिता सिद्धान्त,
स्वामी विवेकानंद आयुर्वेद कॉलेज, श्रीगोंदा, महाराष्ट्र

बीजसार : अमृता (गुडूची/गिलोय) और निम्ब जैसे तिक्त (कटू) वनस्पत्तियों के पत्तों का शाक (सब्जी) विशेष लक्ष्य वेधक तथा आरोग्य के लिए जीवनामृत हो सकता है। इन शाक का कलात्मक पद्धति से सिद्धि प्रयोग कैसे करे यह महाराज नल ने बताया है, और शरीर स्वास्थ्य हेतू यह शाक गुणात्मकता से कितना महत्त्वपूर्ण है, यह भी वर्णन किया है। इस दृष्टि से 'पाकदर्पणम्' ग्रन्थ वाङ्मयीन, पाककलात्मक तथा आयुर्वेदीय दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

लक्ष्य वेधक शब्द : अमृता (गुडूची), निम्ब (नीम), शाक, विधि, गुण, पूगपट्ट, तिक्त, पथ्य

'कल्' धातु से उत्पन्न- (कल्- बनना, एकत्र करना, 'कड्' धातु- प्रसन्न करना) 'कला' शब्द का शाब्दिक अर्थ है- जो सुन्दर अर्थात् आनन्द प्रदान करती है। मानवी प्रवृत्तियों की बाहरी अभिव्यक्ति कला है। ज्ञान और अभ्यास के परिणामस्वरूप कुशलता से की जाने वाली कोई भी वस्तु कला है। कला का निर्माण भावनात्मक सामग्री की अभिव्यक्ति है। कला विविध घटकों की अनुभूति प्रदान करने वाली अद्भुत अवस्था तथा व्यवस्था है।

'पाककला' अनेक कला प्रकारों में से प्रायोगिक कला प्रकार में आती है। पाककला, मानव संस्कृति अबाधित रखने का काम करती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ये हमेशा भारत का उद्देश्य रहा है। सम्पूर्ण विश्व

स्वास्थ्य का प्रचार और प्रसार हेतू, प्रत्येक भारतीय कलाविष्कारो में अभिव्यक्त करता है।

यह एक कला तो है अपितु एक शास्त्र भी है। कल् क्षेपे-शास्त्र शब्द 'शासु अनुशिष्टो' से उत्पन्न है। जिसका अर्थ अनुशासन या उपदेश करना है। शास्ति च त्रायते च शिष्यते अनेन। अर्थात् जो शिक्षा अनुशासन प्रदान कर हमारी रक्षा करती है। 'पाकदर्पणम्' में यह दोनों का अद्भुत सङ्गम नल राजा ने बहुत ही चातुरता से किया है। संस्कृत साहित्य में अति प्राचीन तथा अद्वितीय साहित्य हेतू, मेरा ध्यान उसपर आकृष्ट हुआ। आयुर्वेद स्नातक होने के कारण यह कलाकृति मुझे बहुत ही अध्ययन योग्य लगी।

भारतीय पाककला पूर्णतः आयुर्वेदाश्रित है। हमारे दिग्द्रष्टा पूर्वजों के सतत् स्वाध्याय, अनुभव एवं प्रयोग धर्मितामूलक ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य देन है। वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतिग्रन्थ, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टाङ्गहृदय, अन्य महत्त्वपूर्ण निघंटु आदि के अतिरिक्त अनेक अर्वाचिन रचनाएँ जैसे पंडित रघुनाथ विरचित 'भोजन कुतुहलम्', क्षेम शर्मा विलिखित 'क्षेमकुतुहलम्', अन्नाजी बल्लाल बापता की 'पाकचन्द्रिका', 'इन्दुराकारावैद्यः', 'शिवतत्वरत्नाकरः' आदि महत्त्वपूर्ण है। इसी क्रम में आहार विज्ञान सम्बन्धी एक अतिमहत्त्वपूर्ण एवं अद्भुत ग्रन्थ- महाराजनल विरचितम् 'पाकदर्पणम्' है। 'पाक' से तात्पर्य है 'पाकक्रिया' या 'पकाया गया भोजन' तथा 'दर्पणम्' का अर्थ है 'प्रतिबिम्ब'। लोकसाहित्य तथा लोक संस्कृति के अभ्यासक डॉ. दुर्गा भागवत ने, 'पाकदर्पणम्' इस ग्रन्थ में पाश्चात्य वस्तुओं का उल्लेख ना होने के कारण हस्तलिखित यह ग्रन्थ 15 शतक पूर्व होने का अनुमान नोंद किया है। 1992 में पंडित वामाचरण शर्माजी ने पहली बार 'नलपाकदर्पणम्' यह हस्तलिखित संपादित किया। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद डॉ. इन्द्रदेव त्रिपाठी द्वारा किया गया। चौखम्भा संस्कृत संस्थान ने वाराणसी में प्रकाशित किया। डॉ. मधुलिका

द्वारा किया गया अंग्रजी अनुवाद चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी में प्रकाशित हुआ। 'अनुष्टुप' छन्द से रचित, 760 श्लोकों से तथा एकादश प्रकरणो में विभाजित यह ग्रन्थ लालित्यपूर्ण तथा प्रासादिकता रचित होने के कारण सहज है। पाक कृतियों का, बाहुक (महाराज नल) और राजा ऋृतुपर्ण संवाद, नाट्यपूर्ण संवाद रीति से भरा हुआ ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में बहुत रोचक है।

कहते है की, वाङ्मय जीवन के सर्व अङ्गो का 'दर्पण' है। जीवन भाष्य दृष्टि से, वाङ्मय का विचार करते हुए महाराजनल विरचितम् 'पाकदर्पणम्' यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में, ललित वाङ्मय और शास्त्रीय वाङ्मय दोनों दृष्टि से मौलिक वृद्धि प्रदान करता है।

'पाकदर्पणम्' में बहुत ऐसी विचित्र तथा आश्चर्यकारक पाककृतियाँ है जिन्हे पढ़ने से हम आश्चर्य चकित हो जाते है।

'पाकदर्पणम्' में से महातिक्त अमृता और निम्ब पत्र शाक प्रयोग- इस सम्बन्ध से चिकित्सा पूर्वक विश्लेषण, प्रस्तुत शोधनिबन्ध में करने का मानस है।

लोक परंपरा से गुडूची को ज्वरनाशी तथा अमृतलता कहते है। इसका श्रीहरि विष्णु से सम्बन्ध है। निम्बवृक्ष पर चढ़ी हुई यह वल्लीका उत्तम औषधी गुणों वाली कहते है। तथा निम्ब वृक्ष के नीचे पाताल लोक तक जाने वाले जड़ों का सम्बन्ध महादेव के एकादश रुद्रो में से एक से है। निम्ब का धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व है। दत्त सम्पद्राय में निम्ब वृक्ष को अनन्य असाधारण महत्त्व है। भारतीय नवसंवत्सर का स्वागत ध्वजा लगा के किया जाता है। उस ध्वजा में नीम के पत्ते लगाते है। थोड़े पत्ते खाते भी है तथा उसके श्वेत पुष्पों का भी सेवन करते है। मान्यता है, प्रभू श्रीराम के आगमन हेतू आनन्दोत्सव, ध्वजा लगाकर किया जाता है। भूत उतारने, ज्वर निवारने, तथा कीटकनाशनार्थ पत्तों का उपयोग, देखने को

मिलता है। लेकिन लोक परंपरा में दैनंदिन सब्जी बनाने एवं खाने में उसका उपयोग दिखाई नहीं देता है। 'पाकदर्पणम्' में इन दोनों वनस्पतियों के पत्र का शाक अत्यंत महातिक्त (अत्यंत कटू) होते हुए भी अत्यंत कुशलता से कैसे बनाएं और उसकी उपयुक्तता क्या है यह भी इस ग्रन्थ में वर्णित है।

'पाकदर्पणम्' में अमृता और निम्ब पत्र शाक का श्लोकबद्ध वर्णन :

(i) अमृतपत्रशाकनिर्माण विधिर्गुणाश्च -

ततोऽमृतालतोत्पन्नं वर्णमानीय शोभनम्।
तत्तिक्तमोचनं कुर्यान्निशाचूर्णेन यत्नतः ॥1॥
शंखचूर्णेन वा कुर्यात् क्रमुकस्य फलेन वा।
तरुदुग्धेन वा कुर्यात्तद्दलैस्तण्डुलेन वा ॥2॥
अनेनैव प्रकारेण त्यक्ततिक्तञ्च तद्दलम्।
प्रक्षिपनं तद्दलैर्माषं मरीचाजाजिसैन्धवम् ॥3॥
घृतेन भर्जयेत्तस्मात् तेन त्वमृतभर्जितम्।
रुच्यं बल्यं त्रिदोषघ्नं दीपनं धातुवर्धनम् ॥4॥ 1

(ii) निम्बपत्रशाकनिर्माण विधिर्गुणाश्च -

पत्रं निम्बस्य तरुणं समादेयमनामयम्।
पचेत्पौनर्नवैः पत्रैमत्स्याक्षाश्च फलैस्तथा ॥1॥
तद्वत मोचयेतिक्तं कार्पासस्य दलेन वा।
ततः सम्भारसंयुक्तं तस्मिन् मधुरता भवेत् ॥2॥
वासयेद् घनसारेण पूगनेत्रेण वेष्टयेत्।
त्रिदोषशमनं पथ्यं सर्वव्याधिहरं शुभम् ॥3॥ 2

वाङ्मयीन लालित्यदृष्टि से श्लोक का महत्त्व :

ऋतुपर्ण के नगर में स्वयं को अश्वविद्या एवं पाकविद्या में प्रवीण घोषित करते हुए निवास करते है। राजा ऋतुपर्ण-बाहुक को, पाककृतियों

तथा उनके गुणधर्म के सम्बन्ध में बहुत ही जिज्ञासा वृत्ति से प्रश्न पुछते हैं और बाहुक उस प्रश्नों का लालित्य से, प्रासादिक भाषा से, पाककला की परिभाषा से तथा आयुर्वेदीय गुणों के साथ संवादात्मक उत्तर देते है।

विधि के लिए लगने वाली वस्तुओं का वर्णन, लोकव्यवहार की परंपरा अनुसार सहजता से किया है। उदाहरणार्थ-

ततो ऽ मृतालतोत्पन्नं पर्णमानीय शोभनम्।

अथवा

पत्रं निम्बस्य तरुणं समादेयमनामयम्।

श्लोकार्थ- अमृता (गुडूची) लता के सुंदर पत्रों को लेकर हल्दी-चूर्ण से उसकी तिक्तता (कटूता) दूर करें।

अथवा

निरोगी (साफ) तथा तरुण (ताजा) निम्ब के पत्र लेकर पुनर्नवा के पत्र के साथ अथवा मत्स्याक्षि (काकमाची/मकोय) के फल के साथ पकाएँ अथवा कार्पास पत्रों के साथ पकाएँ उससे कटूता दूर हो जाएगी।

इसमें शोभनम्, तरुणं, ऐसा पत्रों का उल्लेख कर के लोकमानस को स्पर्श किया है। उससे शोभनम्, तरुणं याने निश्चित क्या ये कहने कि आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार व्यञ्जकता से, शास्त्रीय कलात्मक भाषा लाघवता का प्रयोग किया हुआ दिखता है। उससे समृद्ध संस्कृत भाषा का ज्ञान नलराजा को अवगत था। लोकभाषा और लोकमानस नलराजा को अवगत था ये स्पष्ट होता है।

पाककला सिद्धि निर्देशन :

(i) अमृता पत्र शाक बनाने की विधि तथा गुण -

अमृता (गुडूची) लता के सुन्दर पत्तों को लेकर हल्दी चूर्ण के साथ इसकी तिक्तता (कटूता) को दूर करें या शङ्ख के चूर्ण क्रमुक (पूंगीफल) का फल, बरगद का दूध (वट दूग्ध) या बरगद का पत्ता अथवा चावल के साथ

उसकी तिक्तता (कटूता) को दूर करें। इसी प्रकार तिक्तता रहित उन पत्तों को बटलोही में (कढाई/पात्र) छोड़कर उनके साथ उडद, मरिच (मिरे), जीरा या सेंधा नमक (सैन्धव) के चूर्ण को मिला दे और घी के साथ भून लें। यह घी के साथ भूनने पर अमृत के साथ भूनने की तरह हो जाता है। यह रुचिकारक, बलदायक, त्रिदोषनाशक, जाठराग्निदीपक तथा धातुवर्धक होता है।

(ii) निम्ब (नीम) के पत्तों का शाक बनाने की विधि तथा गुण-

निरोग स्वच्छ एवं तरुण नीम के पत्तों को लेकर पुनर्नवा के पत्तो के साथ या मत्स्याक्षि (मकोय/काकमाची) के फलों के साथ पकावे अथवा कपास के पत्तों के साथ पकाकर उसकी तिताई को दूर करें। इससे उसमें मिठास आ जाती है। तदनन्तर कर्पूर से सुगन्धित बना दें तथा पूगपट्ट नेत्र (पत्ते से निर्मित पात्र) से आवेष्टि कर दें। यह खाने से त्रिदोष को शान्त करता है। पच्य है तथा अच्छी तरह सभी रोगों को दूर करता है।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण :

वैशिष्ट्यपूर्ण शाक क्यों और कैसे बनाएँ इसका निवेदन यह नलराजा के प्रगल्भ बुद्धिमत्ता का परिचय कर देता है। 'पाकदर्पणम्' ग्रन्थ कि चिकित्सा करते हुए नलराजा के आयुर्वेद ज्ञान का दर्शन अचंभित कर देता है। वास्तविकता लोकपरंपरा में पाककला, दिनचर्या, ऋृतचर्या तथा प्रकृति अनुसार करने की परंपरा है। लेकिन नलराजा, आयुर्वेद शास्त्र का पाककला में यथोचित अनुसरण चातुरता से करते हुए दिखाई देता है।

अमृतापत्र शाक के घटक द्रव्यों का आयुर्वेदीय चिकित्सक विश्लेषण-

अमृता:

गुडूची, कटुकातिक्ता, स्वादुपाका, रसायनी, संग्राहिणी, कषायोष्णा, लघ्वी, बपल्याग्निदीपनी ॥

दोषत्रयाम तृड्वाहमेहकासांश्च पाण्डुताम्।
कामला कुष्ठवातास्रज्वर कृमिवमीहरेत् ॥

भा.प्र.4

हरिद्रा :

हरिद्रा कटुकातिक्ता रूक्षोष्णा कफपित्तनुत्।
वर्ण्या त्वग्दोषमेहास्रशोथपाण्डुव्रणापहा ॥

भा.प्र.5

पूग (क्रमुक) :

पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तजित्।
मोहनं दीपनं रुच्यं आस्यवैरस्यनाशनम् ॥
आर्द्र तद् गुर्वभिष्यन्दि वह्निदृष्टिहरं स्मृतम्।
स्विन्नं दोषत्रयच्छेदि दृढमध्यं तदुत्तमम् ॥

भा.प्र.6

वट :

वटःशीतो गुरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापहः।
वर्ण्योविसर्पदाहघ्नः कषायो योनिदोषहृत्।।

भा.प्र.7

तण्डूल :

स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चसः।
कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः ॥

अ.हृ.8

उडीद (माष) :

माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः।
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत् ॥

अ.हृ.9

मरिच :

मरिचं कटुकं तीक्ष्णं दीपनं कफवातजित्।
उष्णं पित्तकरं रूक्षं श्वासशूलकृमीन्हरेत् ॥

भा.प्र.10

सैंधव :

सैन्धवं तत्र सस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत्।
लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम् ॥

अ.हृ.11

घृत :

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुःशुक्रचक्षुषाम्।
बालवृद्धीप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम् ॥
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्।
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम् ॥
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम्।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत् ॥

अ.हृ.12

निम्बपत्र शाक के घटक द्रव्यों का आयुर्वेदीय चिकित्सक विश्लेषण -

निम्ब :-

निम्बः शीतो लघुर्ग्राही कटुपाकोऽग्निवातनुत्।
अहृद्यः श्रमतृड्कासज्वरारुचिकृमिप्रणुत्।।
व्रणपित्तकफच्छर्दीकुष्ठहृल्लासमेहनुत् ॥

भा.प्र.13

पुनर्नवा :

कटुकषायानुरसा पाण्डुघ्नी दीपनी परा।
शोफानिलगरश्लेष्महरी व्रण्योदरप्रणुत्॥

भा.प्र.14

काकमाची :-

काकमाची त्रिदोषघ्नी स्निग्धोष्णा स्वरशुक्रदा।
तिक्ता रसायनी शोथकुष्ठार्शोज्वरमेहजित्।।
कटुर्नेत्रहिता हिक्काच्छर्दिहृद्रोगनाशिनी ॥

भा.प्र.15

कार्पास :-

कार्पासको लघुः कोष्णो मधुरो वातनाशनः1
तत्पलाशं समीरघ्नं रक्तकृत्मूत्रवर्धनम् ॥
तत्कर्णापिडकानादपूयस्त्रावविनाशनम्।
तद्बीजं स्तन्यदं वृष्यं स्निग्धं कफकरं गुरु ॥ भा.प्र.16

संभार :-

सकेसरं चर्तुजातं त्वक्पत्रैलं त्रिजातकम्।
पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रोचनदीपनम् ॥
सुगन्धि सर्वपेयानां व्यञ्जनानां च वासनम्।
लेहानां खाद्यपाकानां चूर्णानां च प्रयोजयेत् ॥

अमृता (गुडूची) और निम्ब पत्र का पोषणमूल्य -

अमृता (Giloy) -

Protein 4.13%, fats 3.12%, Ash : 12.01%, Neutral Detergent fibre (Structural Components of the plant) : 37.90%

Giloy is a source of many important plant compounds, namely tepenoids, Alkaloids,lignans & steruids.laboratory studies suggest these compounds have antimicrobial, antiinflametory, antioxident & antidiabetic properties, among other benefits. Studies have established that giloyleaves are rich in

vit.c & minerals. While the starch, from the stem (called guduchi satva) is full of calcium & iron. The stem extract helps control diabetes & arthritis, strenghtens immune response & aids in digestion.

निम्ब (Neem) -

Neemleaf meal was analysed in a study that found it has 18.10% crude protein & relatively high crude fibre of about 15-56% Though the gross energy containt was high at 4.16 kcal/g. The metabdizble energy islow.

Organic Virgin Neem Oil is comprised of approximately 40% saturated fatty acids, 40% monounsaturated fatty acids & up to 7% polyunsaturated fatty acids in the form oflindeic Acid, an important omega-3 essential fatty acid.

It has a rich nutrient profile containing protein, carbohydrats, mineralslike Vitamin C, Phosphorus, Calcium & Carotene. Neem also contain glutanic acid, aspartic acid, praline & fatty acids[19]

Consuming neemleaves helps in reduction in inflammation in the gastrointestinal tract. Neemleaves also help in reducing ulcers & wide range of other intestinal issues, such as constipation, bloating & cramping if taken regularly.[20]

ऋग्वेद से लेकर चरक, सुश्रुत, वाग्भटाचार्यादि जैसे तपस्वी मुनीयों तक, अन्नात्पुरुषः। स वा एषा पुरुषोऽन्नरसमयः। या अद्यतेवा अत्ति च वा इति अन्न या- अन्न न निन्द्यात् अन्न न परिचक्षीत अन्नं बहुकुर्वीत तद्व्रतम्। या सर्व द्रव्यं पाञ्च भौतिकम्। या त्रयोपस्तंभ में आहार एक उपस्तंभ जैसि परंपरा, प्रासादिकता से आगे कहनेवाला अनुष्टुभ छंद रचित प्रायोगिक पाककला का 'पाकदर्पणम्' ग्रन्थ, भारतीय पाकाविष्कार का उत्तम उदाहरण है। जैसे, पाकसिद्धिनिर्देशन- अमृता पत्र और निम्ब पत्र शाक - श्लोक क्र. 462-465 तथा 466-468 में वर्णित है।

शरीरस्वास्थ्य हेतू, दैनंदिन आहार में शाक के रूप में कैसे उपयोग में लाएँ यह महाराज नल ने संवाद के माध्यम से प्रतिपादित किया है। गुडूची, नीम जैसी महातिक्त वनस्पतियाँ प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ पाककला, आयुर्वेद शास्त्र तथा संस्कृत वाङ्मय में मौलिक तथा पथदर्शी रहेगा। उसमें बताई गयी हर पाककृति 'पाकदर्पणम्' का महत्त्व अधोरेखित करती है। सत्यतः, ऐसी पाककृतियाँ प्रत्यक्ष लोक व्यवहार में लाकर पूरे विश्व में अनेक आरोग्य कि आपदाओं पर अमृतवत् काम करेगी यही आशादायक स्थिति है।

प्रमेह (Diabetis) व्याधि, कर्करोग (Cancer) आदि व्याधियाँ चिन्ता का विषय है। ऐसी विपदाओं में अमृता और निम्ब वनस्पतीयाँ व्याधिक्षमत्व बढ़ाकर स्वास्थ्य रक्षण करती है। स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्। आतुरस्य विकार प्रशमनम् च ॥ यह आयुर्वेद का हमेशा उद्देश रहा है। एक प्रभावी शस्त्र के रूप में यह पाककृतियाँ महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं इसलिए बड़ी मात्रा में इसका प्रचार-प्रसार होना तथा आयुर्वेदीय पाकशाला (आयुर्वेदीय रेस्टोरन्ट) का आरंभ करना यह कालोचित होगा।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:

1) महाराजनलविरचितम्- 'पाकदर्पणम्', हिंदी व्याख्याकार- डॉ. इन्दद्रेव त्रिपाठी, आयुर्वेदाचार्य प्रकाशक- चौखंभा संस्कृत भवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्मरण- वि. सं. 2076 (2019), पृष्ठ क्र. 66, श्लोक क्र. 462-465.
2) तत्रैव- पृष्ठ क्र. 66, श्लोक क्र. 466-468.
3) महाराजनलविरचितम् 'पाकपर्दणम्- हिंदी व्याख्याकार डॉ. (आयुर्वेदाचार्य) त्रिपाठी इन्द्रदेव, चौखंबा संस्कृत भवन प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 2019.
4) श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत- भावप्रकाशनिघण्टुः, विमर्शकार- डॉ. कृष्णचन्द्र चुनेकर, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1999, गुडूच्यादिवर्गः, श्लोक क्र. 8-10, पृ.क्र. 269.
5) तत्रैव- हरीतक्यादिवर्गः, श्लोक क्र. 197, पृ.क्र. 114.
6) तत्रैव- आम्रादिफलवर्गः, श्लोक क्र. 50, 51, पृ.क्र. 562.
7) तत्रैव- वटादिवर्गः, श्लोक क्र. 2, पृ.क्र. 513.
8) श्रीमद्वाग्भट विरचित- अष्टांग हृदय सूत्रस्थान, लेखक- वैद्य दि. प्र. गाडगीळ, वैद्य यशःश्री जोशी, मनकर्णिका पब्लिकेशन, चिंचवड गांव, पुणे, आठवी आवृत्ती 6 अप्रैल 2023, षष्ठोऽध्यायः, अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय, श्लोक क्र. 4, पृ.क्र. 108.
9) तत्रैव- श्लोक क्र. 21, 22, पृ.क्र. 111.
10) श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत- भावप्रकाशनिघण्टुः, विमर्शकार- डॉ. कृष्णचन्द्र चुनेकर, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1999, हरीतक्यादि वर्गः, श्लोक क्र. 60, पृ.क्र. 17.
11) श्रीमद्वाग्भट विरचित- अष्टांग हृदय सूत्रस्थान, लेखक- वैद्य दि. प्र. गाडगीळ, वैद्य यशःश्री जोशी, मनकर्णिका पब्लिकेशन, चिंचवड गांव, पुणे, आठवी आवृत्ती 6 अप्रैल 2023, षष्ठोऽध्यायः

अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय, श्लोक क्र. 144, पृ.क्र. 128.

12) श्रीमद्वाग्भट विरचित- अष्टांग हृदय सूत्रस्थान, लेखक- वैद्य दि. प्र. गाडगीळ, वैद्य यश श्री जोशी, मनकर्णिका पब्लिकेशन, चिंचवड गांव, पुणे, आठवी आवृत्ती 6 अप्रैल 2023, पंचमोऽध्यायः
द्रवद्रव्यविज्ञानीय अध्याय, श्लोक क्र. 37-39, पृ.क3. 96.

13) श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत- भावप्रकाशनिघण्टुः, विमर्शकार- डॉ. कृष्णचन्द्र चुनेकर, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1999, गुडूच्यादिवर्गः, श्लोक क्र. 94, पृ.क्र. 329.

14) तत्रैव- श्लोक क्र. 231, पृ.क्र. 422.

15) तत्रैव- श्लोक क्र. 247, पृ.क्र. 438.

16) तत्रैव- श्लोक क्र. 150-152, पृ.क्र.. 374.

17) https://wwwhealthline.com

18) http://pharmeasy.in

संस्कृत नवगीत : भाषा और संस्कृति
(प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र के विशेष संदर्भ में)

डॉ. समय सिंह मीना

सह-आचार्य, संस्कृत

राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा (राज.)

शोध–सारः– कोई भी साहित्य तभी युगानुकूलता और समकालीनता को धारण करता है जब उसमें तत्कालीन समाज के सकल तत्त्व जीवन्त रूप ले उठते हैं। नवगीत साहित्य भी युगानुकूल परिस्थितियों की ही उपज माना जाता है। नवगीत गीत–यात्रा का वह वर्तमान पड़ाव है, जहाँ गीतविधा अपनी अस्मिता के लिये ठहर कर सोचने लगी है और नवयुग की 'नवता' एवं आधुनिकता बोध को लेकर, जहाँ उसने अपने को युगानुकूल बनाने का उपक्रम किया है। वह शाश्वत गीत–धारा का एक ऐसा मोड़ है, जहाँ वह अपनी परम्परा से जुड़ी होकर भी सर्वथा उससे भिन्न है, भिन्न होकर भी जो अपना 'उत्स' अपनी परम्परा में ढूँढती है। गीत से नवगीत का वह सम्बन्ध है जो कविता से नयी कविता का। अर्थात् कविता शब्द में जिस प्रकार 'नयेपन' की विशेषता संयुक्त कर 'नयी कविता' शब्द का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार 'गीत' शब्द में 'नव' विशेषण को संयुक्त कर 'नवगीत' का नामकरण किया गया है। अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय की काव्य, नाट्य, कथा और समीक्षा, इन चारों विधाओं में संख्या एवं गुणवत्ता की दृष्टि से समुत्कृष्ट प्रणेता; 'त्रिवेणी कवि', "अभिराज" इस उपनाम से तथा सुशोभित,संस्कृत साहित्यानुरागियों के हृदयसम्राट् आचार्य राजेन्द्र मिश्र एक महान् एवं विलक्षण व्यक्तित्व के धनी हैं। आधुनिक संस्कृत साहित्य जगत् के वे 'अभिनव–कालिदास' कहे जा सकते हैं। अद्भुत व्यक्तित्व एवं विलक्षण सारस्वत प्रतिभा के धनी अभिराज राजेन्द्र मिश्र की विविध विधामय विपुल काव्य शृंखला उन्हें मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठापित करती है। कविवर अभिराज राजेन्द्र मिश्र द्वारा प्रणीत संस्कृत नवगीत रचनाओं–वाग्वधूटी, मृद्वीका, श्रुतिम्भरा, मधुपर्णी तथा अभिराजगीता में समस्त तत्त्वों का साकार चित्रण किया गया है। उनके नवगीतों की भाषायी और सांस्कृतिक संरचना विलक्षणता और युगानुकूलता लिए हुए है। उनकी नवगीत रचनाओं में परिलक्षित ललित एवं सरल पदबन्ध, रसपेशलता, यथार्थबोध, आधुनिक जीवन–दृष्टि, लोकानुरक्ति, अप्रस्तुत विधान का मौलिक अभिव्य जन, समष्टिमूलक चेतना, प्रकृति, सौन्दर्य एवं प्रेम की नवीन प्रस्तुति, समृद्ध सांस्कृतिक एवं भाषागत चेतना, लोकजीवन की सहजता, वस्तु परकता एवं वैयक्तिकता का समन्वय, सामाजिक विसंगतियों, अन्याय, शोषण के प्रति क्षोभ, करुणा और व्यंग्य की तीखी अभिव्यक्ति, बिम्ब–विधान एवं प्रतीकों की मौलिक व नवीनतम प्रस्तुति, लोक–व्यवहार में प्रयुक्तसरल व सहज शब्दावली तथा शैल्पिक नवीनता उन्हें एक कालजयी गीतकार सिद्ध

करती है।

संकेताक्षर :– प्रतिबिम्बित, प्रतिफलित, प्रातिभासिक, समुल्लसित, अभिराज, वाग्वधूटी, मृद्वीका, श्रुतिम्भरा, मधुपर्णी, अभिराजगीता, समाराधक, शाम्भवी, पामराणां तथा तृणशालिका।

शोध–पत्रः– साहित्य समाज का दर्पण है। इस लोकप्रसिद्धि के अनुसार साहित्य रूपी दर्पण में समाज प्रतिबिम्बित होता है। एक साहित्य को समाज जैसा महसूस करता है वही उसके साहित्य में अथवा काव्य में प्रतिफलित होता है। समाज के प्रति संवेदनशीलता ही कवित्व का मूल होता है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी अपने 'अभिनवकाव्यालङारसूत्रम्' में लोकजीवन के स्वरूप का निर्वचन करते हुए राजशेखर के सन्दर्भ से कहते हैं कि– **"जीवन कवि के मतिदर्पण में प्रतिबिम्बित होता है।** राजशेखर ने भी कहा है– महाकवियों के मतिदर्पण में विश्व प्रतिफलित होता है। परन्तु महाकवियों के मति–दर्पण का यह प्रतिबिम्बसाधारण दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान निर्जीव नहीं होता। अतः वह न तो मिथ्या है, न प्रातिभासिक और न ही व्यावहारिक। वह परमार्थतः सत्य ही है। साहित्य में प्रतिफलित जीवन भी किसी एक व्यक्ति का, केवल धीरोदात्त नायकों का, पौराणिक ऋषियों या केवल व्यक्तिमात्र का नहीं होता अपितु समग्र समाज और राष्ट्र का भी जीवन होता है।"[1]

इसी कथन को और स्पष्ट करते हुए त्रिपाठी जी आगे लिखते हैं– "साहित्य में सभी–आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के जीवन सर्वांगीण और नवनवोन्मेषशाली होते हैं। जीवन यहाँ प्रतिबिम्बता को प्राप्त करता है, समुल्लसित होता है और वृद्धि को प्राप्त करता है। बिम्ब का विभाजन करता हुआ और उसे संस्कृत करता हुआ यह प्रतिबिम्बि अदभुत है। इसमें समवेत होकर जीवन नवीनता को प्राप्त करता है। जीवन में साहित्य है और साहित्य में जीवन है। इनके द्वारा की गयी सिद्धि सम्प्रवर्तित होती है।"

जीवने चासितसाहित्यंसाहित्ये जीवनं यथा।

परसपरकृता सिद्धिरनयोःसम्प्रवर्तते।।[2]

साहित्य और समाज के परस्पर तादात्म्य के विषय में कविवर अभिराज जी अपने लेख "अर्वाचीन संस्कृत कविता में जीवनदर्शन" में लिखते हैं कि– "वस्तुतः कला एवं कलाकार के समान काव्य एवं काव्यकार (कवि) के बीच कोई तादात्म्य होना चाहिये। ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन भी इस सच्चाई को प्रकारान्तर से स्वीकार करते हैं। उन्हीं के शब्दों में– **"तसमान्नासत्येव तद्वसतु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवसतः कवेसतदिच्छाया तदभिमतरसा᳭तां न धत्ते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वाति–शयं पुष्णाति। सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते।"** ध्वन्यालोक–3/43 पर कारिकावृत्ति

इसी बात को ध्वनिकार खुलकर कहते हैं–

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।

यथाऽसमै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

.....

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।

व्यवहारयति यथेष्टंसुकविः काव्येसवतन्त्रतया।।[3]

इसी क्रम में डॉ. उमेशदत्त भट्ट एवं डॉ. मंजुलता द्वारा लिये गये साक्षात्कार के प्रश्नसंख्या (24) आप के सृजन का प्रमुख परिवेश क्या है? का उत्तर देते हुए अभिराज जी कहते हैं– **"मेरेसृजन का प्रमुख परिवेश है प्राचीन जीवन मूल्यों की प्रत्यग्र चरितार्थता। परम्पराओं का अभिनवीकरण,सामाजिकसंवेदना की अविच्छिन्नता की पुष्टि! मैंसर्जना के नाम पर थोथी भड़ास निकालने अथवाससती लोकप्रियता प्राप्त करने का पक्षधर नहीं।"**[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि परम्परानुरूप कविवराभिराज के साहित्य में अथवा संस्कृत नवगीत रचनाओं में वही सब कुछ चित्रित है, वर्णित है जो कुछ कवि ने स्वयं अनुभूत किया है। उनके साहित्य में समकालीन सामाजिक विसंगतियों तथा सुसंगतियों का जीवन्त चित्रण है।

हिन्दी के प्रगतिवादीसमीक्षक मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि– **"आधुनिक युग के साहित्य में सामाजिक सन्दर्भों और राजनैतिक परिसिथतियों का जितना निर्णायक और व्यापक प्रभाव पड़ रहा है उतना पहले कभी नहीं रहा। आज के जमाने में साहित्य की दुनियाँ केवल सौन्दर्य और प्रेम की ऐकान्तिक साधना के बल पर नहीं चलती, वह समाज के आर्थिक ढाँचे, राजनैतिक परिवेश, सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक संरचनाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है।"**[5]

इस सम्बन्ध में अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर आचार्य हर्षदेव माधव लिखते हैं कि– "काव्य चैतन्य का स्पन्द युग प्रभाव है। प्रत्येक युग में काव्य प्रवाह में परिवर्तन आते ही हैं।.....अतः प्रतियुग युगचेतना अनुभव कर नये तत्त्वों को स्वीकारते हैं।.....ऋतुओं के प्रभाव से जो पल्लवित होता है, वह यह वृक्ष है। जो अपरिवर्तित रहता है, वह यह पत्थर है। संस्कृत काव्य कर्म में महिलाओं की पीड़ा, निम्न वर्ग की यातना, सामान्य जनता का आक्रोश, नेताओं की भर्त्सना, धर्मदम्भ का तिरस्कार, प्रेम में सहानुभूति का निरूपण यह सब युग प्रभाव से जन्मा है। वही काव्य का सौन्दर्य है।" यथा–

"युगप्रभावः काव्यचैतन्यसपन्दः।

प्रतियुगं काव्यप्रवाहे परिवर्तनान्यागच्छन्त्येत।"[6]

अतः प्रतियुगं युगचेतनामनुभूय नूतनतत्त्वानांस्वीकारं कुर्वन्त्येव।..... ऋतूनां प्रभावेण यः पल्लवितो भवत्यसौस वृक्षः, अपरिवर्तितो भवत्यसौस पाषाणः। संस्कृतकाव्यकर्मणि नारीणां पीडा, निम्नवर्गस्य यातना, सामान्यजनताया आक्रोशः, नेतृभर्त्सना, धर्मदम्भं प्रति तिरस्कारः, प्रेम्णिस्वानुभूतिनिरूपणम् एतत् सर्वं युग प्रभावजन्यमेवास्ति। वस्तुतः क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रमणीयता रूपम्। तदेव काव्यसौन्दर्यमप्यस्ति।[7]

कोई भी साहित्य तभी युगानुकूलता और समकालीनता को धारण करता है जब उसमें तत्कालीन समाज के सकल तत्त्व जीवन्त रूप ले उठते हैं। नवगीतसाहित्य भी युगानुकूल परिसिथतियों की ही उपज माना जाता है। नवगीत गीत–यात्रा का वह वर्तमान पड़ाव है, जहाँ गीतविधा अपनी अस्मिता के लिये ठहर कर सोचने लगी है और नवयुग की 'नवता' एवं आधुनिकताबोध को लेकर, जहाँ उसने अपने को युगानुकूल बनाने का उपक्रम किया है। वह शाश्वत गीत–धारा का एक ऐसा मोड़ है, जहाँ वह अपनी परम्परा से जुड़ी होकर भी सर्वथा उससे भिन्न है, भिन्न होकर भी जो अपना 'उत्स' अपनी परम्परा में ढूँढती है। गीत से नवगीत का वह सम्बन्ध है जो कविता से नयी कविता का। अर्थात् कविता शब्द में जिस प्रकार 'नयेपन' की विशेषता संयुक्त कर 'नयी कविता' शब्द का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार 'गीत' शब्द में 'नव' विशेषण को संयुक्त कर 'नवगीत' का नामकरण किया गया है।[8]

हिन्दी नवगीतकार श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने अपने गीत–संकलन 'गीतागिनी' में इस नवीन शैली को 'नवगीत' नाम से पुकारा था, परन्तु संस्कृत में नवगीत की अवतारणा 1930–1932 के आस–पास हुई। इसके प्रथम सबल और सफल प्रयोक्ता आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री माने जाते हैं जिनके नवगीतों की मसृणता, नव्यता और अभिव्यति जन अन्तःकरण को बरबस आकृष्ट कर लेती हैं। इनके इस नववर्त्मगामी लेखन को तत्कालीन शीर्षस्थ विद्वानों ने अभिनव शैली के गीत कहकर इन्हें सम्मान दिया है। अपनी प्रथम संस्कृत–पुस्तक 'काकली' की भूमिका में स्वयं शास्त्री जी ने अपनी रचनाधर्मिता को नयी शैली का लेखन कहा है।[9]

कथ्य की नवीनता, भोगी हुई अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, आधुनिकता बोध, बौद्धिकता और भावात्मकता का समन्वय, समन्वयात्मक सांस्कृतिक चेतना, नवीन जीवन–मूल्यों की प्रतिष्ठा, वैज्ञानिक जीवन–दृष्टि, वैयक्तिकता और सामाजिकता का समन्वय, सर्जनात्मक व्यक्तित्व की खोज तथा भाषा और शिल्प सम्बन्धी नवीनता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि "पारम्परिक गीतों से भिन्न 'नवगीत' आधुनिक संसकृत–काव्य की वह विधा है जो युगबोध सम्पन्न जीवन–मूल्यों की भोगी और झेली हुई अनुभूतियों को उसके भारतीय परिवेश में आधुनिक जीवन–दृष्टि एवं लयात्मक सम्वेदना प्रदान करती है।" इस प्रकार संस्कृत नवगीत साहित्य में एक नई दृष्टि के साथ समाज को देखा गया है, फलतः इसमें भाषा और संस्कृति के नूतन प्रतिमान परिलक्षित

होते हैं।

भाष् धातु से अङ् और टाप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'भाषा'[10] शब्द से तात्पर्य है– मानव के परसपर विचार सम्प्रेषण व वार्तालाप का माध्यम। भाषा के अन्दर वे सभी भाषायी घटक समाहित हो जाते हैं जो साहित्य में प्रयुक्त होते हैं। प्रायः प्रत्येकसाहित्यिक विधा अपनी बात एक पृथक् अंदाज में व्यक्त करती है और तदनुरूप ही उसमें भाषा के शैल्पिक और कला पक्ष का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार सम् उपसर्ग पूर्वक कृञ् धातु से भूषण अर्थ में 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे (अष्टाध्यायी 6/1/137) सूत्र से सुट् का आगम होकर क्तिन् प्रत्यय के योग से सांस्कृति शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है– भूषणभूतसम्यक् कृति अथवा चेष्टा। इस अर्थ में संस्कृति शब्द से आशय उन चेष्टाओं से हैं जो मानव–जीवन के समसत क्षेत्रों में उन्नति को इंगित करती हैं। इस प्रकार भूषणभूतसम्यक् कृतियों का सम्पूर्ण क्षेत्र संस्कृति का क्षेत्र है। वस्तुतः यह शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों और उनके परिष्कार का स्रोत है। संस्कृति मानव जीवन की सर्वश्रेष्ठ धरोहर है। जीवन जीने अथवा विचार करने के उनसभी तरीकों को संस्कृति कहा जा सकता है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं तथा जिन्हें समाज द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाती है।

अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय की काव्य, नाट्य, कथा और समीक्षा, इन चारों विधाओं में संख्या एवं गुणवत्ता की दृष्टि से समुत्कृष्ट प्रणेता; 'त्रिवेणी कवि', "अभिराज" इस उपनाम से तथा सुशोभित,संस्कृत साहित्यानुरागियों के हृदय सम्राट् आचार्य राजेन्द्र मिश्र एक महान् एवं विलक्षण व्यक्तित्व के धनी हैं। आधुनिक संस्कृत साहित्य जगत् के वे 'अभिनव–कालिदास' कहे जा सकते हैं। अद्भुत व्यक्तित्व एवं विलक्षण सारस्वत प्रतिभा के धनी अभिराज राजेन्द्र मिश्र की विविध विधामय विपुल काव्य श्रृंखला उन्हें मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठापित करती है। कविवर अभिराज राजेन्द्र मिश्र द्वारा प्रणीत संस्कृत नवगीत रचनाओं–वाग्वधूटी, मृद्वीका, श्रुतिम्भरा, मधुपर्णी तथा अभिराजगीता में सस्सत तत्त्वों का साकार चित्रण किया गया है। उनके नवगीतों की भाषायी और सांस्कृतिक संरचना विलक्षणता और युगानुकूलता लिए हुए है। उनकी नवगीत रचनाओं में परिलक्षित ललित एवं सरल पदबन्ध, रसपेशलता, यथार्थबोध, आधुनिक जीवन–दृष्टि, लोकानुरक्ति, अप्रस्तुत विधान का मौलिक अभिव्यति जन, समष्टिमूलक चेतना, प्रकृति सौन्दर्य एवं प्रेम की नवीन प्रस्तुति, समृद्ध सांस्कृतिक एवं भाषागत चेतना, लोकजीवन की सहजता, वस्तुपरकता एवं वैयक्तिकता का समन्वय, सामाजिक विसंगतियों, अन्याय, शोषण के प्रति क्षोभ, करुणा और व्यंग्य की तीखी अभिव्यक्ति, बिम्ब–विधान एवं प्रतीकों की मौलिक व नवीनतम प्रस्तुति, लोक–व्यवहार में प्रयुक्तसरल व सहज शब्दावली तथा शैल्पिक नवीनता उन्हें एक कालजयी गीतकार सिद्ध करती है।

कविवर अभिराज जी सदैव लोकमंगल के समाराधक रहे हैं। उनके

प्रत्येक नवगीत संकलन में लोकमंगल की कामना परक रचनाएं अवश्य मिलती हैं। वे लिखते हैं–

मधुरं विचिन्तयामो मधुरं हि मानसेसयात्

मधुरे तु जीवनेऽसिमन् माधुर्यमेव भूयात् !!

कलहादिकेन किंसयात्

विरहादिकेन किंसयात्

स›ममये हि लोकेसायुज्यमेव भूयात्

मधुरे तु जीवनेऽसिमन् माधुर्यमेव भूयात्!![11]

अर्थात् कविवर मिश्र जी मनुष्य मात्र को संदेश देते हुए कहते हैं कि हम सब मन–वचन–कर्म अपितु सम्पूर्ण जीवन मधुरता से युक्त हो। हम सभी के जीवन में कोई विघ्न–बाधा नहीं हो, हम सब आपसी वैमनसय, कलह, ईर्ष्या, द्वेष से रहित होकर परस्पर मिलजुल कर रहें। लगभग इसी पुनीत भाव को अन्यत्र इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है–

चिन्तनीयंसदा मगलं मगलम्

वर्तनीयंसदा मगलं मगलम्!!

विष्ठया लेपनं भूतले न श्रुतम्

लेपनीयंसदा चन्दनं चन्दनम्!!

जीवनं दृश्यते विघ्नबाधामयम्

कल्पनीयंसदा नन्दनं नन्दनम्!![12]

'धूमतां यामो वयम्' तथा 'वक्तव्यं शुष्कवृक्षस्य' मधुपर्णी की इन दोनों रचनाओं के माध्यम से कवि त्यागपूर्ण जीवन जीने तथा लोकहित में जीवन समर्पण करने की प्रेरणा देते हुए कभी लिखते हैं कि हमें यज्ञाग्नि से उत्पन्न धूम्र से प्रेरणा लेनी चाहिए। वह धूम्र ऊपर उठकर मेघरूप धारण करके और वृष्टि के माध्यम से पुनः पृथ्वी पर आकर एक नूतन व नवीनसृष्टि को जन्म देता है। ठीक इसी भांति हमें भी अपने जीवन में कुछ ऐसे कर्म अवश्य करने चाहिए जिससे औरों के जीवन में उजाला हो, जीने का हौंसला मिले। चाहे हमें ऐसा करते हुए अपने असितत्व को मिटाना पड़े–

अपि हविर्भूता मखाग्नौ धूमतां यामो वयम्

धूमतो घनतां गता हविरेव जनयामो वयम्।।

वर्तुलो जनिमरणपरिधिर्हन्त भूमण्डलनिभः

प्रस्थिता बिन्दोर्यतसतत्रैव विहरामो वयम्।।[13]

हमें जीवन में सदैव ऐसे कर्म करने चाहिए अथवा अपने–आपको ऐसा बनाना चाहिए, जिसके कारण हम न केवल जीते हुए अपितु मरणोपरान्त भी समाज के काम आ सकें। जिस प्रकार एक वृक्ष निःस्वार्थ भाव से आश्रय में आये हुए लोगों की बिना किसी भेदभाव के शुष्कता को प्राप्त होने तक सेवा देता रहता है और शुष्क होने के उपरान्त भी ईंधन, फर्नीचर आदि के रूप में लोकोपकारक बनता है–

यावज्जीवम्मया

सवादुफलैर्भोजिता यूयं

परितोषिता यूयं

निषेविता यूयम्!

.....

शुष्कतामुपेत्य मृतोऽहमस।।

परं भो नाऽयं मृत्युर्निरर्थकः

निधनमपिसार्थकीकृत्य यासयाम्यहम्

ममदृढकाष्ठैःसंघटयत पर्यङ्कान्

मम शाखावचयैः पचत पक्वान्नानि

तेनैवाहं पुनर्जीविष्यामि।।[14]

प्रो. मिश्र जी लोक व्यवहार के कुशल चितेरे हैं। उनकी रचनाओं में मानव–मात्र को लोक–जीवन की शिक्षा मिलती है। हमें जीवन में मानव–मूल्यों की रक्षा करते हुए बड़ी ही सजगता व सतर्कता के साथ लोक–व्यवहार करना चाहिए। व्यक्ति को हमेशा सोच–समझकर एवं सत्यता पर विचार करके ही बोलना चाहिए। किसी भी अज्ञात जन के साथ पूर्णरूपेण परखने के उपरान्त ही मैत्रीभाव रखना चाहिए–

"त्वामपि न कौशिकोऽसौ चाण्डालतां नयेत्

सत्यं विचिन्त्य भाषय बन्धो! शनैः शनैः।।

अज्ञातहृत्सु वैरीभवतिसमरोत्सवः

हृदयं ततससमर्पय बन्धो! शनैः शनैः।।"[15]

जीवन में चाहे कितनी भी समस्याएँ, आपदाएँ, विघ्न बाधाऐं क्यों न

आये, हमें कभी भी आशा का दामन नहीं छोड़ना चाहिए। निराश होकर बैठने की बजाय अपने यात्रा–पथ पर धीरे–धीरे निरन्तरता के साथ हमें आगे बढ़ते रहना चाहिए। यही प्रेरणा देते हुए कविवर मिश्र जी कहते हैं–

अभितो गभीरनसौ गिरिशृङ्खला पुरः

यात्रामिमांसमापय बन्धो! शनैः शनैः।।

पक्वैः पतन्त्वपक्वान्यपि नोसमं फलानि

शाखां ततो विधूनय बन्धो! शनैः शनैः।।[16]

अर्थात् दोनों तरफ गहरी नदियाँ और सामने उन्नत पर्वत शृंखला आ जाने पर भी पथिक को अपने यात्रा–पथ पर धीरे–धीरे बिना रुके आगे बढ़ते रहना चाहिए, तभी वह अपनी मंजिल को पा सकता है ठीक इसी प्रकार हमें जीवन में बिना किसी हड़बड़ाहट के आगे बढ़ते रहना चाहिए क्योंकि शीघ्र फल–प्राप्ति की कामना से काम बिगड़ जाते हैं। हमें पके फलों की प्राप्ति की आतुरता में पेड़ की शाखा को उतना तेज नहीं हिलाना चाहिए कि बिना पके फल भी गिर जाते।

हमें समाज के प्रत्येक तबके को चाहे वह गरीब हो या अमीर हो, शिक्षित हो या अशिक्षित, ग्राम्य हो या शहरी सबको साथ लेकर आगे बढ़ना चाहिए। इसी में हम सबकी, सम्पूर्ण विश्व की उन्नतिसम्भव है। इसी भाव को बताने वाली कविवर मिश्र जी की ये पंक्तियाँ यहाँ उद्धरणीय हैं–

परितोऽपि पामराणां तृणशालिका इमाः

होलानलंसमिन्धय बन्धो! शनैः शनैः।।[17]

अर्थात् हे बन्धु! आप अपने होली का त्योहार इस प्रकार मनाना जिससे कि होली दहन के साथ पास में सिथत गरीबों की बस्ती, झुग्गी–झोंपडियाँ अथवा कच्ची बस्ती आग की भेंट न चढ़ जाये।

उद्यमशील बनने के लिए मनुष्य मात्र को संदेश देते हुए कविवर मिश्र श्री कहते हैं कि हमें विघ्न बाधाओं से डरकर बैठने की बजाय उनका धैर्य पूर्वक सामना करते हुए सिद्धिमार्ग पर आगे बढ़ते रहना चाहिए–

सिद्धिमार्गे मनसवी पदातिर्भवेत्

नेक्षणीयंसदासपन्दनंसपन्दनम्!![18]

समाज में प्रत्येक प्राणी को सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अधिकार है। अतः अमर्यादित आचरण से दूसरे की जिंदगी में कोई खलल उत्पन्न नहीं हो इस बात का हमें ध्यान रखना चाहिए। इसी बात को मिश्र जी हमें मृगया–बिहारी दुष्यन्त के दृष्टान्त से समझा रहे हैं–

भवानग्रेसरो राजन्! जनानामर्हतां लोके

अतोऽध्वा कोऽप्यमर्यादो न गन्तव्यो न गन्तव्यः।।[19]

अर्थात् हे राजन्! आप इस संसार में सबसे योग्य प्रथम व्यक्ति हो, अतः आपके रहते हुए कोई भी अमर्यादित आचरण नहीं करे, यह आपका दायित्व हो जाता है।

आज व्यक्ति को रुककर स्वयं का आत्मावलोकन अथवा आत्ममूल्यांकन करने की आवश्यकता है। यदि हमें कोई सीख देता है, सत्पथ पर चलने की प्रेरणा देता है तो उसकी बात हमें सुननी चाहिए। इस सुनने और सुनाने की परम्परा के विछिन्न हो जाने के कारण व्यक्ति को स्वयं के सम्बन्ध में यह पता ही नहीं रहता कि वह किस अंधी दौड़ का शिकार हो रहा है, इसका क्या परिणाम होगा? इसी सम्बन्ध में कविवर अपनी गलज्जलिका में लिखते हैं–

शृणोति कोऽपि न मे वाचिकं ददे कसमै?

वृणोति कोऽपि न मे वाचिकं ददे कसमै??[20]

अर्थात् कविवर अपने आपको पथ–प्रदर्शक की भाँति प्रस्तुत करते हुये अपनी व्यथा को व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि मैं सत्प्रेरणा, अच्छी सीख, अच्छे विचार लोगों को देना चाहता हूँ लेकिन लोगों को मेरे विचार, मेरी वाणी को सुनने की फुरसत ही नहीं है।

कविवर अभिराज जी अपने नवगीत संकलन 'श्रुतिम्भरा' की भूमिका में स्वयं कहते हैं कि 'समाज में जो कुछ भी अमंगलकारी अथवा गलत होता हुआ दिखाई देता है। वह सब कुछ मेरे मन को उद्विग्न और व्याकुल कर देता है और यही व्याकुलता गीत रूप में मेरी लेखनी का विषय बनती है। ऐसी ही व्यथामूलक रचना यहाँ प्रस्तुत है–

तिमिगिलो निगरति लघुमीनम्

धनदो जठरे क्षपयति दीनम्

मरुसिकतायां छलयति हरिणं कुटिलासलिलतृषा

म्रियते जिजीविषा!!

समुद्घोषिता हरिता क्रान्तिः

समजायत दयनीया भ्रान्तिः

भाण्डागारसमाहितमन्नं भवने मरणदशा

म्रियते जिजीविषा!!

द्रुतं भजितासतटमर्यादाः

ऋग्भूता अभिनयसंवादाः

शतधा द्रवति कुसंसकृतितटिनी नितरां तटषा

म्रियते जिजीविषा।।[21]

अर्थात् समाज में सब ओर कोहराम सा मचा हुआ है, समुद्री न्याय की भाँति जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है ठीक उसी प्रकर धनिक लोग निर्धनों का शोषण करने में लगे हुए हैं। समाज में विषमता की खाई बढ़ती ही जा रही है। सीधे–साधे, भोले–भाले सरल हृदयीजन निरन्तर ठगे जा रहे हैं। समाज में अव्यवस्था फैली हुई है। एक तरफ भाण्डागारों में अन्न सड़ रहा है और दूसरी तरफ प्रजाजन–किसान भूख से मर रहे हैं। हरित क्रान्ति का बिगुल बजाया जा रहा है। व्यक्ति मर्यादाहीन होकर नग्न नृत्य कर रहा है। पाश्चात्य संस्कृति परक विकृतियाँ निरन्तर पाँव–पसार रही हैं, फिर भी इस ओर किसी का ध्यान नहीं है। जिसका ध्यान है, उसकी कोई सुन नहीं रहा है। ऐसा लगता जैसे अब जीने की इच्छा ही समाप्त हो चुकी हो।

कवि अपनी रचना के माध्यम से हम सभी को परस्पर बन्धुत्व, भाईचारे, जाति–वर्ग–क्षेत्र की भेद भावना से रहित जीवन जीने का आह्वान करते हुये कहते हैं–

एतसौम्यबान्धवा बन्धुता विधीयताम्

क्षेत्रवर्गभावनासत्वरं निवार्यताम्।[22]

जिस मातृशक्ति ने कृपाण धारण कर देश की स्वतन्त्रता, अखण्डता और अक्षुण्यता की रक्षार्थ अपने प्राण तक न्यौछावर किये वही नारी आज उत्पीडन का शिकार हो रही है। वह भी किसी परायों से नहीं बल्कि अपनों से।

या कृपाणी गृहीता क्वचिद्रक्षणे

हन्तिसैवात्मबन्धून् निकामं रुषा।।[23]

समाज में व्याप्त भेदभाव की भावना पर तंज कसते हुए बड़ी ही मुखरता के साथ कविवर मिश्र जी कहते हैं कि आज पंजरबद्ध तोते की भाँति योग्य व्यक्ति की कोई पूछ नहीं है और अयोग्य व्यक्ति अपनी पहुँच एवं भ्रष्टाचार के बल पर पितृपक्ष के कौआ की तरह सुखों का उपभोग कर रहे हैं एवं सरकारी पदों पर जमे हुए हैं–

ध्वंसते शुष्ककण्ठः शुकः पंजरे

चिन्वते पितृपक्षे बलिं वायसाः।।[24]

'वचसयेकं मनसयेकं कर्मण्येकं महात्मनाम्' के आदर्श पर चलने वाली भारतीय सन्तति आज मायावियों की भाँति विपरीत आचरण करती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। किस पर विश्वास किया जावे किस पर नहीं, समझ नहीं आता है। कविवर कहते हैं कि यह युग का प्रभाव है। अतः हमें प्रयत्नपूर्वक भारतीय जीवन–मूल्यों के अनुसार आचरण करना चाहिए–

न जननी प्रणम्या न जनकः प्रणम्यः

युगं वर्तमानं प्रणम्यं प्रणम्यम्!!

विषम्मानसे वाचि पीयूषधारा

जनं नौमि मायाविनं धन्यधन्यम्!![25]

इसी प्रयास में एक अन्य रचना में कविवर अभिराज जी कह रहे हैं कि समाज की स्थिति बड़ी भयावह है। लोग दिखावे की जिन्दगी जी रहे हैं। जो लोग सभाओं–सम्मेलनों में जोर शोर के साथ सुरापान जैसे कुरुतियों का खुलकर विरोध करते हुए नजर आते हैं, वे ही दोगले लोग निजी जीवन में सारी विकृतियों व कुप्रथाओं के पोषक होते हैं। आज जिन लोगों, व्यक्तियों, परिवारजनों, प्रशासकों अथवा कानून के पहरेदारों पर नारी की सुरक्षा व सम्मान की रक्षा का दायित्व है, वे ही लम्पटजन नारी की असिमता के साथ खेल रहे हैं–

गोष्ठ्यांसुराविरोधो गेहे यथेच्छपानम्

लोकद्वयं कराग्रे प्रतिभातिसोमपानम् !!

ये लम्पटासतएते शिविकां वहन्ति मार्गे

प्रभुरेव हन्त! रक्षेत् पातिव्रतं वधूनाम् !![26]

कवि ने 'पत्रं श्रीबाणभट्टस्य' नामक छन्दोमुक्त रचना के माध्यम से व्यक्ति के पारिवारिक दायित्वों का बोध बड़े ही रोचक एवं सांकेतिक तरीके से कराया है। आज की नई पीढ़ी निजीसुख–सुविधाओं के भोग में इतनी आसक्त है कि उसको अपने अन्य दायित्वों का बोध तक नहीं रहता है। वह भूल जाता है कि वह किसी का बेटा है, भाई है, पति है और एक सभ्य समाज का दायित्ववान् सदसय है। इन्हीं सब दायित्वों का बोध कराते हुए कविवर कहते हैं–

गर्वितोऽसि त्वं तेन तथागतेन

यो गृहदायित्वमपि नोसम्पादयामास

तत्याज प्रसुप्तं दुग्धमुखं दारक[27]

अर्थात् क्या बुद्ध द्वारा सोते हुए दुध मुँहे शिशु, यौवनारम्भ से भार्या व

पुत्रवियोग से कातर, अशक्त माता–पिता को छोड़कर संसार के दायित्वों से पराङ्मुख हो जाना उचित था? क्या इन सबके प्रति उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं थी?

समाज में वर्तमान में नैतिक असोपतन चरमसीमा पर पहुँच चुका है। दुश्चरित्र और दुराचारी जन मठाधीश बनकर बैठे हैं। लोग स्वार्थ की खातिर रिश्ते के ताने–बाने बुन रहे हैं। आज समाज में जिधर दृष्टि डालें, उधर ही धूर्त, लम्पट, बेईमान और आततायी लोगों का साम्राज्य नजर आता है। आखिर जायें तो जायें कहाँ? इससे अधिक इस पृथ्वी पर क्या होना बाकी रह गया है? कवि की यही व्यथा गीत रूप में इस प्रकार प्रकट होती है–

"अतः परं किं भविता भूतले विचित्रम्
आत्मानं वायसोऽपि मन्यते पवित्रम्।।
वेशयोषितां वृन्दे शीलगता चर्चा
मलिम्लुचानां गेहे शाम्भवीसमर्चा।।
अतः परं किं भविता भूतले विचित्रम्
मन्यते हुताशं यदि शुष्कतृणं मित्रम्।।
प्रतिशाखं चन्दनेषु वेष्टिता भुजाः
मानवैः पवित्रीक्रियतेसम्प्रति गा।।"[28]
"उसाने यसिमन्सान्द्रतरौ
प्रतिशाखमुलूका वल्गन्ते।
कल्याणं तसय कथं भविता
सुषमा क्व वसन्तसयागमने।।"[29]

अर्थात् इस भूतल पर इससे अधिक आश्चर्य क्या होगा कि इस समय कौए भी स्वयं को पवित्र व सच्चरित्र मानने लगे हैं। सर्वत्र नारी उत्पीड़न चर्चा का विषय बना हुआ है। अग्नि भी सूखे तिनकों से मित्रता दिखला रहा है। प्रत्येक शाखा पर चन्दन वृक्षों परसर्प अठखेलियां कर रहे हैं। यहाँ तक कि जो गाय अब तक इन्सानों को पवित्र कर रही थी, वही आज मानवों के द्वारा पवित्र की जा रही है।

आज समाज रूपी उसान के प्रत्येक वृक्ष की प्रत्येक शाखा पर उल्लू बैठे हुए हैं और आनन्दानुभव कर रहे हैं। कविवर आह भरते हुए कहते हैं कि इससे अधिक भूतल पर और क्या होगा?

शिक्षित समाज ही अपने आस–पास के घटनाक्रम के प्रति सचेष्ट रह

सकता है तथा समाज, राष्ट्र व विश्व की उन्नति में योगदान दे सकता है। शिक्षा प्राप्त करके ही समाज शोषण मुक्त हो सकता है। किसी के भी जीवन में जड़ता और करुणा स्थायी रूप से नहीं होती। शिक्षा की रोशनी से इन दोनों को दूर किया जा सकता है। साथ ही अपने साथ–साथ औरों के जीवन में भी उजियारा लाया जा सकता है। जो व्यक्ति आज भी यदि अनपढ़ है और अपनी सन्तति को भी इससे वंचित रख रहा है, उसका जीवन धिक्कार है–

करुणा कोशे यसय न लिखता

जड़ता यसय ललाटे जटिता

असावधि नो पठति न पठिता धिक् तादृशं जीवनम्!

ब्रूते धिग् धिग् धिगिति मृदग धिक् तादृशं जीवनम्!![30]

इस प्रकार हम सबको आज की स्थिति का बोध कराने के लिए कविवर कृत रचनाओं ने झकझोर दिया है। सम्पूर्ण समाज में व्याप्त विसंगतियों व सुसंगतियों के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट किया है तथा हमें सोचने को मजबूर किया है कि हम क्या थे? और अब क्या हो गये? हम कहाँ थे? और अब कहाँ आ गये? अतः हमें अपने सनातन जीवन–मूल्यों के आधार पर जीवन–जीना चाहिए। तभी एक सुव्यवस्थित समाज का निर्माण हो सकता है।

प्रकृति और संस्कृति, लोक परिवेश की ये दो दिशाएँ हैं। अतः लोक संस्कृति परक रचनाओं में प्रकृति सहज ही स्वयं को उपादान बना लेती है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र जी ने पूर्वांचल क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न लोकगीत विधाओं–कहरवा, कजरी, चैता,सोहर आदि को शुद्ध संस्कृत शब्द सिद्ध करते हुए इन्हें संस्कृत में उपनिबद्ध कर संस्कृत गीत होने का श्रेय प्रदान किया। डॉ. मिश्र जी ने न केवल लोक प्रचलित शब्दों को अपनी सर्जना में स्थान दिया अपितु समकालीन लोक भाषाओं में प्रचलित लोक धुनों, छन्दों, लयों तथा प्रतिष्ठित गीतविधाओं को तदानुरूप ही नूतन संस्कृत नाम देकर संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। आपने लोक भाषायी गीत चैता को 'चैत्रकम्', कहरवा को 'सकन्धहारीयम्', सोहर को 'सूतगृहम्' तथा कजरी को 'कं प्रियाऽऽगमनसुखंजरयति यासा कजरी' इस रूपसे शुद्ध संस्कृत नाम दिये। इसी प्रकार फारसी ग़ज़ल विधा को भी 'गलज्जलिका' ऐसा नाम देकर 'गलन्ति जलानि अश्रूणि यसयांसा गलज्जलिका' इस रूप में गलज्जलिका शब्द को निष्पन्न किया। इसी प्रकार लोक जीवन से लिए गये मुहावरे व कहावतें, कथ्य को सजीव और सहज सम्प्रेषणीय बनाते हैं। उनके गीतों को लोक सन्दर्भ से प्रतीक, बिम्ब और उपकरणों की ताजगी मिलती है। अतः इन लोकगीतिपरक संस्कृत रचनाओं में प्रकृति के अनुपम स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। शादी के समय दुल्हन की डोली को उठाकर चलने वाले सेवक अपने

श्रम–परिहार के निमित्त तथा नववधू के मनोविनोदार्थ जिस गीतिविधा को गाते थे, वह कहरवा (सकन्धहारीयम्) कहलाता है, जिसकी कवि प्रणीत कुछ पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं–

नभसि विभाति चमत्कृतचन्द्रो भाति चन्द्रमसि छाया

सरसि विभातिसरागकमलिनी कमलिन्यामलिजाया

भाति भवने वधूटी षोडशीसदना

भाति गगने मुदीसतारका निरंजना।।

क्षणे क्षणे यन्नवतोपेतं प्रभवति तदेव रूपम्

क्षणे क्षणे यज्जड़तोपेतं भवति तदेव विरूपम्

भाति विजने वसन्तकलकण्ठीवन्दना

भाति भवने वधूटी षोडशीसद›ना।।[31]

उत्तरप्रदेश के ग्रामीण अंचल में चैत्र मास में पति के विरह में प्रिया अपनी चिन्ता को लक्ष्य करके जो गीत गाती है उसे 'चैता' अथवा चैत्रक कहते हैं। कवि प्रणीत चैत्रक की कुछ पंक्तियाँ भी यहाँ उद्धरणीय हैं–

विधुमभिसरति कुमुदिनी रे मातः किमु करवाणि!

प्रोषितपतिका विरहिणी रे मातः किमु करवाणि!!

पवनो वहति मलयगिरिसूतः

रेवातटगतवंजुलपूतः

वितरतिसममधु नलिनी रे मातः किमु करवाणी!

प्रोषितपतिका विरहिणी रे मातः किमु करवाणि!!

रौति रसालतरौ कलकण्ठी

श्रुतिकुहराय भवति ननु शुण्ठी

न खलु भवामि कुशलिनी रे मातः किमु करवाणि!

प्रोषितपतिका विरहिणी रे आतः किमु करवाणि!![32]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'नवगीत' शिल्प की नवीनता के साथ–साथ अभिव्यक्ति की भी नवीनता है। अतः अभिराज राजेन्द्र मिश्र जी की पाँचों नवगीत संकलनाओं में संग्रहीत रचनाएँ अपने अद्भुत वैशिष्ट्य के कारण नवगीत की कसौटी पर पूर्णतया खरी उतरती हैं। उनके सकंलित गीतों की कोमलकान्तपदावली, आनुप्रासिक लालित्य की सहजता, कथन की

रूढ़िगत निर्द्वन्द्व अभिव्यक्ति, मनोहारिणी एवं चित्ताकर्षक गेयता और चराचर लोक के यथार्थ का स्पष्ट स्पन्दन कवि को एक कालजयी नवगीतकार सिद्ध करता है। अन्त में कविवर मिश्र जी को समर्पित आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी के इस उद्‌गार केसाथ अपनी लेखनी को विराम देना चाहूँगा–

हैं और भी इस दुनियाँ में सुखनवर बहुत अच्छे

कहते हैं कि गालिब का है अंदाज़–ए–बयाँ और।

संदर्भ–ग्रन्थ–सूचीः–

1. आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी, अभिनवकाव्यालंकारसूत्रम्, पृ. 17–18
2. अभिनवकाव्यलंकारसूत्रम्, पृ 17–18
3. दृक्, दृग्–भारती, इलाहाबाद अंक–6, पृ. 2
4. वही, वही, अंक–8, पृ. 106 तथा साहित्यकल्पतरुः अभिराजराजेन्द्र मिश्र, पृ. 166
5. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका–मैनेजर पाण्डेय, पृ. XI
6. वागीश्वरीकण्ठसूत्रम्/2.1, पृ. 72
7. वागीश्वरीकण्ठसूत्रम्, द्वितीय अध्याय, पृ. 75
8. डॉ. इन्दीवर पाण्डेय, नवगीत में लोकचेतना, पृ.सं. 5
9. दृक्, अंक–21, पृ.सं. 83–84
10. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत–हिन्दी शब्दकोश, अशोक प्रकाशन, दिलली, पृ. 711
11. वाग्वधूटी, 'मागल्यमेव भूयात्', पृ. 1
12. मृद्वीका, नमसया, पंचमी गीतिः, पृ 8
13. मधुपर्णी, 'धूमतां यामो वयम्', पृ. 13
14. मधुपर्णी, 'वक्तव्यं शुष्कवृक्षसय', पृ. 139–140
15. अभिराजगीता, मंगलगीतम्, 'शनैः शनैः', पृ. 4
16. अभिराजगीता, मंगलगीतम्, 'शनैः शनैः', पृ. 4
17. अभिराजगीता, मंगलगीतम्, 'शनैः शनैः', पृ. 4
18. मृद्वीका, नमस्या, पंचमी गीतिः, पृ. 8
19. मधुपर्णी, प्रथमखण्ड : गलज्जलिकाः, 'न हन्तव्यो, न हन्तव्यः', पृ. 15

20. वाग्वधूटी, गलज्जलिका (वाचिकं ददे कसमै!!), पृ. 75
21. मृद्वीका, राष्ट्रश्रीः, पंचचत्वारिंशत्तमी गीतिः, पृ. 65
22. श्रुतिम्भरा, राष्ट्रध्वनिः, 'रक्तरञ्जितं दृश्यतेऽस भारतम्', पृ 60
23. वही, वही, श्रुतिम्भरा, राष्ट्रध्वनिः, 'निर्झरी हन्त कूलङ्षा', पृ. 61
24. श्रुतिम्भरा, राष्ट्रध्वनिः, 'निर्झरी हन्त कूलङ्षा', पृ. 62
25. श्रुतिम्भरा, आत्मध्वनिः, 'युगं वर्तमानं प्रणम्यम्', पृ. 109
26. श्रुतिम्भरा, आत्मध्वनिः, 'हरते मनोऽभिराजः', पृ. 116
27. मधुपर्णी, 'पत्र श्रीबाणभट्टसय', पृ. 114–115
28. मधुपर्णी, 'अतः परं किं भविता', पृ. 26
29. मधुपर्णी, 'प्रतिशाखमुलूका वल्गान्ते', पृ. 27
30. अभिराज राजेन्द्र मिश्र, मृद्वीका, राष्ट्रश्रीः, चतुश्चत्वारिंशत्तमी गीतिः, पृ. 63
31. वाग्वधूटी, सकन्धहारीयम् (भाति!!)
32. वाग्वधूटी, चैत्रकम् (किमु करवाणि!!)

भारतीय संस्कृति और साहित्य में बुद्ध साहित्य का योगदान

प्रा. डॉ. बालाजी मारूती गव्हाळे
पालि विभाग, सहयोगी प्राध्यापक
पुण्यश्लोक अहिल्यादेवी होळकर महाविद्यालय
राणीसावगाव, ता. गंगाखेड, जि. परभणी
ईमेल – drsbg28@yahoo.com

प्रस्तावना :

पालि भारत की सबसे प्राचीन ज्ञात भाषा है। जिसे भारत की सबसे प्राचीन ज्ञात लिपि धम्म लिपि में लिखा जाता था। जिसका प्रमाण सम्राट अशोक के शिलालेख और स्तंभ से प्राप्त होता है। पालि भाषा भारत के जनमानस की भाषा थी। कुछ इतिहासकार संस्कृत को सबसे प्राचीन भाषा मानते है पर ये प्रमाणित नहीं है क्योंकि पालि भाषा में ऋ, क्ष, त्र, ज्ञ, ऐ, औ अक्षर नहीं है। इन अक्षरों की उत्पत्ति बाद के समय में हुई। संस्कृत का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में ऋ, से, ये आसानी से समझा जा सकता है की, पालि भाषा ही भारत की सबसे प्राचीन भाषा है। तथागत बुद्ध ने अपने उपदेश पालि में ही दिए है। धम्म ग्रंथ त्रिपिटक की भाषा भी पालि ही है।

उद्देश :

१) बुद्ध संस्कृति का अध्ययन करना।

२) भारतीय संस्कृति में बुद्ध साहित्य का योगदान स्पष्ट करना।

३) पालि त्रिपिटक साहित्य का अध्ययन करना ।

पालि त्रिपिटक का स्वरूप :

प्रथम संगीति बुद्धनिर्वाण के चार मास पश्चात् ही राजगृह में हुई

जिनमें 500 भिक्षुओं ने भाग लिया, जिसके करण वह पंचशतिका नाम से भी प्रसिद्ध है। इसकी अध्यक्षता महाकाश्यप ने की और उन्होंने बुद्ध के साक्षात् शिष्य भिक्षु उपालि से विनय संबंधी तथा स्थविर आनंद से सुत्त संबंधी प्रश्न पूछ-पूछकर अन्य भिक्षुओं के अनुमोदन से उक्त विषयों का संग्रह किया। इसी प्रकार की दूसरी संगीति बुद्ध निर्वाण के 100 वर्ष पश्चात् वैशाली में हुई जिसमें 700 भिक्षु सम्मिलित हुए और इसीलिए वह सप्तशतिका के नाम से विख्यात हुई। इसमें वैशाली के भिक्षुओं के आचरण में अनेक दोष दिखाकर उन्हें विनय के विरुद्ध ठहराया गया और अनुमानतः विनयपिटक में विशेष व्यवस्था लाई गई। बुद्धघोष के मतानुसार तो इसी संगीति द्वारा बुद्ध वचनों का त्रिपिटक, पाँच निकाय, नौ अंग तथा चौरासी हजार धर्मस्कंधों में वर्गीकरण किया गया। तीसरी संगीति बुद्धनिर्वाण के 226 वर्ष पश्चात् सम्राट् अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में हुई। इसकी अध्यक्षता मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की। यह सम्मेलन नौ मास तक चला और उसमें बुद्धवचनों को अंतिम स्वरूप दिया गया। इसी बीच मोग्गलिपुत्ततिस्स ने **कथावत्थु** की रचना की जिसमें 18 मिथ्यादृष्टि बौद्ध संदायों की मान्यताओं का निराकरण किया। इस रचना को भी अभिधम्मपिटक में सम्मिलित कर लिया गया। इस संगीति का उल्लेख चुल्लवग्ग में नहीं है और न तिब्बती या चीनी महायान संप्रदाय के सहित्य में। अशोक के भाब्रू के लेख, जिसमें सात प्रकरणों के नाम भी उद्धृत हैं, उसमें, अथवा अन्य धर्मलिपियों में ऐसी किसी संगीति का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया। इस कारण इसकी ऐतिहासिकता में कीथ, वैलेसर आदि विद्वानों को संदेह है। किंतु रीज़डेविड्स, विंटरनित्ज़ तथा गाइगर आदि विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता स्वीकार की है। जिस संगीति की ऐतिहासिकता के विषय में प्राचीन उल्लेख एवं आधुनिक विद्वान् एकमत है, वह है वैशाली की द्वितीय संगीति। इन संगीतियों तथा अन्य प्रयत्नों के फलस्वरूप पालि त्रिपिटक का जो स्वरूप प्राप्त हुआ वह हमें आज उपलब्ध है।

पालि त्रिपिटक

बुद्ध के जीवनकाल के दौरान, उन्होंने अपने भिक्षुओं को स्थानीय भाषा में उनकी शिक्षाओं का पालन करने के लिए प्रोत्साहित किया। बुद्ध की मृत्यु के बाद, बौद्ध सिद्धांत को मौखिक परंपरा द्वारा प्रसारित और तैयार किया गया और उसके बाद इसे ईसा पूर्व दूसरी और पहली शताब्दी में लिखा गया। बौद्ध धर्म का मुख्य प्रभाग पिटक है। पालि साहित्य, जिसे संस्कृत में त्रिपिटक भी कहा जाता है, बुद्ध धम्म की मुख्य पुस्तक है। बुद्ध धम्म के तीन पिटक विनय पिटक, सुत्त पिटक और अभिधम्म पिटक हैं।

पालि के इन तीन पिटकों में ई. पूर्व छठी शती में हुए भगवान बुद्ध के विचारों और उपदेशों का एक विशेष शैली में संकलन किया गया है। तीनों पिटकों में परस्पर तारतम्य है। विषय का मूलाधार सुत्तपिटक है जिसमें भगवान के उपदेशों को श्रोताओं को हृदयंगम कराने के लिए सरल से सरल, रोचक कथात्मक शैली का आलंबन लिया गया है। यहाँ वस्तु विषय को संक्षेप में कहने का प्रयत्न नहीं किया गया। उद्देश्य है नई-नई बातों को सामान्य श्रोताओं के ग्रहण योग्य बनाना और इसीलिए यहाँ उपदेश के मुख्य भाग की बार-बार पुनरावृत्ति की गई है। प्रसंगवश इन सुत्तों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण भी किया गया है जो प्राचीन इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। त्रिपिटक ग्रंथ ऐसी पुस्तकें हैं जो किसी धर्म या संप्रदाय के मूल सिद्धांतों और मूल्यों को निर्धारित करती हैं।

१. विनय पिटक

विनय पिटक को अनुशासन का ग्रंथ भी कहा जाता है। विनय पिटक भिक्षुणियों और भिक्षुओं के लिए विहार संबंधी नियमों से संबंधित है। अपने नामानुसार विनयपिटक का विषय भिक्षुओं के पालने योग्य सदाचार के नियम उपस्थित करना है। इसके तीन अवांतर विभाग हैं-

सुत्तविभंग, खंधक और परिवार। खंधक को पुन: दो उपविभाग हैं- महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस प्रकार अपने इन उप विभागों की अपेक्षा विनयपिटक पाँच भागों में विभक्त है। इस पिटक में भिक्षुओं और भिक्षुणियों द्वारा अपने विहार वासी जीवन के दौरान पालन किए जाने वाले आचरण और अनुशासन के नियमों का रिकॉर्ड है। इसमें पतिमोक्ख शामिल है, जो विहार वासी अनुशासन के विरुद्ध अपराधों और इन अपराधों के प्रायश्चितों की एक सूची है

२. सुत्त पिटक

सुत्तपिटक अपने विषय, विस्तार तथा रचना की दृष्टि से त्रिपिटक का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। इसमें ऐसे सुत्तों का संग्रह किया गया है जो परंपरानुसार या तो स्वयं भगवान बुद्ध के कहे हुए हैं या उनके साक्षात् शिष्य द्वारा उपदिष्ट हैं और जिनका अनुमोदन स्वयं भगवान बुद्ध ने किया है। सुत्त का संस्कृत रूपांतर सूत्र किया जाता है। किन्तु प्रस्तुत सुत्तों में सूत्र के वे लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते जो संस्कृत की प्राचीन सूत्र रचनाओं, जैसे वैदिक साहित्य के श्रौतसूत्र, गृह्म एवं धर्मसूत्र आदि में पाए जाते हैं। सूत्र का विशेष लक्षण है अति संक्षेप में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना। उसमें पुनरुक्ति का सर्वथा अभाव अविद्यमान है। किन्तु यहाँ संक्षिप्त शैली के विपरीत सुविस्तृत व्याख्यान तथा मुख्य बातों की बार-बार पुनरावृत्ति की शैली अपनाई गई है। इस कारण सुत्त का सूत्र रूपांतर उचित प्रतीत नहीं होता। विचार करने से अनुमान होता है कि **सुत्त** का अभिप्राय मूलत: **सूक्त** से रहा है। वेदों के एक एक प्रकरण को भी सूक्त ही कहा गया है। किसी एक बात के प्रतिपादन को सूक्त कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

सुत्त पिटक में बुद्ध और उनके सभी करीबी सहयोगियों से संबंधित 10 हजार से अधिक सूत्र शामिल हैं। इस पिटक में विभिन्न सैद्धांतिक

समस्याओं पर बुद्ध के प्रवचनों के संवाद शामिल हैं। सुत्त (संस्कृत सूत्र से) बौद्ध ग्रंथों को संदर्भित करता है जिनके बारे में माना जाता है कि इसमें स्वयं बुद्ध ने क्या कहा है। सुत्त पिटक को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया गया है। **दीघनिकाय**, जिसमें लंबे प्रवचन शामिल हैं। **मज्झिमनिकाय**, जिसमें मध्य लंबाई शामिल है। **संयुक्तनिकाय** जिसमें बुद्ध के जुड़े हुए प्रवचन शामिल हैं। **अंगुत्तरनिकाय** जिसमें अंकगणित सम्मिलित है। **खुद्दकनिकाय** जिसमें लघु संग्रह शामिल है।

३. अभिधम्मपिटक

पालि त्रिपिटक के तीसरे भाग अभिधम्मपिटक में भगवान बुद्ध के दर्शनात्मक विचारों का विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है तथा तात्विक दृष्टि से उनकी सूचियाँ और परिभाषाएँ उपस्थित की गई हैं। यह पिटक बौद्ध धर्म के सिद्धांत और दर्शन से बना है। दार्शनिक विश्लेषण और शिक्षण का व्यवस्थितकरण और भिक्षुओं की विद्वतापूर्ण गतिविधि अभिधम्म पिटक में दर्ज की गई है। अभिधम्म पिटक को सात पुस्तकों में विभाजित किया गया है, अर्थात् धम्मसंगनी, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपयति, कथावत्थु, यमक और पटठान।

पालि के इन तीन पिटकों में ई. पूर्व छठी शती में हुए भगवान बुद्ध के विचारों और उपदेशों का एक विशेष शैली में संकलन किया गया है। तीनों पिटकों में परस्पर तारतम्य है। विषय का मूलाधार सुत्तपिटक है जिसमें भगवान के उपदेशों को श्रोताओं को हृदयंगम कराने के लिए सरल से सरल, रोचक कथात्मक शैली का आलंबन लिया गया है। यहाँ वस्तु को संक्षेप में कहने का प्रयत्न नहीं किया गया। उद्देश्य है नई-नई बातों को सामान्य श्रोताओं के ग्रहण योग्य बनाना और इसीलिए यहाँ उपदेश के मुख्य भाग की बार-बार पुनरावृत्ति की गई है। प्रसंगवश इन सुत्तों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण भी

आ गया है जो प्राचीन इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। उदा. दीघनिकाय के सामंञफलसुत्त, ब्रह्मजालसुत्त एवं महापरिनिब्बान सुत्त में बुद्ध के समसामयिक धर्मप्रवर्तकों जैसे मंखलिगोसाल, पकुधकच्चायन, अजित केस कंबलि, संजय बलट्ठिपुत्त निगंठनातपुत्त, आदि के आचार-विचारों तथा उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म संप्रदायों की बौद्ध दृष्टि से आलोचना पाई जाती है और साथ ही उन-उन विषयों पर बौद्ध मान्यता का प्रतिपादन भी पाया जाता है।

अनुपिटक ग्रंथ

मिलिंद पन्हो : पालि में शाब्दिक अर्थ- मिलिंद के प्रश्न, लगभग 100 ईसा पूर्व की रचना की गई थी। पुस्तक में इंडो-ग्रीक राजा मिनांडर प्रथम या बैक्ट्रिया के मिलिंद और ऋषि नागसेन के बीच हुई बातचीत है जहां मिलिंद नागसेन से बौद्ध धर्म के बारे में पूछते हैं। **नेत्तिपकरण** (मार्गदर्शन की पुस्तक) उसी काल की है और बुद्ध की शिक्षाओं का एक व्यापक विवरण प्रदान करती है। त्रिपिटक पर टिप्पणियों में बुद्धघोष द्वारा 5 वीं शताब्दी का काम शामिल है। **निदानकथा** (पहली शताब्दी) में बुद्ध की पहली जुड़ी हुई जीवन कहानी शामिल है। **दीपवंश** (चौथी-पांचवीं शताब्दी) और **महावंश** (पांचवीं शताब्दी) बुद्ध के जीवन, बौद्ध परिषदों, मौर्य सम्राट अशोक, श्रीलंकाई राजाओं और द्वीप पर बौद्ध धर्म के आगमन के ऐतिहासिक-पौराणिक विवरण हैं।

भारतीय संस्कृति में बुद्ध साहित्य का योगदान

अहिंसा की अवधारणा इसका प्रमुख योगदान था। इसके बाद, अहिंसा की शिक्षाओं को पूरे देश में सबसे अधिक पोषित मूल्यों में से एक माना जाने लगा। बौद्ध धर्म की शिक्षाओं ने पालि और कुछ अन्य स्थानीय भाषाओं जैसी भाषाओं के विकास में योगदान दिया जब भारत की वास्तुकला की बात आती है तो इसकी उल्लेखनीय भूमिका होती है।

सरलता- बौद्ध धर्म ने जटिल, दुर्बोध कर्मकाण्ड से परे एक लोकप्रिय धर्म दिया। इससे पूर्व वैदिक धर्म में प्राकृतिक देवताओं की उपासना प्रधान थी एवं उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म के गीत गाये जाते थे, जो सामान्य जन के लिए दुरूह था किन्तु बौद्ध धर्म अति सरल, सुबोध तथा नैतिक आचरण पर बल देने वाला था एवं उसका द्वार सबके लिए खुला था। इसी धर्म की सादगी, भाव प्रधानता, सरल नैतिक नियम, जनप्रिय भाषा का प्रयोग, उपमा और दृष्टान्तों ने धर्मोपदेश का सर्वप्रिय ढंग तथा सामूहिक प्रार्थना व पूजन ने जनता के हृदयों पर गहरी छाप जमा दी। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने धार्मिक दुरूहता दूर की।

उच्च नैतिक आदर्श- बौद्ध धर्म ने सदाचार, जनसेवा, और स्वार्थ त्याग के उच्च पर जोर दिया। यद्यपि इससे पूर्व भी उपनिषदों तथा महाभारत में इन गुणों पर बल दिया गया था परन्तु उससे साधारण जनता के सदाचार और नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा नहीं उठ पाया था। बौद्ध धर्म के महायान मतावलम्बियों ने बोधिसत्व के रूप में जनसेवा का श्रेष्ठ आदर्श लोगों के सम्मुख रखा। इस आदर्श ने एक और बौद्ध धर्म के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म को भी अत्यधिक प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ने इस आदर्श का भी प्रतिपादन किया कि प्रत्येक मानव अपने भविष्य को अपने ही कर्मों द्वारा निर्मित कर सकता है।

संघ व्यवस्था- धर्म के अनुयायी जनों को अनुशासित रूप से संगठित करके प्रजातंत्र प्रणाली पर संघ व्यवस्था का निर्माण करने का श्रेय बौद्ध धर्म को ही है।

उच्च शिक्षा केन्द्र- भारत में साधारण जनता के लिए संगठित एवं व्यवस्थित रूप से आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा प्रसार का प्रथम प्रयास बौद्ध संघों ने ही किया। प्रथम व्यवस्थित शिक्षा केन्द्र नालन्दा का बौद्ध

बिहार ही था। तत्पश्चात् तक्षशिला विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। आधुनिक विश्वविद्यालय इन्हीं बौद्ध विश्वविद्यालयों के ही परिष्कृत रूप हैं।

मूर्ति पूजा- भारत में मूर्ति पूजा का प्रसार बौद्ध धर्म ने किया। विभिन्न तीर्थो में स्थापित बुद्ध की मूर्तियाँ शिल्प कला का उत्कृष्ट नमूना हैं। विदेशों में भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं की स्थापना कर मूर्ति पूजा पर बल दिया गया। फलस्वरूप इन्हीं महायान बौद्धों का अनुकरण कर हिन्दुओं ने भी अपने इष्ट देवों की प्रतिमायें बनायी, उनका पूजन किया और अपने देवी-देवताओं के सम्मान में मन्दिरों का निर्माण किया।

जनसाधारण की भाषा का विकास- बौद्ध धर्म ने बोलचाल की भाषाओं को अधिक लोकप्रिय बनाया। इससे पूर्व साहित्य निर्माण के लिए संस्कृत भाषा का ही प्रयोग होता था। किन्तु बुद्ध ने धर्मोपदेश के लिए जनसाधारण में प्रचलित पालि प्राकृत भाषा का ही प्रयोग

राजनैतिक एवं राष्ट्रीय एकता- बौद्ध धर्म ने समाज में जाति-पाँति के ऊँच-नीच भावों का विनाश कर सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। जनसाधारण की भाषा का प्रयोग करने से यह एकता और दृढ़ हो गयी1।

पृथक दार्शनिक विचारधारा- वैदिक धर्म में वेदों की प्रामाणिकता एवं पुरोहित वर्ग के एकाधिकार एवं कर्मकाण्ड की प्रधानता ने व्यक्तिगत बौद्धिक स्वतंत्रता का विनाश कर दिया था। इसके विपरीत बुद्ध ने स्वतंत्र विचारों को प्रोत्साहित किया और धर्म में व्यक्तित्व को प्रधानता दी।

उत्कृष्ट कला का विकास- भारतीय जीवन में बौद्ध धर्म की सर्वोत्कृष्ट देन वास्तुकला एवं स्थापत्य कला में से है। बौद्ध धर्म ने धार्मिक वास्तुकला को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। इसी प्रकार बुद्ध और बोधिसत्वों की अवशिष्ट स्मृतियों पर पाषाण के स्तूप निर्मित किये गये। ये विहार स्तूप और स्तम्भ स्थयी थे। अतः उनके आश्रय में कला की सभी प्रशाखें

चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, स्थापत्य कला उन्नति हुई। बुद्ध के समस्त जीवन की कहानी पाषाण काल में अभिव्यक्त की गयी। मूर्तिकला की अनेक सुन्दर प्रतिमायें बुद्ध से सम्बन्ध रखती हैं।

निष्कर्ष:

इस प्रकार बौद्ध धर्म एक सुसंस्कृत संस्कृति का प्रसार करने वाली धर्म संस्था थी। जिसे भारत ने अपने पड़ोसी देशों को दिया था। बौद्ध धर्म ने भारत की पृथकता भंग कर दी और भारत तथा बाह्य देशों के प्रति मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर दिया।

भारतीय, सन्तों आचार्यों और विद्वानों ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया और इस प्रकार ईसा पूर्व तीसरी शती से भारतीय संस्कृति का विदेशों में अप्रत्यक्ष प्रचार हुआ। मध्य एशिया, चीन मंगोलिया, मंचूरिया, कोरिया, जापान, ब्रह्मा, स्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा, लंका आदि में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता बौद्ध प्रचारकों द्वारा पहुँची।

वृहत्तर भारत के निर्माण में बौद्ध धर्म ने सर्वाधिक योगदान दिया। ई. पू. तीसरी शताब्दी के बाद बौद्ध धर्म के विदेशी अनुयायी भारत को पवित्र भूमि और धार्मिक तीर्थ स्थान मानने लगे। बौद्ध धर्म की इस भावना ने अनेक विदेशियों का हमारे देश से गठबन्धन कर दिया एवं विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची:

१. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद
२. भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहस, रेनबो प्रिन्टर्स, वाराणसी
३. सांकृत्यायन, महापंडित राहुल-महामानव बुद्ध, लखनऊ बुद्ध विहार
४. उपाध्याय, भरतसिंह, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (प्रथम

भाग), मोतीलाल बनारसी दास पब्लिकेशर्स प्रा.लि.,दिल्ली
५. कुमार, रवीन्द्र, गौतम बुद्ध और धम्मपद, कल्पाज पब्लिकेशन्स, दिल्ली
६. नरसू, पी. लक्ष्मी- The Essence of Buddhism
७. राधाकृष्णन, डॉ. सर्वपल्ली- The Indian Religion

Clothing specifications in Ancient India with special reference to Harṣacaritam

Dr. Bhavana Balte

India has a great history and diversity in every field such as language, food, clothes, ornaments so on and so forth. Over the centuries, India has been home to many different cultures and civilizations. Each of these cultures has had its own unique style of clothing. The clothing has been an important part of the culture and has been used to reflect the social status of the people. The history of clothing in India is along and interesting one. It has been influenced by the climate, the religion, and the culture of the people. In this paper, the researcher has tried to see the references of different clothing from Sanskrit literature and its cultural relevance if any.

Early History of Indian Clothing:-

It is generally believed that the first Indians wore simple garments made from animal skins and plant fibres. As the climate varied from region to region, so did the type of clothing worn by the people. In hot deserts, for example, people would wear light, loose-fitting clothes, while in colder regions they would need to wear heavier, warmer garments.

The Indian clothing tradition has changed and evolved over the centuries, but it has always been an important part of the country's culture. Today, Indian clothes are worn all over the world and are admired for their beauty and craftsmanship.

Over time, Indian clothing became more elaborate and colorful, with different styles and fabrics being used to reflect the wearer's social status and position. India is now home to a wide variety of traditional clothing, with each region having its own unique style. In this paper, some examples are taken into consideration about types of clothes especially from Haṣacarita. Researcher has tried to see the correlation of them with the profession, region, and art form so on so forth.

Brief Introduction to Sanskrit Literature:-

Sanskrit literature has a wide scope from Vedas, Puranas, Darshanas, Kāvyas and other modern Sanskrit texts. Any literature is the mirror of the society. References of colours and clothes are found right from Vedic literature. In Brihadāraṇyaka Upaniṣad states that clothes used to be dyed with various colours such as yellow scarlet and red[1]. The compilers of the Grhyasutras stated the details of the garment at the time of Upanayana[2]. In Kautiliya Arthashastra, Nāṭyaśāstra and many other texts mentioned various types of clothes. So, it seems to have variety in type of clothes in sense of material reflected in Sanskrit literature. Let's us have a brief introduction to the Harṣacarita

Harṣacarita:- The Harṣacarita is written in a fine Sanskrit by the court poet Bāṇabhaṭṭa in eight ucchvāsas, the main theme being the rescue of Rajyaśrī fulfils the criteria of ākhyāyikā. Along with the theme of the patron King Harsh, Bāṇa also give his details in the first three ucchvāsas viz. Vātsyāyanavaṁśavarṇanam, Rājadarsanam and Rājavaṁśavarṇanam. He refers about his high birth in the Vātsyayana family, highly learned Brahmin of Pritikuta; aloving son of Chitrabhānu and mother Rājadevi. It is also considered as a literary performance in history as it reveals not only the life of the great monarch but also the life of a great poet, a biography and an autobiography in one.

As stated earlier the impact of society naturally reflects in the literature. Thus, it can be stated that through the description of the style of costumes, one can imagine the standards of living of the people in that particular society. Therefore, Bāṇa gives very important statements about dresses through the version of Skaṇḍagupta[3] that the dresses were different in different states.

---

[1] yathā māhārajanaṃ vāsaḥ, yathā pāṇḍvāvikam ,yathēndragōpaḥ bṛhadāraṇyakōpaniṣad ii.3.6

[2] yadi vāsaṃsi vasīran raktāni vasīran kāṣāyaṃ brāhmaṇō māñjiṣṭhaṃ kṣatriyō hāridraṃ vaiśyaḥ। āśvalāyanagṛhyasūtra i.19.9 (१.१९.९)

[3] idṛśāḥ khalu lokasvabhāvāḥpratigrāmaṃ

…….ca bhinnā veśāścāraśca…janapadānām, *Ibid*.,VI.p.105

The *Harṣacarita* informs us about description of various dresses. The writer mentions the word *veśa*[1] and *vastra*[2] to imply costumes.

According to the *Saṅketa* Commentary—*vastaṁsuvarṇapaṭṭikākatisūtram*. The author Bāṇa describes that the city people[3] (wore fine and respectable dresses, but the foresters, however, wore rosary of beads and husk *valkala*.[4] In the *Harṣacarita*, Bāṇa clearly informs that the royal families' dresses[5] were made of fine cloth and that they wore the torn by the ends golden armlets. In Rājyaśrī's marriage time, the women[6] came to the palace with fine dresses. The *Harṣacarita* refers that silken[7] and other best garments were produced by the expert artisans for princess Rājyaśrī, in which were added charming pearls[8]

The author gives the names of some particular materials, which were used to make the garments, such as—

1. *netra* (silk garments, p.69),

2. *kṣauma* (linen garments, p.69),

3. *bādara* (cotton garments, p.69)

4. *dukūla* (bark-silk garments, p.69) etc.

Descriptions of other various types of costumes are—

***Uttarīya*:** The word *uttarīya* is mentioned many times in the *Harṣacarita*. It is an upper garment. The author Bāṇa

---

[1] suveśābhiḥ…, *Ibid*.,IV. p.69
[2] vinītamāryaṃ ca veṣaṃ dadhānaḥ, *Ibid*.,III.p.39
[3] (*Ibid*.,III.p.39
[4] ..kalpadrumadukūlavalkalaṃvasānā.., *Ibid*.,I.p.3
[5] ….kanakakeyūrakoṭi……paṭṭāṃśukottaraṅgā…., *Ibid*., IV. p.64
[6] ..praviṣṭābhiḥsatībhiḥsubhagābhiḥsurupābhiḥsuveśābhiḥ…, *Ibid*.,IV.p.69
[7] ….rajakararajyamānai ……kutilakramarupakriyamāna…. uttarīyaiḥkṣaumaiścabādaraiścadukūlaiścalālatantujairaṃśukaiścanetrai śca …..garbhakomalairniḥśvāsahāyaiḥspaśānumeyairvasobhiḥ ….., *Ibid*.,IV.p.69
[8] …tārāmuktāphalopacīyamānaiścakañcukaiḥ…, *Ibid*.

describes that it was wrapped in the upper part of the body[1].

According to *Amarakoṣa—saṁvyānamuttarīyam*[2]. It is also mentioned as *uttarāṅga*[3]. According to the *Amarakoṣa—uttareurdhāṅgeāsajyate uttarāsaṅgaḥ*[4]. It was worn by all irrespective of men[5] and women[6]. Sometimes the *uttarīya* was made of flax or linen (i.e., *kṣauma*)[7]and sometimes made of cotton (i.e., *bādara*).

Dukūla: It is a silken-garment. The writer mentions it was worn by king Harṣa[8]and king Śūdraka[9] as well. It is also found that sometimes it was made from the bark[10] of the tree.

Aṃśuka: It is a silk cloths and it is found that the people[11] used this type of cloths very much in the 7th century A.D. It is also known as *netra*[12]. To indicate the fine silk-cloth, the writer has used the word *netrapaṭā*[13]. The king also worn the turban[14] made of the *aṃśuka*-cloth**.** Generally, the *aṃśuka* were of red[15], blue or black[16], and white[17]colours. In this context, it should be mentioned that

---

[1] hṛdayamūttarīyadukūlavalkalaikadeśenasañcādayantī…, *Ibid*.,I.p.15
[2] *Amarakoṣa*, II.6.118
[3] *Harṣacarita*, IV. p.64
[4] *Amarakoṣa*, II.6.117
[5] *Harṣacarita*, IV.p.108
[6] hṛdayamūttarīyadukūlavalkalaikadeśenasañchādayantī, *Ibid*.,I.p.15
[7] *Ibid*., IV. p.69
[8] paridhāya… dukūle, *Ibid*., p.108
[9] amṛtaphenadhavale ….dukūlevasānam, *Kādambarī*, p.19
[10] ..kalpadrumadukūlavalkalaṃvasānā.., *Harṣacarita*, I.p.3
[11] mandākinipravāhāyamāṇamaṃśukaiḥ, *Ibid*.,II.p.27
[12] syājjaṭāṃśukayornetram, *Amarakoṣa*, III.3.180
[13] *Harṣacarita*, IV.p.69
[14] aṃśukoṣṇīṣapaṭṭikā….nṛpasya, *Ibid*.,I.p.8
[15] [a] raktāṃśukaḥ, *Ibid*.,p.70 [b]
raktāṃśukasukumāravapuṣi….., *Ibid*.,IVp.71
[16] nīlāṃśukaracita…., *Kādambarī*, p.252,282
[17] śvetāṃśukaracitottamāṅga…, *Ibid*., p.287

the *cīnāṃśuka*[1] (i.e., china-made-silk) and *chināColaka*[2] (i.e., china-made shawls); were accepted as the best silken garments, which were used by the people at that time. So, it suggests that in that time also India imported cloths like these from China.

Pauṇḍra: it is a silken[3] cloth imported from *pauṇḍra* Country. The author[4] has himself put-on this cloth.

Caṇḍātaka: It is an under-garment of the ladies, spreading out in a circular fashion[5]. According to P. V. Kane-"it is petticoat.[6]" According to *Saṅketa* commentary-*caṇḍātakamadhorukam*[7].

Kañcuka: The writer denotes the tunic with the words *kañcuka*[8], *mecakañcuka*[9] and *vārabāṇa*[10]. *Saṅketa* commentary mentions *vārabāṇaḥ kañcukaḥ*[11]. P.V.Kane comments "it is a coat-mail, jacket[12]." The writer mentions that theladies of the Sthāṇvīśvara[13] wore the *kañcukina* in their bodies. According to P. V. Kane—"*kañcukinaḥ* also meanslibidinous[14]." This type

---

[1] [a]....upacitachīnacolakaiśca…, *Harṣacarita*,VII.p.110

[b].….kenacicchīnāṃśuka…, *Ibid*.,VIII.p.131

[2] *Ibid*.,p.110

[3] *Ibid*. III p.39

[4] *Ibid*

[5] *Ibid*.,I.p.14

[6] *Ibid*.,p.210

[7] *Ibid*.,p. 56

[8] [a] kañcukairanekopayogapāṭhyamāna…, *Ibid*.,p.69 [b] navanetranirmitena….. kañcukena, *Ibid*.,p.111

[9] *Ibid*.,p.110

[10] dhavalavārabāṇadhariṇam, *Ibid*.,I.p.10

[11] *Ibid*.,p.43

[12] *Ibid*.,p.197

[13] *Ibid*.,p.44

[14] *Ibid*.,p.334

of coat covered the whole body[1]. [Sometimes, it was made with silk[2].

***Jātīpaṭṭikā*:** It is aloin-cloth which is very smooth to touch[3]. According to the *Saṅketa* commentary-*jātīpaṭṭikāḥśreṣṭhānijaghanagranthanāni*[4].

Description of other cloths are also found in the *Harṣacarita* as—

1. *kuthā* (Blankets,p.114),

2. *kambala* (woolen blankets, p.46),

3. *paṭṭopadhāna* (silkcuison, p.110).

Nicolaka: It is a bed-cover made of white-silk[5]. *nicolaḥpracchadapaṭaḥ*[6]. According to the *Saṅketa* commentary—*nicolakādācchādanaprasevakāt*[7].

Upadhāna (pillow): Generally, it is made of cotton. But the author mentions that one type of pillow[8] was made of feathers of various birds which were presented to king Harṣa by Bhāskaravarman, king of Kāmarupa.

Kaupīna: It is aloin-cloth. It was worn by sage Bhairavacārya[9] and his disciples[10] also. According to *Amarakoṣa—akāryaguhyekaupīnam*[11].

The author Bāṇa mentions that sometimes it was made

---

[1] vīdhrakañchukācchannavapuṣā, *Ibid*.,II.p.34
[2] dhautadhavalanetranirmitena…… kañcukena…., *Ibid*.,I.p.14

[3] ...komalā sparśavatī jātīpaṭṭikāh, *Ibid*.,VII.p.116

[4] *Ibid*.,p.387
[5] ujjalaniculakavaguṇṭhamānā….śayanīyai.., *Ibid*.,IV.p.69
[b] *Ibid*.,VII.p.115
[6] *Amarakoṣa*,II.6.116

[7] *Harṣacarita*,p.384

[8] citrapaṭānāṃ ca mradīyasāṃsamūrukopadhānadīnvikārān, *Ibid*.,p.116
[9] pāṇḍurapavitrakṣaumavṛtakaupīnam, *Ibid*.,p.47
[10] kaupīnasanāthaśikhareṇa.., *Ibid*.,III.p.46
[11] *Amarakoṣa*,III.3.12

of *kṣauma*[1] (i.e. bark-silk). *Amarakoṣa* also supports it[2]. Description is found that *kṣauma* was gifted to emperor Harṣa by *kumāra* Bhāskaravarman[3].

In the *Harṣacarita* is described those other types of garments, which were worn by the ascetics or foresters.

They are such as—

1. *karpaṭa* (ragged garment, p.46)

2. *yogapaṭṭaka* (p.3)

3. *cīvara* (ragged garment, p.34,287)

4. *mekhalā* (a griddle made of grass, p.18)

5. *kāṣāyavastra* (the forester used this dress, p.139)

6. *valkalavasta* (belt of the *kakala* or *valkala*, p.18) etc.

This description clearly states about the variety of clothing types prevalent in Indian Culture. Bāṇbhaṭṭa has stated it in a detail manner.

Conclusion -

These references from Harṣacarita clearly shows glimpses of clothing prevalent at that time. As stated in the introduction there are different cloths for hermitage, kings, and queens and so on. Naturally these people demands them according to their profession and position. The similar thread of these clothing is nothing but the comfort, availability of them. The different kind of materials again with the geographical dimensions can be another way of researcher.

Thus, while summarising this it can be said that the history of clothing in India is along and rich one, dating back thousands of years. From the elaborate and ornate clothing of the royals to the simple and utilitarian clothing of the commoners. Indian clothing has always been a reflection of the country's diverse

---

[1] *Ibid*.,III.p.47

[2] vālkaṃ kṣaumādi, *Ibid*.,II.6.111

[3] …. kṣaumāṇikuśalaśilpilokollikhitānāṃ…, *Harṣacarita*,VII.p.116

culture and traditions. Today, Indian clothing is just as varied and unique as the country itself and is worn with pride by people all over the world.

Bibliography: -

- Amarakośa, or Nāmaliṅgānuśāsana of Amarasiṁha, 1940, Nirnay Sagar Press, Narayan Ram Acharya Eleventh Edition.
- Arthaśāstra, Kauṭalya, Trivendram Ssanskrit Series. 79, 80, 82; 1924-25, with the comm. Śrīmūla of T. Ganapati Śastri.
- Bāṇa's Kādambarī (Pūrvabhāga) (Text, Commentary, Notes, Introduction and
- Translation) by M. R. Kale, 1968, Motilal Banarsidass Publishers Pvt.ltd., Delhi, 4th Edition.
- Bṛhadārayakopaniṣad with the Commentary of Saṅkara, 2000, Gita Press, Gorakhpur, 12th Edition.
- Harśacarita of Bāṇabhaṭṭa, 1996, Edited by Mahāmahopādhyāya P. V. Kane, Motilal Banarsidass Publishers Pvt.ltd., Bungalow Road, Delhi
- Harśacarita with Saṅket Sanskrit commentary of Saṅkara Kavi and Hindi Translation by Prof. Jagannāth Pāhak, 1972, Chowkhambha Vidyabhavan, Varanasi.
- Harśacarita – Eka sāṁskṛitika Adhyayana, 1953, Agravala Vasudevasarana, Bihar Rashtrabhasha Parishad, Patana.
- Mahārāṣṭrācī Kuḷakathā, 2019, Dhavalikar M. K., Rajahamsa Prakashan, fifth edition, Pune.

भाषा और संस्कृति का वर्तमान सामाजिक संदर्भ: भारतीय परिप्रेक्ष्य

डॉ गायत्री गिरीश मिश्रा
(सहायकाचार्या एवं विभागाध्यक्षा)
संस्कृत,पालि एवं प्राकृत भाषा विभाग,
बाबा राघव दास, भगवान दास, स्नातकोत्तर
महाविद्यालय आश्रम, बरहज, देवरिया, उत्तर प्रदेश, भारत

भाषा का संस्कृति के साथ संश्लिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि भाषा मनोभावों की अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण संस्कृति का मौलिक अंग होती हैं और उसे निरुपित भी करती हैं। किसी समाज व राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि उस समाज व देश में सांस्कृतिक एकता हो और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ हो। कर्म-प्रधानता, आध्यात्मिकता, चिंतन की स्वतंत्रता, सामूहिक कुटुम्ब-प्रणाली, संस्कार, सर्वमयता, ग्रहणशीलता, सहिष्णुता, सर्वधर्म सम्भाव, विश्व कल्याण की भावना, उदारता और परोपकारिता आदि भारतीय संस्कृति के तात्विक संदर्भ हैं जिसमें सबसे प्रधान है 'अनेकता में एकता'। भारत में सांस्कृतिक एकता और भाषा का ऐसी एकता का रुधिर तत्त्व होने के कारण ही यहां राष्ट्रीय एकत्व की भावना स्थापित होकर अद्यतन दृढतर है जिसका प्रमुख कारण है 'शिक्षा प्रक्रिया' जिसमें वयस्क होता हुआ व्यक्ति समाज के जीवन व संस्कृति में प्रवेश करता है। किसी देश में अनेक भाषाएं होने से देश की एकता के विकास में भले ही कठिनाई होती है किन्तु भारत में संस्कृत भाषा का प्रचार भाषाई-भेद वाले इस कठिनाई को बहुत हद तक दूर करता है। 'परस्पर समन्वय' भी भारतीय भाषा एवं

संस्कृति का प्रधान तत्त्व है। सबका सब कुछ अपने में आत्मसात् कर लेने की 'सर्वमयता' भारतीय संस्कृति का खासमखास गुण है। यही कारण है कि यहां 'भारतीय मन' का मतलब हिन्दू, मुश्लिम, सिक्ख, ईसाई, फारसी, आदि सभी मन से है। यदि हिन्दू का मुश्लिम एवं ईशाई विचारधारा के बीच समन्वय नहीं हो पाये तो इसका अर्थ है कि दिल की दीवारें कहीं न कहीं बन्द हैं परन्तु वर्तमान परिस्थितियों ने ऐसा सम्भव कर दिया है कि द्वार कोई भी हों, बन्द न हों। द्वार खुलते जा रहे हैं, दीवारें ढह रहीं हैं इसलिए अब समन्वय विश्व स्तर पर होने की सम्भावना बढ़ रही है और आशाएं बध रही हैं। सबने यह पहचान लिया है कि संस्कृति के अनेक उपादान सबके लिए समान हो सकते हैं। इसी पहचान के कारण ही कुछ नकली प्रभेद यथा- हिन्दू कविता, मुश्लिम कविता, ईशाई कविता अथवा हिन्दू संगीत, हिन्दू चित्रकला, मुश्लिम संगीत, मुस्लिम चित्रकला जैसे प्रभेद आज तक नहीं विकसित हुए। किन्तु भाषा व संस्कृति के परिवर्तन की जो चुनौतियां हैं उसमें आंग्ल भाषा के अधिमानता वैश्विक रुप से मान्य हो रही है।

कुञ्जी शब्द- एकता, आत्मसात्, शिक्षा, संस्कार, सर्वमयता, समन्वय, परम्परा।

प्रस्तावना:-

भाषाओं का अपना एक समाज व संस्कृति होती है और संस्कृति की मूल अंग हैं उसकी अपनी भाषाएं। भाषा का संस्कृति के साथ संश्लिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि भाषा मनोभावों के अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण संस्कृति का मूल अंग होने के साथ-साथ उसे निरुपित भी करती हैं। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषाएं केवल सामाजिक संप्रेषण का आधार

भर नहीं होती हैं यह सामाजिक निर्मिती का भी महत्वपूर्ण आधार हैं।[1] किसी भी भाषा के दो रुप होते हैं, व्यवहारिक अर्थात् सामान्य बोल-चाल में प्रयुक्त होने वाली भाषा (जैसे संस्कृत की बोल-चाल की भाषा में भास, कालिदास, शूद्रक आदि के नाटक) तथा स्थिरता पाने वाली साहित्यिक भाषा (जिसमें संस्कृत के सामान्य साहित्य) सुरक्षित हैं। समाज, भाषा की संरचना करता है और भाषाएं भी समाज को गढ़ती हैं। भाषा के बिना हम किसी समाज की कल्पना नहीं कर सकते हैं। किसी स्थान की जलवायु उसके नदी और पर्वत, उसकी सर्दी और गर्मी तथा अन्य मौसमी हालातें सब मिलजुलकर वहां के प्राणियों में एक विशेष आत्मा का विकास करती हैं, जो प्राणियों की शक्ल-सूरत, व्यवहार, विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती है और अपने को व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती हैं। इस तरह हमारी भाषा का सीधा सम्बन्ध हमारी आत्मा से हैं। अन्य शब्दों में भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रुप है। उसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का प्रकाश है। ज्यों-ज्यों हमारी आत्मा का विकास होता जाता है हमारी भाषा भी प्रौढ़ एवं पुष्ट होती जाती है। जहां तक संस्कृति का प्रश्न है, यह एक ऐसा तत्त्व है जिसे लक्षणों से ही जाना जा सकता है। इसकी व्यापकता को किसी स्पष्ट परिभाषा में नहीं समेटा जा सकता। लिटन नामक प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान ने संस्कृति को 'सामाजिक विरासत' कहा है।[2] अर्थात् संस्कृति ऐसी सामाजिक विरासत है

---

1 डॉ. पी.आर. वासुदेवन' शेष': लेखा परीक्षा प्रकाश, शोध लेख-वैश्विक परिदृश्य में हिन्दी साहित्य और भारतीय संस्कृति, अंक जुलाई-सितम्बर (२०१९) पृष्ठ४६ (https:/rajbhasha.gov.in. visited on26.10.2023 at 5.21pm).

2 राल्फ लिंटन:ऐन्थ्रोपोलोजी बायोग्राफी,अपडेटेड आन २३मई२०१८(https://www.encyclopedia.com, visited on26.10.2023 at 9pm.

जिसमें परम्परा से पाया हुआ कला-कौशल, वस्तु-सामग्री, यान्त्रिक क्रियाएं, विचार, आदतें, जीवन-मूल्य, जीवन-स्तर व जीवन-शैली समावेशित हैं। हमारे प्रतिदिन की छोटी-मोटी बातें, खाना-पीना, पहनना-ओढना, चलना-फिरना, हिलना-मिलना, बात-बर्ताव, हाट-बाट, घर-द्वार, झाड़-बुहार, अपनाव-दुराव, साज-संवार तथा सेवा-सत्कार, आदि इन्हीं की संस्कारिता में संस्कृति का मूल निहित है। वस्तु में, व्यवस्था में, स्वभाव में, व्यवहार में, आहार में, विहार में, प्रतिदिन के क्रिया-कलाप में सुरूचि का ही नाम है सुन्दरता। वही है प्राणी में प्राणित्व की चेतना, उसकी अभिव्यक्ति है कला और उसी की परिणति है संस्कृति। किसी समाज एवं राष्ट्र की संस्कृति में उसकी भाषा रुधिर के समान मूल तत्त्व होती है जो उसके अनेक सांस्कृतिक अवयवों को निरुपित करने के साथ-साथ परस्पर संयोजित, संयमित और प्रवाहमान स्थिरता प्रदान करती है। किसी समाज व राष्ट्र की दृढ़ता एवं मजबूती उस देश की सांस्कृतिक एकता में निहित होती है और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि उस सांस्कृतिक एकता का एक विशेष अंग होती है। यह निश्चित है कि किसी राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक सम्बन्ध जल्द या देर से भले कमजोर पड़ जाएं अथवा टूट जाएं लेकिन भाषा का रिश्ता समय एवं अन्य बिखरने वाली शक्तियों की परवाह नहीं करता और एक तरह से अमर हो जाता है। समाज व राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि उस समाज व देश में सांस्कृतिक एकता हो और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ हो।[1]

निज भाषा उन्नति अहैं, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटे न हिय को शूल।

---

[1] तत्रैव क्रमांक २.

विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देवन से लैस करहूं,भाषा माहि प्रचार।।[1]

अंग्रेजी पढ़ि के जदपि, सब गुन होता प्रवीन।
पै निज भाषा-विज्ञान बिनु, रहता हीन के हीन।।[2]

भारतीय संस्कृति की विशेषताओं में प्रधान हैं, कर्म-प्रधानता, आध्यात्मिकता, प्राचीनता, स्थायित्व, चिंतन की स्वतंत्रता, सामूहिक कुटुम्ब-प्रणाली, ग्रहणशीलता, सहिष्णुता, विश्व कल्याण की भावना, उदारता और सबसे प्रधान विशेषता है अनेकता में एकता।[3] सम्भव है कि प्राचीन काल में भारत वर्ष एक राष्ट्र रहा हो, परन्तु बौद्धों के पतन के पश्चात् उसकी राष्ट्रीयता का भी अंत हो गया था। यद्यपि देश में सांस्कृतिक एकता वर्तमान थी तो भी भाषाओं के भेद-भाव ने देश को खण्ड-खण्ड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानो के शासन काल में भी जो कुछ हुआ या उसमें भिन्न-भिन्न प्रांतों का एकीकरण तो हो गया था, परन्तु उस समय भी देश में राष्ट्रीयता का अस्तित्व नहीं था। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का आरंभ अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ हुआ और उसी की दृढ़ता के साथ-साथ इसकी वृद्धि भी हुई। देश में सांस्कृतिक एकता और भाषा का ऐसी सांस्कृतिक एकता के प्रधान स्तम्भ होने के कारण ही राष्ट्र के जीवन में राष्ट्रीय एकत्व की भावना स्थापित होकर वर्तमान तक दृढ़ से दृढ़तर् होती जा रही है। भारतवर्ष क्षेत्रफल तथा

---

[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता- 'निज भाषा'(https://hi.m.wikipedia.org)विजिट दि.१४.११२०२३,सायं ७.००बजे।

[2] तत्रैव क्रमांक४.

[3] भदंत आनंद कौशलायन: लेख 'सभ्यता संस्कृति का परिणाम है',शोध पत्रिका-"संस्कृति" प्रकाशन वर्ष २०२२-२३।

जनसंख्या की दृष्टि से ही नहीं बल्कि भाषाओं एवं संस्कृति के दृष्टि से भी एक उपमहाद्वीप है।[1] यहां भाषा तथा बोलियां सैकड़ों में हैं किन्तु अट्ठाईस भाषाएं तो इतनी प्रमुख हैं कि भारतीय भाषाओं के रुप में इन्हें क्षेत्रीय भाषाओं के रुप में स्वीकार कर लिया गया है किन्तु अनेकता के बीच एकता का स्वर निनादित होना ही यहां की सांस्कृतिक विशेषता है। लेकिन अनेकता के बीच एकता कोई हाल की घटनाओं या ब्रिटिश शासन का परिणाम नहीं मानी जा सकती बल्कि सांस्कृतिक एकता उतनी ही प्राचीन है जितनी की भारतीय संस्कृति।[2] "भारत की आधारभूत एकता" में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी का कहना है कि "भारतवर्ष सम्प्रदायों एवं रीति-रिवाजों, धर्मों एवं सभ्यताओं, विश्वासों एवं बोलियों, जातीय प्रकारों एवं सामाजिक व्यवस्थाओं का एक अजायब घर है। परन्तु इन सारी विभिन्नताओं के होते हुए भी भारतीय संस्कृति में मूलभूत एकता है।"[3]

ग्रीम सइम्सईयन: 'द रोजी रिजल्ट' में लिखें हैं कि "भौतिक तथा सामाजिक भाषायी परम्पराओं और धार्मिक वैविध्य के अन्तर में भारत के जीवन में हिमालय से केप केमोरिन तक एक एकता देखने को मिलती है।"[4]

वाह्य विभिन्नताओं के होते हुए भी भारतीय संस्कृति में मौलिक

---

[1] शिवदत्त ज्ञानी: भारतीय संस्कृति, द्वितीय संस्करण,(वर्ष- २००३), राजकमल प्रकालन (prayog.pustak.org) विजिट दि.२९.११.२०२३ सायं५.२९बजे।

[2] तत्रैव क्रमांक ७.

[3] डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी: हिन्दू संस्कृति में राष्ट्राद, पुस्तक समीक्षा(https://www.academics4nation.org)विजिट २९.११.२०२३,सायं ६.१४बजे

[4] ग्रीम सइम्सईयन: द रोजी रिजल्ट (२०१९),पुस्तक समीक्षा,(mnews-org.translate.goog)विजिट२९.११.२०२३सायं६.४८बजे

एकता पायी जाती है जिसका आदर्श अत्यन्त प्राचीन है जो आधुनिक समय में भी दृढ़ होता जा रहा है। पुराणों तथा महाकाव्यों में भी भारत वर्ष को इसी नाम से पुकारा गया है और इस तरह से भारत वर्ष नाम में आधारभूत भौगोलिक एकता के चिन्ह हैं। यथा-

उत्तरी यंत्र समुद्रीय, हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं।

वर्ष तद् भारतं नाम,भारती यत्र संतति:।।[1]

भारत में धर्म तथा संस्कृति सिक्के के दो पहलू हैं। धार्मिक क्षेत्र में अनेकता तो है परन्तु एकता की संस्कृति है। सांस्कृतिक एकता एवं भाषा अनेकता में एकता का मूलभूत तत्त्व है। विभिन्न भाषाओं, रीति-रिवाजों के होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदायों के साहित्य और विचारों पर सांस्कृतिक एकत्व की छाप है। परिवार की पवित्रता, जाति के नियम, संस्कार व रसोई आदि के पवित्रता के नियम सभी सम्प्रदायों एवं समाजों में एक से माने जाते हैं। होली, रक्षाबंधन, दशहरा, दीवाली, एवं अन्य त्यौहार सारे देश में एक ही प्रकार से मनाए जाते हैं जो इस बात के प्रतीक हैं कि भारत में सांस्कृतिक एकता है।

संस्कृत भाषा के प्रचार ने भाषायी भेद को बहुत हद तक दूर कर दिया। भाषायी समस्या का भी सम्बन्ध अनेकता में एकता से हैं। कहना न होगा कि यदि एक देश में कई भाषाएं हैं तो देश की एकता बढ़ने में कठिनाई होती है। भारत भी इस समस्या से अछूता नहीं है किन्तु संस्कृत भाषा के प्रचार ने भाषा के भेद वाले कठिनाई को बहुत कुछ दूर कर दिया।[2] उत्तर और दक्षिण भारत के लोग संस्कृत को एक भांति अपनी

---

[1] विष्णु पुराण(२.३.१).

[2] जनसत्ता-अखबार,सम्पादकीय,'भाषायी भेद-भाव की शिक्षा व संस्कृत' दि.१७.०९.२०१७

भाषा मानते हैं। संस्कृत और हिन्दू संस्कृति की छाया में रहकर विभिन्न भाषाओं और विभिन्न जाति-धर्म वाला यह देश एक हो गया है। संस्कृत भाषा ही प्राचीन भारत की भाषा थी। संस्कृत भाषा के साथ प्राकृत भाषा का भी प्रयोग मिलता है जो संस्कृत से मिलती-जुलती है। उस समय संस्कृत विद्वानों की भाषा थी और प्राकृत सर्व साधारण की भाषा थी। संस्कृत के बहुत से प्रसिद्ध विद्वानों ने इन दोनों भाषाओं का प्रयोग अपनी कृतियों में किया जिसके कारण तत्कालीन समय में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषा का भी प्रचार प्रसार हुआ।[1] सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में इसी भाषा की शरण ली थी। धीरे-धीरे इसका स्थान पालि भाषा ने ले लिया। बौद्धों का त्रिपिटक और जैनों के बहुत से साहित्य पालि भाषा में भी है किन्तु संस्कृत भाषा को सभी सम्प्रदायों व धर्मों के अनुयाइयों ने बिना किसी धर्म और जाति के भेद-भाव के अपने धार्मिक ग्रंथों की रचना के लिए चुना क्योंकि प्राकृत और पालि तो संस्कृत की संतान भाषा थीं। आज की हिन्दी, मराठी, गुजराती, बांग्ला, आदि भाषाएं भी संस्कृत से ही निकली हैं। तमिल और तेलुगू पर भी संस्कृत का प्रभाव है। संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जिसमें भारत का समस्त प्राचीन धार्मिक तथा अन्य प्रकार का साहित्य उपलब्ध है। गीता, महाभारत, पुराण व संहिता आदि का स्थान भारत के प्रत्येक घर में पूज्य हैं चाहे वह हिंदी भाषी हो, बांग्ला भाषी हो, तमिल भाषी हो या पंजाबी भाषी। ये ग्रंथ भारत के प्रत्येक व्यक्ति को सुख और शांति देते हैं। प्रतिदिन स्नान के समय की जाने वाली प्रार्थना में देश के प्रमुख नदियों के नाम आता है जो संस्कृत भाषायी आधार पर सांस्कृतिक ऐक्य का द्योतक है।

यथा-

---

[1] तत्रैव क्रमांक १२.

गंगे च यमुना चैव गोदावरी सरस्वति।

नर्वदे सिंधु कावेरी,जलेस्मिन् सन्निधि कुरु।।[1]

प्राचीन काल से ही बहुत जातियां और कबीले यथा आर्य, शक, सीथियन, हूण आदि आते रहे परन्तु आज उन्हें पहचानना कठिन है क्योंकि इनको भारतीय संस्कृति ने आज अपने में आत्मसात् कर लिया है। भारतीय संस्कृति इस देश में आकर बसने वाली अनेक जातियों के संस्कृति की मेल से तैयार हुई है और अब यह पता लगाना कठिन हैं उसमें किस जाति का कितना अंश अवशेष हैं।[2]

जहां तक समन्वय का अर्थ है, यही माना जाता है कि उसमें कुछ अलग-अलग चीजें मिली जुली हों। विभिन्न विश्वासों और जीवन प्रकारों का सह-अस्तित्व हो। समन्वय की स्थिति में जो पदार्थ जुड़ते हैं वे अलग-अलग भी पहचाने जा सकते हैं और परस्पर सम्बद्ध रुप में भी पहचाने जा सकते हैं। जिस रुप में वे एक दूसरे के सापेक्ष हैं वहां वे एकता के सूत्र बनते हैं और जिस रुप में वे निरपेक्ष है अथवा किसी बाहरी पदार्थ के सापेक्ष हे, वहां वे विलगाव के कारण बनते हैं। पूरी तरह समन्वय समरसता से आता है यदि समन्वय में समरसता का भाव नहीं है तो वहां विलगाव उत्पन्न होता है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का विभाजन इसका प्रमाण है। विभाजन के बाद भी कहीं न कहीं आकांक्षा पाकिस्तानी व हिन्दुस्तानी के बीच अब भी कभी-कभी अंकुरित होती रहती है। यह सम्पूर्ण समन्वय की तलब का प्रमाण है। भारतीय संस्कृति सबको आत्मसात् कर लेती है यह उसकी एक विशेषता है। कितनी जातियां यहां घुली-मिली हैं उनकी अलग पहचान नहीं रह गयी हैं। गंगा की धारा में जितनी नदियां मिलीं सब गंगा हों गईं। किन्तु उससे बड़ी विशेषता यह है कि भारतीय संस्कृति

---

[1] स्नान मंत्र-मंगलाष्टक, गंगा स्त्रोतम। गंगा अष्टकम, रचित आदिशंकराचार्य।

[2] उपर्युक्त क्रमाक १२.

परायापन नहीं देखती, न मनुष्य के किसी प्रजाति में, न जीवन जगत् में। अत: आक्रामक से आक्रामक, हिंस्र मनुष्य या पशु को भी आत्मीय भाव से देखती है। समन्वय भी कई प्रकार के होते हैं परन्तु समन्वय का उदाहरण है दक्षिण पूर्व एशिया का कला कविता, जहां पर भारतीय महाद्वीप के कथानकों (रामकथा, महाभारत कथा, जातक कथा से सम्बद्ध) का नया विस्तार हुआ है, किन्तु मूल संदेश वहीं है। यद्यपि आकृतियों और उनके अभिलक्षणों में थोड़े बहुत अपनी जातीय कल्पना के अनुसार नये रुपान्तर भी किए गये हैं। इसमें अलग पहचान भी होती है। साथ ही यह भी पहचान होती है कि कहीं हम उनके भीतर हैं। समन्वय खुले मन से होता है और खुलेमन वाला ही समन्यवित होने हेतु तैयार भी होता है। यदि मुश्लिम एवं ईशाई विचारधारा के बीच समन्वय नहीं हो पाये तो इसका मतलब है दिल की दीवारें कहीं न कहीं बन्द हैं परन्तु वर्तमान परिस्थितियों ने ऐसा सम्भव कर दिया है कि द्वार कोई भी बन्द न हों, द्वार खुल रहे हैं, दीवारें ढह रहीं हैं। इसलिए अब समन्वय विश्व स्तर पर होने की सम्भावना बढ़ रही और आशा बध रही हैं। सतही तौर पर तनाव की डोर भले खिंची हुई, एक दूसरे के साथ हाथ मिलाने को हाथ न बढ़ते हों। भारतीय परिवेश में यह सुखद बात थी कि हिन्दू विचारधारा इस्लाम और ईसाईयत से काफी दूर थी अत: धर्म यहां पहले ही जितना था, साफ था। उसे मानकर ही जुड़ाव हुआ। ज्ञान-विज्ञान का विनिमय हुआ, कथा-काव्य शैलियों की लेन-देन हुयी। कला भंगिमाओं का आदान- प्रदान हुआ। धीरे-धीरे एक दूसरों ने एक-दूसरों के गुण-दोषों को अपना लिए। यहां तक कि हास-परिहास तक एक दूसरे से मिल गय। सबने यह पहचाना है कि संस्कृति के अनेक उपादान समान हो सकते हैं। किन्तु इसी पहचान के कारण कुछ नकली भेद, हिन्दू कविता, मुश्लिम कविता, ईशान कविता, या हिन्दू संगीत, हिन्दू चित्रकला, मुश्लिम संगीत, मुस्लिम चित्रकला जैसे भेद

नहीं विकसित हुए।[1]

भारतीय संस्कृति की मूल शक्ति है उसकी सर्वमयता। उसके देवी देवता सबके हैं, वे सर्वमय हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि जो सबको देखता है, वही देखता है। जो सबको नहीं देख पाता है, वह जीवन को नहीं समझ सकता क्योंकि तब वह मृत्यु से आतंकित रहता है। व्यक्ति के रुप में वह असुरक्षित रहता है। सबके साथ वह जुड़कर अमर हो जाता है। वह अपनी संतान में जीवन की संभावना देखता है। वह स्वयं को अपने पूर्वजों के अधूरी आकांक्षाओं की पूर्ति के रुप में देखता है। भारतीय मन ही हिन्दू, मुश्लिम, सिक्ख, ईसाई, फारसी, आदि सभी मन है। भारतीय मन ही है जो हिन्दू को जायसी के पद्मावत का रसास्वादन करवाता है यद्यपि इसमें इस्लामी मत का प्रतिपादन है। भारतीय मन ही है जो रसखान जैसे मुसलामान को कृष्ण के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट करता है। माईकल मधुसूदन दत्त से विरहिणी वज्रागंना लिखाता है। भारतीय मन के विशालता के कारण ही हिन्दू मन रहता है, भारतीय भी रहता है, मुसलमान मुसलमान भी रहता है, तूतिए हिन्द भी रहता है, ईसाई भी रहता है और रामचरित मानस का पारायणी भी बना रहता है, ग्राउंड जैसा व्यक्ति रामचरित मानस का अंग्रेजी अनुवाद ही नहीं करता, ब्रज भाषा में कविता भी करता है।

समकालीन भारतीय समाज तीव्र स्रकमण के दौर से गुज़र रहा है। परिवर्तन की आधियां अनेक दिशाओं से आ रही हैं। एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है तो दूसरी ओर परम्परा के आग्रह हैं। पश्चिमी जीवन शैली नये मूल्य अपने-आप ले आ रही है जिन्हें अपनी जड़

---

[1] डॉ. विद्यानिवास मिश्र: नदी, नारी और संस्कृति, गद्य संकलन-गद्य गौरव में संकलित।(https://hi.m.wikipedia.org, विजिट दि.२६.१०.२०२३, ७.००बजे सायं।

से कटे भारतीय आधुनिकता समझ कर बिना तर्क के अपना रहे हैं। यह अंध अनुकरण एक नयी चिन्ता को जन्म देता है। अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृति हीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की चिंता। प्रगति एवं परम्परा के समन्वय के जो प्रयत्न हुए हैं उनके अधिकांश परिणाम हास्यास्पद रहे हैं, न हम भारतीय रह गये हैं न हम सच्चे अर्थों में आधुनिक हुए है। छद्म भारतीयता पर छद्म आधुनिकता का हमने लबादा ओढ़ लिया है और अनेक भ्रमों को पालते हुए एक गनतव्यहीन यात्रा पर निकल पड़े हैं।[1] स्थिति और भी उलझन भरी उस समय होती है जब हमें यह अनुभव होता है कि परम्परा के पास आज के समाज की सभी समस्याओं का हल नहीं है और न आधुनिकता के कार्यक्रम में ऐसी कोई शक्ति है कि वह परम्परा की अवहेलना कर समाज को आगे बढ़ा सके। आज के संक्रमण की पीड़ा यही है कि हम अनिर्णय की दलदल में फंसते जा रहे हैं और सार्थक विकल्पों की खोज के मार्ग को अवरोधित पा रहे हैं। क्षद्म आधुनिकीकरण पहली बड़ी चुनौती है।[2] हमने आधुनिकता के आधार मूल्य-तार्किक विवेक, परानूभूति, सामाजिक गतिशीलता और सक्रिय सहभागिता नहीं अपनाए बल्कि हम उसके बाह्य उपभोक्तावादी लक्षणों में ही उलझकर रह गये। इससे व्यक्ति केन्द्रिकता बढ़ी लेकिन सामाजिक सरोकार का ह्रास हुआ।

विदेशियों ने हमारी संस्कृति को आध्यात्मिक कहा[3] और हमने कृतज्ञ भाव से इस निरुपम को स्वीकार कर लिया। सत्य यह है कि हमारे पौराणिक आख्यान प्रणय प्रसंगों से भरे हैं। अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के क्षेत्रों में

---

[1] उपर्युक्त क्रमांक ७.

[2] श्यामाचरण दूबे: इंडीयन वीलेज, प्रकाशित१९५५अनुवादक-वंदना मिश्रा,दिल्ली, जुलाई -१९९०।

[3] जागरण संवाददाता कुरूक्षेत्र: पद्मश्री मनोज जोशी।लेख-जासं कुरूक्षेत्र अध्यात्म एवं भारतीय संस्कृति, प्रकाशित २९जुलाई २०२०, समय०९.५१प्रात:।

हमारी उपलब्धियां चमत्कृत कर देने वाली है और संस्कृत (तथा उससे सम्बद्ध भाषाओं जैसे, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश) में अध्यात्म निरपेक्ष विषयों की अमूल्य निधि है। संभवत: संसार की अन्य क्लासिकीय भाषाओं से अधिक विशेषता यह है कि हमने इन तत्वों को एक आधार देने का यत्न किया था जिसका अब अवमूल्यन हो रहा है। आज जो स्थिति उभर रही है उसमें सूक्ष्म, लघु और क्षेत्रीय अस्मिता स्वायत्तता की घोषणा कर रही है और अपने आपको देश की विराट परम्पराओं से धीरे-धीरे असंपृक्त कर रही है। इस प्रवृत्ति के कतिपय परिणाम विघटनकारी है, पर वह अकारण नहीं है, उसके अपने तर्क हैं। अपने सांस्कृतिक यथार्थ की समझ जरुरी है लेकिन इस क्षेत्र में दुराग्रह सांस्कृतिक अराजकता को जन्म दे रही है।[1]

निष्कर्षत: भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण संस्कृति का मौलिक अंग हैं और उसे निरुपित भी करती है। राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन एवं एकता हेतु जरूरी है भाषा की एकता। आज सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ है- कर्म-प्रधानता, आध्यात्मिकता, स्वतंत्र चिंतन, सामूहिक कुटुम्ब-प्रणाली, संस्कार, सर्वमयता, सहिष्णुता, विश्व कल्याण की भावना, उदारता और परोपकारिता आदि भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों विशेषत: 'अनेकता में एकता' के व्यवहार में भाषा की प्रमुख भूमिका होती है। भारत में सांस्कृतिक एकता और भाषा का ऐसी एकता का रुधिर तत्त्व होने के कारण ही यहां राष्ट्रीय एकत्व की भावना स्थापित होकर अद्यतन दृढ़तर है। भारत में संस्कृत भाषा का प्रचार भाषाई-भेद वाले कठिनाई को बहुत हद तक दूर कर दिया है। 'परस्पर समन्वय' संस्कृति का प्रधान तत्त्व होने से यहां 'भारतीय मन' का मतलब हिन्दू, मुश्लिम, सिक्ख, ईसाई, फारसी,

---

[1] जागरण: शास्वत गुप्ता,'संस्कृति के चार अध्याय'प्रकाशित दि.०९.०१.२०२२, पुस्तक समीक्षा,(https://www.jagran.com)विजिट दि. ०९.११.२०२३, सायं ६.५१बजे।

आदि सभी मन से लिया जाता है। आज सबने यह पहचान लिया है कि संस्कृति के अनेक उपादान सबके लिए समान हैं। इसी पहचान के कारण ही कुछ नकली प्रभेद यथा- हिन्दू कविता, मुश्लिम कविता, ईशाई कविता अथवा हिन्दू संगीत, हिन्दू चित्रकला, मुश्लिम संगीत, मुस्लिम चित्रकला जैसे प्रभेद आज तक नहीं विकसित हुए जो राष्ट्र हित में अत्यन्त सकारात्मक संकेत हैं।

पुराणों में भाषा और संस्कृति एक अध्ययन

प्रा. डॉ. घाडगे शंकर धारबा
संस्कृत विभाग
पुण्यश्लोक अहिल्यादेवी होळकर महाविद्यालय
राणीसावरगाव ता गंगाखेड जि. परभणी

प्रस्ताविक:-

वेदों ने भारतीय संस्कृति को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। वेदों में निहित बीज-सूत्रों ने उपनिषदों की चिंतन धारा को उद्गम दिया, जिससे भारतीय दर्शन प्रवाहित हुई। किंतु इनसे भारतीय दर्शन, पुराण, आध्यात्मिक विचार प्रणाली ही निर्मित हुई। वेदों की भाषा तथा शैली कठिन है। पुराण उसी ज्ञान के सहज तथा रोचक संस्करण हैं। पुराणों में जटिल तथ्यों को कथाओं के माध्यम से समझाया गया है। भारत के प्राचीन संस्कृत-साहित्य में पुराण-साहित्य बहुत विशाल और गौरवमय है। भारतीय अनुपम संस्कृति की विभिन्न परम्पराओं तथा वेदों के बाद पुराणों की मान्यता है। पुराण भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। कोई भी व्यक्ति इस कथन की सत्यता से इंकार नहीं कर सकता। पुराणों ने भारतीय जीवन को जीवन-रस, जीवन-शैली, जीवन-व्यवहार, लोक-व्यवहार और लोक-जीवन का व्यवस्थित स्वरूप दिया है।

पुराणों कों एक प्रकार से भारतीय सभ्यता, संस्कृति, नैतिकता, सामाजिक परम्परायें, राजनीति, इतिहास, भूगोल, इतिहास, खगोल, सामाजिक परम्परायें, विज्ञान आदि अन्य विषयों का विश्वकोष कहा जा सकता है। विशेष तथ्य यह है कि, पुराणों में देवी-देवताओं, राजाओं और ऋषि-मुनियों के साथ-साथ जन साधारण की कथाओं का भी उल्लेख किया गया हैं। जिससे पौराणिक काल के सभी पहलूओं का चित्रण मिलता

है। पुराण, हिन्दुओं के धर्म-सम्बन्धी आख्यान ग्रन्थ हैं, जिनमें संसार-ऋषियों-राजाओं के वृत्तान्त आदि हैं। भारतीय जीवन-धारा में जिन ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है उनमें पुराण प्राचीन भक्ति-ग्रन्थों के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। पुराणों में लिखित ज्ञान और नैतिकता की बातें आज भी प्रासंगिक, अमूल्य तथा मानव सभ्यता की आधारशिला हैं। इसलिऐ हम पुराणों में भाषा और संस्कृति पर विवेचन करनेवाले है।

उद्देश्य:-

१) पुराण संस्कृत भाषा और भारतीय जीवनशैली के आधार हैं।

२) पुराण कोष ज्ञान के, कथाओं के, और विविध विद्याओं के विशद भण्डार हैं।

३) पुराण भारतीय संस्कृति के, दिव्य कथाओं के अनोखे भंडार हैं।

४) पुराण दिग्दर्श हैं, विविध विधि-विधानों के, सभी वेदों के, उपनिषदों के सार हैं।

५) पुराण व्यावहारिक निचोड़ हैं, ऋषि चिंतन के, और भारतीय जीवन शैली के आधार।

पुराणों की भाषा और विषयवस्तुः-

संस्कृत का अर्थ होता है- परिष्कृत। अतः संस्कृति का सम्बन्ध ऐसे तत्त्वों से है जो व्यक्ति का परिष्कार कर सके। 'पुराण' का शाब्दिक अर्थ है- 'प्राचीन' या 'पुराना'। पुराणों की रचना मुख्यतः संस्कृत में हुई है, पुराणों के संकलन और समय के बारे में विमर्श करें तो पुराणों की रचना एक समय की नहीं है, लगभग श्रुतिकाल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक निरन्तर उनकी रचना, संक्षिप्त संस्करण, सम्पादन और संकलन होता गया है। महापुराण के रचनाकार पुष्यदन्त है। अपभ्रंश भाषा में रचित महान ग्रंथ 'महापुराण' महाकवि पुष्पदंत की लेखनी से प्रसूत अमर काव्य है। किन्तु कुछ पुराण क्षेत्रीय भाषाओं में भी रचे गए हैं। हिन्दू और जैन दोनों

ही धर्मों के वाङ्मय में पुराण मिलते हैं। विभिन्न पुराणों की विषय-वस्तु में बहुत अधिक असमानता है। इतना ही नहीं, एक ही पुराण के कई-कई पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, जो परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। हिन्दू पुराणों के रचनाकार अज्ञात हैं और ऐसा लगता है कि कई रचनाकारों ने कई शताब्दियों में इनकी रचना की है। इसका सबसे पुराना लिखित ग्रंथ तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व का माना जाता है, जिसके बाद से भाषा का विकास जारी है। दूसरी तरफ एक प्राचीन इंडो-आर्यन भाषा संस्कृत को दुनिया की सबसे पुरानी भाषाओं में से एक माना जाता है। संस्कृत का इतिहास 3500 साल पुराना है। पुराण मूल रूप से संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं में रचित है, इनमें से कई ग्रंथों के नाम प्रमुख हिंदू देवताओं जैसे- विष्णु, शिव, ब्रह्मा और आदि शक्ति के नाम पर हैं।

पुराणों में यद्यपि सरल, परिमार्जित तथा स्वाभाविक संस्कृत भाषा का प्रयोग है, जो अनेक युगों की जन प्रचलित वाग्धाराओं का प्रतिनिधित्व करती है। किन्तु कुछ पुराणों में काव्यमयी अभिव्यक्ति मिलती है। पुराणों में गद्य पद्य दोनों का मिश्रित रूप साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सभी लिखे और कहे का संदर्भ आज भी हम कहीं ढूंढ़ते हैं तो संस्कृत में ही तो ढूंढ़ते हैं। संस्कृत से ही तो हमारी परंपराओं का पोषण हुआ है। उन परंपराओं का, जिनमें वैदिक, उपनिषद् और पौराणिक, सामाजिक और आर्थिक साहित्य लिखा गया। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वेद, उपनिषद्, गीता, सभी संस्कृत में ही लिखे गए हैं। लिखने और बोलने में कहीं अटके, कहीं भटके तो त्वरित शास्त्रों का, अर्थशास्त्र का, पाणिनि के व्याकरण का, पंतजलि के योगशास्त्र का, आर्यभट्ट के खगोलशास्त्र के संदर्भ संस्कृत में ही तो मिलते है।

पुराणों में गाथाएं हैं, कथाएं हैं। सृष्टि की रचना और प्रलय की प्रक्रिया के संबंध में कल्पना की अद्भुत उड़ानें हैं। जीवन के प्रेय व श्रेय,

कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, बंधन-मोक्ष, लोक-परलोक, सुमार्ग-कुमार्ग और स्वर्ग-नरक के विश्लेषणात्मक विवरण हैं। प्रवृत्ति-निवृत्ति (कर्म-संन्यास), विधि-निषेध, यम-नियम के विस्तृत विवेचन हैं और विभिन्न अवतारों, ब्रह्माण्डविद्या, देवी-देवताओं, राजाओं, नायकों, ऋषि-मुनियों की वंशावली, लोककथाएँ, तीर्थयात्रा, मन्दिर, पहाड़ों, पर्वों व अनुष्ठानों की आवश्यकताओं और माहात्म्य के अर्थपूर्ण विवरण हैं। सम्राटों व राजाओं के वंशों व कार्यों, उनके उत्थान-पतन, उनकी उपलब्धियों व भूलों की अर्थगर्भित कहानियां हैं तथा भूगोल, खगोल, ज्योतिष, सामुद्रिक, स्थापत्य, व्याकरण, छंद विज्ञान, आयुर्वेद, प्रेत-कल्प, अध्यात्म, आदि अनेकानेक विषयों के अवलोकन, चिंतन व कल्पना पर आधारित अद्भुत विवरण हैं। पुराण जनसमान्यों का ग्रंथ है, विद्वानों का नहीं इसीलिए यह सरल व्यावहारिक भाषा में रचित है, शास्त्रीय भाषा में नहीं। हिन्दू संस्कृति का रहस्य और विज्ञान महर्षि वेदव्यास ने 18 पुराणों का संस्कृत भाषा में संकलन किया है। ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर उन पुराणों के मुख्य देव हैं। त्रिमूर्ति के प्रत्येक भगवान स्वरूप को छः पुराण समर्पित किये गये हैं। इन 18 पुराणों के अतिरिक्त 16 उप-पुराण भी हैं किन्तु विषय को सीमित रखने के लिये केवल मुख्य पुराणों मे संस्कृति का संक्षिप्त वर्णन निम्न दिया गया है। इस प्रकार है।

पुराण परिचय और संस्कृतिः-

पुराणों की संख्या 18 है। ये 18 महापुराणो के नाम हैः– ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्माण्ड तथा नारद।

1) ब्रह्म पुराणः- यह सबसे प्राचीन है इसलिए इसे "आदिपुराण" भी कहा जाता है। प्राचीन माने गए सभी पुराणों में इसका उल्लेख है। इसमें श्लोकों की संख्या अलग-२ प्रमाणों से भिन्न-भिन्न है- 10000-12000

और 13787 ये विभिन्न संख्याएँ मिलती है। इसका प्रवचन नैमिषारण्य में लोमहर्षण ऋषि ने किया था। इसमें सृष्टि, मनु की उत्पत्ति, उनके वंश का वर्णन, देवों और प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है। इस पुराण में विभिन्न तीर्थों का विस्तार से वर्णन है। इसमें कुल 245 अध्याय हैं। इसका एक परिशिष्ट सौर उपपुराण भी है, जिसमें उड़िसा के कोणार्क मन्दिर तथा तीर्थ– स्थानों का वर्णन है तथा सूर्य की शिव के रूप में स्तुति की गई है।

2) पद्मपुराण:- इसमें कुल 641 अध्याय और 48000 श्लोक हैं। मत्स्यपुराण के अनुसार इसमें 55000 और ब्रह्मपुराण के अनुसार इसमें 59000 श्लोक थे। इसमें कुल खण्ड हैं- (अ) सृष्टिखण्ड (ब) भूमिखण्ड (क) स्वर्गखण्ड, (ड) पातालखण्ड और (प) उत्तरखण्ड। इसका प्रवचन नैमिषारण्य में सूत उग्रश्रवा ने किया था। ये लोमहर्षण के पुत्र थे। इस पुराण में अनेक विषयों के साथ विष्णुभक्ति के अनेक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इसका विकास 5वीं शताब्दी माना जाता है। इसमें पाँच खण्ड है:- सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल तथा उत्तर। इसमें राधा का कृष्ण की प्रेयसी के रूप में उल्लेख है। विष्णुपरक होते हुए भी यह पुराण ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवताओं के एकत्व की भावना को स्थापित करता है।

3) विष्णु पुराण :- पुराण के पाँचों लक्षण इसमें प्राप्त होते है। इसमें कुल छः खण्ड हैं, 126 अध्याय, श्लोक 23000 या 24000 या 6000 हैं। इस पुराण के प्रवक्ता पराशर ऋषि और श्रोता मैत्रेय हैं। इसमें विष्णु को अवतार मानकर उसकी स्तुति की गई है।

4) वायु पुराण :- इस पुराण को विश्वपुराण भी कहा जाता है। इसमें विशेषकर शिव का वर्णन किया गया है, अतः इस कारण इसे "शिवपुराण" भी कहा जाता है। एक शिवपुराण पृथक् भी है। दो अध्याय विष्णु संबंधी भी हैं। संगीतशास्त्र पर भी एक अध्याय है। गुप्त साम्राज्य का वर्णन होने

के कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी काफी है।

इसमें 112 अध्याय, 11000 श्लोक हैं। इस पुराण का प्रचलन मगध-क्षेत्र में बहुत था। इसमें गया-माहात्म्य है। इसमें कुल चार भाग है : (अ) प्रक्रियापाद– (अध्याय- 1-6), (ब) उपोद्घात- (अध्याय-7-64), (क) अनुषङ्गपादः–(अध्याय—65-99), (ड) उपसंहारपादः–(अध्याय—100-112)। इसमें सृष्टिक्रम, भूगोल, खगोल, युगों, ऋषियों तथा तीर्थों का वर्णन एवं राजवंशों, ऋषिवंशों, वेद की शाखाओं, संगीतशास्त्र और शिवभक्ति का विस्तृत निरूपण है। इसमें भी पुराण के पञ्चलक्षण मिलते हैं। वायु पुराण के अनुसार पुराणों में बहुत से धर्मों का निरूपण हुआ है। यहाँ रागी, विरागी, यती, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा अन्यान्य संकर जातियों द्वारा विधेय धर्मों का वर्णन है।

5)भागवत पुराण:- इस पुराण को कई जगह पर पंचम वेद भी कहा गया हैं। इसमें विष्णु के अवतारों का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। यह सर्वाधिक प्रचलित पुराण है। इस पुराण का सप्ताह-वाचन-पारायण भी होता है। इसे सभी दर्शनों का सार "निगमकल्पतरोर्गलितम्" और विद्वानों का परीक्षास्थल "विद्यावतां भागवते परीक्षा" माना जाता है। इसमें श्रीकृष्ण की भक्ति के बारे में बताया गया है। इसमें कुल 12 स्कन्ध, 335 अध्याय और 18000 श्लोक हैं। कुछ विद्वान् इसे "देवीभागवतपुराण" भी कहते हैं, क्योंकि इसमें देवी (शक्ति) का विस्तृत वर्णन हैं। इसका रचनाकाल 6वीं शताब्दी माना जाता है। 10वें स्कंध में कृष्ण की लीलाओं का विस्तृत वर्णन है। इसकी भाषा– शैली सुरुचिपूर्ण एवं शुद्ध है। इसके दशावतार वर्णन में सांख्य दर्शन के कपिलमुनि और बौद्ध के प्रवर्तक गौतम बुद्ध को भी विष्णु का अवतार माना गया है।

6) मार्कण्डेय पुराण:- इसमें इंद्र, ब्रह्मा, अग्नि व सूर्य को प्रमुख देवता माना गया है। देवी माहात्म्य में दुर्गादेवी की महिमा का बखान

किया गया है।

7) **अग्निपुराण**:- का महत्त्व सबसे अधिक है। इसमें 45000 श्लोकों में विविध विषयों का प्रतिपादन किया गया है। भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का यह विश्वकोष है। इसमें काव्यशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि विषयों का वर्णन है।

8) **मार्कण्डयपुराण:** इस पुराण को प्राचीनतम पुराण माना जाता है। इसमें इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि वैदिक देवताओं का वर्णन किया गया है। इसके प्रवक्ता मार्कण्डेय ऋषि और श्रोता क्रौष्टुकि शिष्य हैं। इसमें 138 अध्याय और 70000 श्लोक हैं। इसमें गृहस्थ-धर्म, श्राद्ध, दिनचर्या, नित्यकर्म, व्रत, उत्सव, अनुसूया की पतिव्रता-कथा, योग, दुर्गा-माहात्म्य आदि विषयों का वर्णन है।

9)**भविष्य पुराण**:- भविष्य पुराण में 121 अध्याय तथा 2800 श्लोक हैं। इस ग्रंथ में सूर्य का महत्व, वर्ष के 12 महीनों का निर्माण, भारत के सामाजिक, धार्मिक तथा शैक्षिक विधानों आदि कई विषयों पर वार्तालाप है।

इस पुराण में साँपों की पहचान, विष तथा विषदंश सम्बन्धी महत्वपूर्ण जानकारी भी दी गयी है। इस पुराण मे भविष्य वाणियाँ की गई हैं। इसमें चारों वर्गों के कर्त्तव्य तथा सूर्य, नाग व अग्नि की पूजा का वर्णन है। इसका सृष्टि विषयक प्रकरण मनु के धर्मशास्त्र के आधार पर लिखा गया है। इस पुराण की कई कथायें बाईबल की कथाओं से भी मेल खाती हैं। इस पुराण में पुराने राजवँशों के अतिरिक्त भविष्य में आने वाले नन्द वंश, मौर्य वंशों, मुग़ल वंश, छत्रपति शिवाजी और महारानी विक्टोरिया तक का वृतान्त भी दिया गया है। ईसा के भारत आगमन तथा मुहम्मद और कुतुबुद्दीन ऐबक का जिक्र भी इस पुराण में दिया गया है। इसके

अतिरिक्त विक्रम बेताल तथा बेताल पच्चीसी की कथाओं का विवरण भी है। सत्य नारायण की कथा भी इसी पुराण से ली गयी है।

10) ब्रह्मवैवर्त पुराण:- ब्रह्मावैवर्त पुराण में 18000 श्लोक तथा 218 अध्याय हैं। विभाजित है। ब्रह्म, प्रकृति, गणपति और कृष्ण इन चार खण्डों में विभाजित है। प्रकृति खण्ड में प्रकृति का दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री व राधा के रूप का वर्णन है। गणेश खण्ड में गणेश को कृष्ण का अवतार माना गया है तथा कृष्ण खण्ड में कृष्ण के संपूर्ण जीवन का वर्णन है। यह कृष्ण का सर्वोच्च देवता के रूप में व राधा को उनकी शक्ति के रूप में वर्णित करता है। इस पुराण में आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान भी संकलित है।

11) लिंग पुराण:- लिंग पुराण में 11000 श्लोक और 163 अध्याय हैं। सृष्टि की उत्पत्ति तथा खगौलिक काल में युग, कल्प आदि की तालिका का वर्णन है। लिंग पुराण में शिव के 28 अवतारों का वर्णन है। इसमें शिवपूजा, विशेषत: लिंग पूजा का प्रतिपादन किया गया है। राजा अम्बरीष की कथा भी इसी पुराण में लिखित है। इस ग्रंथ में अघोर मंत्रों तथा अघोर विद्या के सम्बन्ध में भी उल्लेख किया गया है।

12) वराहपुराण:- वराह पुराण में 217 स्कन्ध तथा 10000 श्लोक हैं। इस ग्रंथ में वराह अवतार की कथा के अतिरिक्त भागवत गीता महामात्या का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस पुराण में सृष्टि के विकास, स्वर्ग, पाताल तथा अन्य लोकों का वर्णन भी दिया गया है। श्राद्ध पद्धति, सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन विचरने, अमावस और पूर्णमासी के कारणों का वर्णन महत्वपूर्ण बात यह है कि जो भौगौलिक और खगोलिक तथ्य इस पुराण में संकलित हैं वही तथ्य पाश्चात्य जगत् के वैज्ञिानिकों को पंद्रहवी शताब्दी के बाद ही पता चले थे। इस पुराण में विष्णु के वराहावतार का वर्णन है। यह भी वैष्णव पुराण है। इसमें नचिकेतोपाख्यान, श्राद्ध, प्रायश्चित्त, देवभूमियों की प्रतिष्ठापना, मथुरा

माहात्म्य आदि का वर्णन है।

13) स्कंदपुराण:- स्कन्द पुराण सबसे विशाल है। इसमें 81000 श्लोक हैं। यह 6 संहिताओं में विभक्त हैं। इसमें शिवभक्ति, योग, मोक्ष, वर्णाश्रमधर्म, वैदिक कर्मकाण्ड, सूर्य देव, विष्णु के राम रूप में अवतार लेने और भारत के सभी तीर्थ स्थानों का वर्णन है। गंगासहस्त्रनाम भी इसी पुराण में है। इस पुराण में प्राचीन भारत का भौगौलिक वर्णन है। जिसमें 27 नक्षत्रों, 18 नदियों, अरुणाचल प्रदेश का सौंदर्य, भारत में स्थित 12 ज्योतिर्लिंगों, तथा गंगा अवतरण के आख्यान शामिल हैं। इसी पुराण में स्याहाद्री पर्वत श्रंखला तथा कन्या कुमारी मन्दिर का उल्लेख भी किया गया है। इसी पुराण में सोमदेव, तारा तथा उन के पुत्र बुद्ध ग्रह की उत्पत्ति की अलंकारमयी कथा भी है।

14) वामन पुराण:- इस पुराण में 95 अध्याय तथा 10000 श्लोक तथा दो खण्ड हैं। इस पुराण का केवल प्रथम खण्ड ही उपलब्द्ध है। इस पुराण में वामन अवतार की कथा विस्तार से कही गयी हैं जो भरूच कच्छ (गुजरात) में हुआ था। इसमें शिव पार्वती के विवाह का वर्णन है तथा लिंग-पूजा का विधान है। इस के अतिरिक्त इस ग्रंथ में भी सृष्टि, जम्बूद तथा अन्य सात द्वीपों की उत्पत्ति, पृथ्वी की भौगौलिक स्थिति, महत्वशाली पर्वतों, नदियों तथा भारत के खण्डों का जिक्र है।

15) कूर्मपुराण:- कुर्म पुराण में 18000 श्लोक तथा चार खण्ड हैं। इस पुराण में चारों वेदों का सार संक्षिप्त रूप में दिया गया है। कुर्म पुराण में कुर्म अवतार से सम्बन्धित सागर मंथन की कथा विस्तार पूर्वक लिखी गयी है। इसमें ब्रह्मा, शिव, विष्णु, पृथ्वी, गंगा की उत्पत्ति, चारों युगों, मानव जीवन के चार आश्रम धर्मों, तथा चन्द्रवँशी राजाओं के बारे में भी वर्णन है। यह पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं है। इसके पहले ब्राझी, भागवती, सौरी तथा वैष्णवी चार संहिताएँ थीं। किंतु आजकल केवल ब्राझी संहिता

ही प्राप्त होती है। इसमें विष्णु का कूर्म रूप में अवतार लेने का वर्णन है।

16) मत्स्य पुराण:- मत्स्य पुराण में 290 अध्याय तथा 14000 श्लोक हैं। इस ग्रंथ में मत्स्य अवतार की कथा का विस्तरित उल्लेख किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति हमारे सौर मण्डल के सभी ग्रहों, चारों युगों तथा चन्द्रवँशी राजाओं का इतिहास वर्णित है। कच, देवयानी, शर्मिष्ठा तथा राजा ययाति की रोचक कथा भी इसी पुराण में है। इस पुराण में जलप्लावन का कथा है। इसके अनुसार विष्णु ने मत्स्य का रूप धारण करके प्रलयकालीन जलों से मनु की रक्षा की थी। इस पुराण की आंध्र वंशावली अत्यंत प्रामाणिक है।

17) गरुड पुराण:- गरुड़ पुराण में 279 अध्याय तथा 18000 श्लोक हैं। यह भी वैष्णव पुराण है। अन्य पौराणिक विषयों के साथ-साथ इसमें मृत्यु पश्चात् की घटनाओं, प्रेतलोक, यमलोक, नरक तथा 84 लाख योनियों के नरक स्वरुपी जीवन आदि के बारे में विस्तार से बताया गया है। भक्ति धार्मिक कृत्य, व्रत, प्रायश्चित्त, तीर्थ, माहात्म्य, ज्योतिविद्या, औषधिशास्त्र, छंदशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, नीति आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इसके उत्तराखंड में, जिसे प्रेतकल्प कहा जाता है, मृत्यु के पश्चात् आत्मा की स्थिति, कर्म, पुनर्जन्म, मृत्यु के लक्षण, यममार्ग, मृतक के निमित्त क्रिया-कलाप आदि का वर्णन है। इस पुराण में कई सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन भी है।

साधारण लोग इस ग्रंथ को पढ़ने से हिचकिचाते हैं क्योंकि इस ग्रंथ को किसी सम्बन्धी या परिचित की मृत्यु होने के पश्चात् ही पढ़वाया जाता है। वास्तव में इस पुराण में मृत्यु पश्चात पुनर्जन्म होने पर गर्भ में स्थित भ्रूण की वैज्ञानिक अवस्था सांकेतिक रूप से बखान की गयी है जिसे वैतरणी नदी आदि की संज्ञा दी गयी है। समस्त रुप में उस समय तक भ्रूण के विकास के बारे में कोई भी वैज्ञानिक जानकारी नहीं थी। अंग्रेज़ी

साहित्य में जॉन बनियन की कृति दि पिलग्रिम्स प्रौग्रेस कदाचित् इस ग्रंथ से प्रेरित लगती है। जिसमें एक एवेंजलिस्ट मानव को क्रिस्चियन बनने के लिय प्रोत्साहित करते दिखाया है ताकि वह नरक से बच सके।

18) ब्रह्माण्ड पुराण:- ब्रह्माण्ड पुराण में 12000 श्लोक तथा पूर्व, मध्य और उत्तर तीन भाग हैं। स्तोत्रों, उपाख्यानों तथा महात्म्यों का संग्रह है। मान्यता है कि अध्यात्म रामायण पहले ब्रह्माण्ड पुराण का ही एक अंश थी जो अभी एक पृथक ग्रंथ है। इसमें वैष्णवों के व्रतों व उत्सवों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त पाप और उनके दण्ड, वर्णाश्रम धर्म, श्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि का भी वर्णन है। विष्णु भक्ति को ही एकमात्र मोक्ष का उपाय बताया गया है। इस पुराण में ब्रह्माण्ड में स्थित ग्रहों के बारे में वर्णन किया गया है। कई सूर्यवँशी तथा चन्द्रवँशी राजाओं का इतिहास भी संकलित है। सृष्टि की उत्पत्ति के समय से ले कर अभी तक सात मनवन्तर(काल) बीत चुके हैं जिन का विस्तार से वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। परशुराम की कथा भी इस पुराण में दी गयी है। इस ग्रँथ को विश्व का प्रथम खगोल शास्त्र कह सकते है। भारत के ऋषि इस पुराण के ज्ञान को इण्डोनेशिया भी ले कर गये थे जिसके प्रमाण इण्डोनेशिया की भाषा में मिलते है।

इन 18 पुराणों के अतिरिक्त 18 उप-पुराण भी हैं। उनके नाम हैं – 1. सनत्कुमार 2. नारसिंह 3. नारदीय 4. स्कंद 5. विष्णुधर्मोत्तर पुराण 6. आश्चर्य 7. कपिल 8. वामन 9. औशनस् 10. ब्रह्माण्ड 11. वारुणी 12. कालिका 13. माहेश्वर 14. साम्ब 15. पाराशर 16. मारीच 17. भार्गव 18. रुद्राक्ष परंतु इन नामों में काफी मतभेद है।

पुराणों में सांस्कृतिक महत्त्व: पुराणों का सामाजिक महत्त्व तो अत्यधिक है। ये तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक अवस्था का स्पष्ट वर्णन करते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था, प्रजा, धर्म, नीति एवं अनुशासन का भी वर्णन है। मत्स्य पुराण में राजाओं के कर्तव्य व अधिकार, करनीति,

युद्धनीति इत्यादि की भी विस्तृत व्याख्या है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में संगीत, नृत्य, चित्रकला, कृषि, गृहनिर्माण इत्यादि कलाओं का भी उल्लेख है। इस प्रकार उस समय के रीति-रिवाजों, आचार -विचार, शिक्षा-दीक्षा, उत्सवों, त्यौहारों आदि का भी स्पष्ट वर्णन पुराणों में पाया जाता है।

धर्म व दर्शन:- भारतीय धर्म व दर्शन के विषय में पुराण अत्यधिक जानकारी देते हैं। सनातन धर्म पुराणों को वेदों के समान ही आप्त और प्रामाणिक मानता है। ये विभिन्न देवताओं की उपासना पद्धति का निर्देश करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश में भिन्नता तथा एकता स्थापित करते हैं। उस समय मूर्तिपूजा प्रचलित थी। धर्म संबंधी जिन विषयों का वर्णन किया गया है वे हैं– आचार, अशौच, भक्ष्याभक्ष्य, दान, नरक, पातक, प्रायश्चित्त, श्राद्ध, संस्कार, पंचमहायज्ञ, तीर्थ, स्त्रीधर्म, उत्सर्ग, व्रत इत्यादि।

पुराणों का मुख्य उद्देश्य वेदों के जटिल एवं दार्शनिक उपदेशों को तथ्यों तथा आख्यानों के माध्यम से लोकप्रिय बनाना था। अतः इनमें हिंदू धर्म अपने पूर्ण विकसित अवस्था में है।

पौराणिक धर्म व देवता:- वैदिक तथा पौराणिक धर्म में अंतर नहीं है। दृष्टिभेद और कालभेद के कारण धर्म के किसी विशेष अंश पर बल दिया गया है। वैदिक धर्म में इष्ट (यज्ञ) का प्राधान्य है तो पौराणिक धर्म में पूर्त अर्थात् वापी, कूप, तडाग, देवतायतन, सत्र, धर्मशाला आदि के वेदों में सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सर्वव्यापकता पर आग्रह है, तो पुराणों में उस सर्वशक्तिमान् के लोककल्याणार्थ बहुरूपधारण करने पर निष्ठा है। वेदों का कथन है 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत्य एक ही है और विद्वान उसे विविध नामों से पुकारते हैं। पुराणों की मान्यता है एक सद् बहुधा भवति।' अवतारवाद पुराणों का एक मुख्य तत्त्व है। अवतारों की संख्या 10 है। इन अवतारों में भी राम और कृष्ण के लोकोत्तर शौर्य तथा पराक्रम के प्रति पुराणों में बहुत श्रद्धा है। पुराण भक्ति के प्रचारक ग्रंथ हैं।

पांच पुराण के विषय होते हुए भी अठारहों पुराणों में वंशानुचरित का प्रकरण प्राप्त नहीं होता यह दुर्भाग्य ही है क्योंकि पुराणों में जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण विषय है, वह वंशानुचरित है। वंशानुचरित केवल भविष्य, मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड तथा भागवत पुराणों में ही प्राप्त होता है। गरुड़-पुराण में भी पौरव, इक्ष्वाकु आदि राजवंशों की तालिका प्राप्त होती है। पर इनकी तिथि पूर्णतया अनिश्चित है। पुराणों की भविष्यवाणी शैली में कलियुग के नृपतियों की तालिकाओं के साथ शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, कण्व, आन्ध्र तथा गुप्तवंशों की वंशावलियाँ भी प्राप्त होती हैं। शिशुनागों में ही बिम्बिसार एवं अजातशत्रु का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार पुराण चौथी शताब्दी की स्थितियों का उल्लेख करते हैं। मौर्य वंश के संबंध में विष्णु पुराण में अधिक उल्लेख मिलते हैं। ठीक इसी प्रकार मत्स्य पुराण में आन्ध्र वंश का पूरा उल्लेख मिलता है। वायु पुराण गुप्त सम्राटों की शासन प्रणाली पर प्रकाश डालते हैं। इन पुराणों में शूद्रों और म्लेच्छों की वंशावली भी दी गयी है। आभीर, शक, गर्दभ, यवन, तुषार, हूण आदि के उल्लेख इन्हीं सूचियों में मिलते हैं।

निष्कर्ष:-

पुराणों के कारण ही धर्म की रक्षा और भक्ति का मनोरम विकास संभव हो सका है। इसी कारण भारतीय धर्म और संस्कृति में प्राचीन काल से ही पुराण का महत्व रहा है। और यह भविष्य में भी बना रहेगा। कर्मकाण्ड (वेद) से ज्ञान (उपनिषद्) की ओर आते हुए भारतीय मानस में पुराणों के माध्यम से भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित हुई है। विकास की इसी प्रक्रिया में बहुदेववाद और निर्गुण ब्रह्म की स्वरूपात्मक व्याख्या से धीरे-धीरे मानस अवतारवाद या सगुण भक्ति की ओर प्रेरित हुआ। सभी शास्त्रों में पुराणों की प्राथमिकता मानी जाती है। दस विद्याओं की गणना में पुराणों का प्रथम स्थान है। भारतीय धर्म और संस्कृति के रूप को

यथार्थतः जानने के लिए पुराण का अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। वेद सामान्य जन ज्ञान से थोड़ा अलग है। किंतु पुराण तो हमारे समीप है। इन पुराणों के रचयिता महर्षि वेदव्यास हमारे परम आराध्य हैं। यह सौभाग्य का विषय है कि आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन व्यास जी की पूजा अर्चना करके हम उनके विशाल ऋण से उद्धण होने का प्रयास करते हैं और यथासाध्य स्तूति करते हैं कि हम उनके बताए हुए मार्ग पर निरंतर चलते रहें। संस्कृत वह भाषा है, जिसके बगैर भारतीय भाषाओं का इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता तमाम हमारी भाषाओं को भाषागत इकाई के रूप में किसी भाषा ने आबद्ध करके रखा हुआ है तो वह संस्कृत ही है। संस्कृत वैदिक भाषा रही है, इसीलिए इसे देव भाषा कहा जाता है, परंतु वैदिक से लौकिक संस्कृत की यात्रा में इस भाषा ने तमाम भाषाओं को अपनी ओर से निंरतर समृद्ध किया है। विडंबना यह है कि दूसरी भाषाओं को समृद्ध करते-करते स्वयं इसके अस्तित्व से ही हम निरंतर विमुख होते चले गए हैं। संस्कृत और पुराण के जरिए हमारी वह संस्कृति सदा हमारे साथ रहेगी। पुराणों मे कितने भाग थे और उनकी संख्या कितनी थी। १८ पुराणों की संक्षिप्त चर्चा के साथ-साथ संस्कृत भाषा में ही भारत के सांस्कृतिक विचार, उच्चादर्श, नैतिकमूल्य समाहित हैं। इस विषय के बारे में शोधलेख में चर्चा की गई है। जिससे ज्ञान में अवश्य वृद्धि होगी।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची:-

1) भट्टाचार्य, रामशंकरः अग्निपुराणानुक्रमणिका, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1963
2) मन्मथ, नाथः इतिहास पुराण 'अनुशीलन' वाराणसी, 1963 प्राचीन भारतीय मनोरंजन, इलाहाबाद, 2013 (वि)
3) मिश्र, ज्वाला प्रसाद : अष्टादश पुराण दर्पण, वेंक्टेश्वर प्रेस बम्बई 1993 (वि.) प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना
4) मुखर्जी, पारूल दयेः 1974 प्रतिमा विज्ञान, भोपाल, 1972 द चित्र

सूत्र ऑव द विष्णुधर्मोत्तर पुराण, नई दिल्ली, 2001

5) राम, एस.एन.: पौराणिक धर्म और समाज, इलाहाबाद, 1968 : लोथल एण्ड इट्स सिविलिजेशन, बम्बई 1973

6) लोहानी, भास्करा नन्द : पौराणिक साहित्य एवं संस्कृति, नजीराबाद, लखनऊ, 1963

7) शर्मा गिरिधर : पुराणेषु वर्णाश्रम व्यवस्था, पटना 1970

“संस्कृतभाषा और वैदिकसंस्कृति का भावसंबंध”

डॉ. हंसाबेन बी. गुजरिया
संस्कृत विभाग, धर्मेंद्रसिंहजी आर्ट्स कॉलेज,राजकोट
Email: hansasonara1971@gmail.com

शोधसार:-

भाषा और संस्कृति का प्रगाढ़ सम्बंध है। भाषा हि संस्कृति को गढ़ती है। संस्कृति का वाहक जो रूप है, वह भाषा है। हम जानते हैं कि मनुष्य अपनी प्रागैतिहासिक अवस्था या अपनी प्रारंभिक अवस्था में जब पशु-जीवन जी रहा था तब उसके पास अपनी भाषा नहीं थी, तब उनकी भाषा हमारे भाषा विज्ञान के मुताबिक ध्वन्यात्मक थी। जैसे-जैसे मनुष्य स्थिर होता गया वैसे-वैसे उसका सामाजिक जीवन ग्रथित होने लगा। सामाजिक जीवन में प्रयोग करते-करते उसकी भाषा ने उसे और आगे ले जाकर सभ्य नागरिक बनाया। इन सारी यात्रा में भाषा ही है जो उनका हर संस्कारी रूप, उनके आदान-प्रदान और उनके जीवन मूल्यों को संग्रहित करके एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की ओर प्रेषित करने में साहित्यिक रूप में सहायक बनी रही है। मनुष्य और उसकी संस्कृति का विकास हुआ है। संस्कृति से आगे वह सभ्यता की ओर भाषा के सहारे ही अग्रसर हुआ है। यही बहुत महत्त्वपूर्ण भावसृष्टि वैदिक संस्कृति और वैदिक भाषा के भावसंबंध में बिल्कुल सही मायने में प्रस्तुत होते दिखाई देती है। वैदिक भाषा और संस्कृति अन्योन्याश्रित है। विश्व कल्याण के लिए हमें वैदिक संस्कृति को संजोके रखनी है। भाषा व्यक्ति, समाज, संस्कृति या राष्ट्र की पहचान होती है। वास्तव में भाषा एक संस्कृति है, उसके भीतर भावनाएं, विचार और सदियों की जीवन पद्धति समाहित होती है। भाषा ही परम्पराओं और संस्कृति से जोड़े रखने की एक मात्र कड़ी है। यह भावसंबंध वैदिक भाषा और संस्कृति के विषय में भी जीवंत मालूम होती

है।

कूटशब्दः- भाषा, संस्कृति, भावसंबंध, वैदिक, ऋषियों, मानव मूल्य, सभ्यता, जीवनमूल्य।

प्रस्तावनाः-

गुजराती में कहावत है- "भाषा जाए तो संस्कृति जाए" इस कहावत से एक बात बहुत स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है कि भाषा और संस्कृति का प्रगाढ़ सम्बंध है। भाषा हि संस्कृति को गढ़ती है। संस्कृति का वाहक जो रूप है, वह भाषा है। हम जानते हैं कि मनुष्य अपनी प्रागैतिहासिक अवस्था में, अपनी प्रारंभिक अवस्था में जब पशु-जीवन जी रहा था तब उसके पास अपनी भाषा नहीं थी, तब उनकी भाषा हमारे भाषा विज्ञान के मुताबिक ध्वन्यात्मक थी। जैसे-जैसे मनुष्य स्थिर होता गया वैसे-वैसे उसका सामाजिक जीवन ग्रथित होने लगा। सामाजिक जीवन मैं प्रयोग करते-करते उसकी भाषा ने उसे और आगे ले जाकर सभ्य नागरिक बनाया। इन सारी यात्रा में भाषा ही है जो उनका हर संस्कारी रूप, उनके आदान-प्रदान और उनके जीवन मूल्यों को संग्रहित करके एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की ओर प्रेषित करने में साहित्यिक रूप में सहायक बनी रही है। बोलने के बाद ही मनुष्य और उसकी संस्कृति का विकास हुआ है। संस्कृति से आगे वह सभ्यता की ओर भाषा के सहारे ही अग्रसर हुआ है। यही बहुत महत्त्वपूर्ण बात वैदिक संस्कृति और वैदिक भाषा के साथ भी हमें बिल्कुल सही मायने में प्रस्तुत होती दिखाई देती है। इन सारे विषय में हम सबसे पहले भाषा के संदर्भ में देखते हैं।

भाषा

"भाषा" शब्द का सम्बन्ध वाक् या वाणी से है, जिसे ब्रह्मविदुषी वागाम्भृणी ने वाक् की महिमा को उच्चारित करते हुए वाक् को सृष्टि की मूल शक्ति मानता है। वाक् का स्थूल बैखरी रूप वागेन्द्रिय के माध्यम से

अभिव्यक्त होता है, जो निश्चित ध्वनियों और वर्ण संकेतों से लिपिबद्ध होकर किसी भी राष्ट्र की शक्ति और समृद्धि का कारण बनता है, अतः ऋषि कहता हैं -

अहं राष्ट्रीसङ्गमनीवसूनाम्।'*{1}

देश और काल के अनुरूप प्रत्येक भाषा की अपनी कुछ विशेषतायें होती हैं, जो उसकी पहचान या विशिष्ट लक्षण बनती हैं, फिर भी भाषा नदी के उस निर्बाध प्रवाह के समान होती है, जो गति के साथ ही तत्-तत् देश की मिट्टी के गुणों या स्थानीय प्रभावों को भी आत्मसात् करते हुये चलती है। अतः जीवन्त भाषा में सतत परिवर्तन होते रहते हैं। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, जो वैदिक संस्कृत के नाम से जानी जाती थी, आज आधुनिक आर्य भाषाओं हिन्दी, मराठी, बङ्गला, गुजराती, उड़िया, राजस्थानी आदि नाना रूपों में वाग्व्यवहार का माध्यम बनी है, फिर भी मूल धारा वही है। वर्तमान अध्याय वैदिक ऋषिकाओं के सूक्तों में भाषा के इस वैशिष्ट्य का संक्षिप्त परिचय देता है। आधुनिक आर्य भाषा में प्रयुक्त 75 प्रतिशत शब्द वैदिक संस्कृत से आते हैं। हमारे विषय में भाषा से संस्कृति का भाव संबंध अटूट रूप से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। अतः अब हम संस्कृति के विषय में देखें।

संस्कृति

संस्कृति का क्षेत्र बहुत व्यापक है क्योंकि यह शब्द सम् उपसर्गपूर्वक "कृ" (डुकृञ) धातु से भूषण अर्थ में "सुट् आगम" तथा "क्तिन्" प्रत्यय से व्युत्पन्न होता है और इसका अभिधेय अर्थ है- मानव की शोभन, सम्यक् कृति (क्रिया) या चेष्टाएँ पञ्चकोशात्मक मानव की चेष्टाएँ देह, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा।

"संस्कृति" शब्द का संबंध शब्द "संस्कार" से है, जो किसी स्थूल तत्त्व से सूक्ष्म तत्त्व निकालने की प्रक्रिया को बताता है; इसी तरह, जैसे

स्थूल कच्ची स्वर्ण धातु को संस्कृत करने से भास्वत् स्वर्ण की उत्पत्ति हो सकती है, उसी प्रकार मनुष्य जाति की स्थूल धातु से "संस्कृति" करने से उत्तम मानसिक, सामाजिक और आत्मिक गुण अंग्रेजी में मेकाईवर का एक वाक्य सुप्रसिद्ध है- “Our culture is what we are, Civilization what we use” जिसका मतलब है “हमारी संस्कृति वह है जो हम हैं, सभ्यता वह है जिसका हम उपयोग करते हैं।

ડૉ. ગૌતમ પટેલ કહતે હૈં- "સંસ્કૃતિમાં આંતર વર્તનની અવર્ણનીય આભાનો અંત સારો હોય છે. તેની એકરૂપતાનું દર્શન સામૂહિક રીતે પ્રજાના જીવનમાં તાણાવાણાની જેમ વણાઇ જાય છે. યુગોનું પરિવર્તન થવા છતાં બાહ્ય ઉપકરણોમાં ખૂબ આગળ વધી જવા છતાં, સંસ્કૃતિના મૂળ જીવાતુભૂત તત્વો માં પરિવર્તનને અવકાશ હોતો નથી. કારણ સંસ્કૃતિ આખરે તો માનવમૂલ્યોનો સઘળો સરવાળો છે અને મૂલ્યોમાં જીવનના વ્યાપક શાશ્વત અને સર્વ માન્ય મૂલ્યોમાં આમૂલ પરિવર્તનને ક્યાંય અવકાશ નથી. અર્થાત સંસ્કૃતિમાં જ્ઞાનનો,વિકાસ નૈતિકતાની વર્થભી વણઝાર, માનવસંબધોની સમભાવના, ભાવોનો, એક હૃદયનો અવધારણીય ગુણોનો અનુરાગ,જેવા લક્ષણો સહજમાં દ્રષ્ટિગોચર થાય છે. એકઅર્થમાં સંસ્કૃતિએ જીવન પ્રણાલી છે."*{2}

संस्कृति के विषय में यह भी कहा गया है “संस्कृति अपने सरलतम रूप में विशिष्ट लोगों या समाज के विचारों, रीति-रिवाजों और सामाजिक व्यवहार को संदर्भित करती है। इसके अलावा, यह उन कलाओं, घटनाओं, कार्यों और वस्तुओं को दर्शाता है जो सामूहिक रूप से मानी जाने वाली मानव बौद्धिक उपलब्धि के कुछ अमूर्त या सैद्धांतिक रूप से स्पष्ट रूप से दिखाते हैं या प्रतिनिधित्व करते हैं। हम संस्कृति को एक विशिष्ट सामाजिक समूह के दृष्टिकोण और व्यवहार की विशेषता से भी जोड़ते हैं, चाहे वह हिप हॉप संस्कृति हो या ड्रग संस्कृति। वास्तव में, एक सुसंस्कृत व्यक्ति वह है जो परिष्कृत रुचि और शिष्टाचार और अच्छी शिक्षा की

विशेषता रखता है। संस्कृति के ये सभी गुण यह दर्शाते हैं कि हम जो हैं वही हमारी संस्कृति है। हम संस्कृति को प्रतिबिंबित करते हैं."*(3}

इस प्रकार युगों के साथ संस्कृति के नए आयाम प्रस्तुत होते हैं। हम अपनी प्रारंभिक अवस्था वैदिक संस्कृति में प्राप्त करते हैं। वैदिक संस्कृति के विषय में कुछ बातें जानना रसप्रद रहेगा।

वैदिक संस्कृति:-

उदात्त जीवनमूल्य, सह-अस्तित्व, विश्वबन्धुत्व, समष्टि कल्याण एवं सर्वांगीण विकास भारतीय संस्कृति के लक्ष्य हैं। सभ्यता के उष:काल से ही भारत राष्ट्र ने दर्शन के माध्यम से सत्य की, साहित्य-साधना द्वारा शिव की एवं कला सृष्टि द्वारा सौन्दर्य की उपासना की है। अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य तथा षड् ऋतुओं के वैभव से मण्डित, उत्तुङ्ग हिमगिरि से संरक्षित, अथाह उदधि से प्रक्षालित, गङ्गा-यमुना सरस्वती नर्मदा कृष्णा-कावेरी जैसी स्रोतस्विनियों से अभिषिञ्चित इस देश की सनातन संस्कृति का मूल स्रोत 'वैदिक संस्कृति' है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' समग्र विश्व को 'आर्य' अर्थात् 'श्रेष्ठ मानव' बनाने के उद्देश्य से अभिप्रेरित वैदिक संस्कृति विश्ववरणीय प्रथम संस्कृति रही है। यह वैदिक संस्कृति ही थी; जिसके जीवन दर्शन ने भारत राष्ट्र का निर्माण किया, भारत जन गण की वैश्विक पहचान बनी। वैदिक संस्कृति के विविध आयाम को देखते हुए हम इला घोष की बात पर गौर कर सकते हैं।

वैदिक संस्कृति के विविध आयाम:-

प्रोफेसर इला घोष ने वैदिक संस्कृति संरचना ("नारी योगदान विभूषित") नामक पुस्तक में संस्कृति के विविध आयामों की सूची निम्न रूप से दी है

1. प्राकृतिक संरचना देश एवं काल

2. राजनैतिक, ऐतिहासिक वैशिष्ट्य

3. सामाजिक संरचना

4. अर्थव्यवस्था

5. धर्मदर्शन

6. शिक्षा

7. विज्ञान

8. भाषा

9. काव्य

10. जीवनमूल्य*(4) प्रोफ़ेसर इला घोष, पृष्ठ- 153

इस सूची से स्पष्ट होता है कि मानव जीवन में जो भी है, वह संस्कृति का हिस्सा है। अर्थात् मनुष्य का जब विकास हुआ या उसकी विकास यात्रा शुरू हुई तो भाषा ने संस्कृति को प्रभावित किया और संस्कृति ने भाषा को प्रभावित किया। जहाँ युद्ध होते हैं, तो भाषा में युद्ध संदर्भ के शब्द विपुलता से प्रस्तुत होते हैं। जहाँ व्यापार होता है तो व्यापार के साथ जुड़े हुए शब्द प्रचुर मात्रा में रहते हैं। तो इस प्रकार से हम देखते हैं कि व्यवहार जीवन में भी समाज संरचना, देश काल और वातावरण, मनुष्य का नैतिक जीवन मूल्य या साहित्य, इन सभी चीजों में भाषा ही तो है जो सभी को अपने साथ बहाती रहती है और खुद भी बहती रहती है। भाषा जब सीमित हो जाती है, तब स्थगित होकर नाश की ओर अग्रसर हो जाती है। अर्थात् वैदिक संस्कृति के साथ चलने वाली संस्कृत भाषा आगे बढ़ते-बढ़ते प्रशिष्ठ संस्कृत के साथ जुड़ जाती है; बस यही तो भाषा और संस्कृति का सम्बंध है, जो हमें हमेशा तरोताजा रखता है।

भाषा और संस्कृति के उदाहरण के रूप में हम बौद्ध धर्म और पालि

भाषा जैन धर्म और प्राकृत भाषा को भली भांति देख सकते हैं। इसी प्रकार हमारी व्यवहार भाषा ही हमारी संस्कृति को प्रस्तुत करने में सहायक बनती है। वैदिक संस्कृति के विविध आयाम में हम इन भाषा का भाव संबंध देख सकते हैं जो कुछ इस प्रकार से है।

प्राकृतिक संरचना तथा देश काल के विषय में अगर देखे तो वैदिक संस्कृति भी निसर्ग के प्रति श्रद्धा भाव रखने वाली एक ऐसी ही प्राकृत संस्कृति है। जहां सभी तत्त्व जो दिव्य आभा से समन्वित दिव्यता का संदेश देने वाले सुंदर बुद्धि और वाणी को प्रेरित करने वाले, प्राणी मात्र को जीवन देने वाले और इस सृष्टि व्यवस्था के संचालन में सहयोग देने वाले देवता है। जो धरती, आकाश, नदियां, गिरी आदि दिव्य परिवेश में तप करते ऋषि, बुद्धि से प्रज्ञा की ओर प्रयत्न करते हुए देखे जाते हैं देश काल के विषय में वैदिक संस्कृति में भुवन का संदर्भ प्राप्त होता है जैसे:-

"यद्देवता यतयो यथा भुवनान्य पिवन्त।"*(5)

ऋग्वेद 10.72.7

और "विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट। "*(5) ऋग्वेद 10.85.18 में देश काल का संदर्भ अभिमत होता दिखाई दे रहा है। और भी तो "ऊर्जम पृथिव्या भक्तवा... उपसाते।" भूमिर्माता नभः पिता। आदि में वैदिक संस्कृति के यह संदर्भ हमें उसके भाव के साथ जुड़ा दिखाई देता है।

राजनीतिक एवं ऐतिहासिक विशिष्टता को अगर वैदिक संस्कृति में हम देखते हैं तो इसके भी संदर्भ बहुत प्रभावित करते हैं। वैदिक संस्कृति के आदि देश को जानने की दृष्टि से ऋग्वैदिक ऋषिकाओं के दो संदर्भ अत्यंत महत्वपूर्ण है, ऐसा प्रोफ़ेसर इला घोष कहते हैं। उन्होंने कहा है- कि प्रथम ब्रह्मवादीनि रोमशा का मंत्र एवं द्वितीय विश्वामित्र-नदी संवाद का संदर्भ। रोमशा स्वयं को "गंधारीणामइवाविका" गंधार देश के अवि-शावक के समान कहती है। ऋग्वेद का यह एकमात्र संदर्भ है जिसमें

गंधार का उल्लेख है।*(6) ईला घोष, गांधारी जन और गंधार देश की भौगोलिक-ऐतिहासिक स्थिति प्रमाणित होती है। ऐसे और संदर्भ भी हमें नदियों के विषय में ग्राम के विषय में प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक संदर्भ के बारे में हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद कालीन शासको में सुदास, पुरुमीढ़, दस्यू आदि नाम प्रसिद्ध है। जो हमें ऐतिहासिक संदर्भ से ज्ञात करते होते हैं।

सामाजिक संरचना में वैदिक युग के समाज निर्माता स्त्री-पुरुषों ने जिस सामाजिक संरचना का सूत्रपात किया था वही किंचित परिवर्तन के साथ आज भी इस भारतवर्ष में विद्यमान है। पुरुष सूक्त में वर्ण व्यवस्था का सीधा संदर्भ हमें प्राप्त होता है। जैसे-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत बाहू राजन्यः कृतः।

उरू तदस्य यदवैश्य शूद्रोऽजायत् ।। (7) ऋग्वेद 10.90.12

यह वर्ण व्यवस्था आगे बढ़ते हुए स्मृति कला में "जाति" में परिवर्तित हो गई और वर्तमान युग में बीसवीं शताब्दी में एवं इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में रूढ जाति व्यवस्था में परिवर्तन हो करके भी आज योग्यता अनुसार कर्म एवं वृत्ति में परिवर्तन संभव हुआ है। इसके साथ ही भारतीय समाज पुनः वैदिक व्यवस्था का अनुसरण कर रहा है, जिसमें प्रकृति के अनुरूप कर्तव्य पथ का निर्धारण एवं कर्मनिष्ठ जीवन ही मानव जीवन का लक्ष्य मालूम हो रहा है।

आश्रम व्यवस्था वैदिक साहित्य की अनूठी समाज व्यवस्था है। यह जीवन चर्या का हिस्सा बनती है। "दीर्घायुरस्य यः पतिर्जिवाति शरदःशतम।"*(8) **ऋग्वेद** 10.85.39

100 साल की इस आयु को चार विभाग में विभाजित करके ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में विभक्त किया गया है।

व्यक्ति अपने सामाजिक दायित्व के साथ अपना जीवन यापन करता है। यह व्यवस्था कुछ हद तक आज भी हमें दिखाई पड़ती है। विश्व को अगर इस व्यवस्था में रखा जाए तो कोई भी प्रश्न उपस्थित नहीं होंगे यह हमारा विश्वास है।

परिवार एवं पारिवारिक संबंध वेदों में हमें भली भांति अपनी ओर आकर्षित करते हैं। परिवार का जन्म स्त्री पुरुष के पारस्परिक काम आकर्षण से हुआ, किंतु विवाह के पवित्र बंधन में बंध कर एवं संतति के पालन पोषण के दायित्व में जुड़कर इसने एक शुद्ध संस्था का रूप ले लिया। क्रमशः माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन आदि संबंधों की पहचान और नामकरण के साथ परिवार सामाजिक विकास की आधारशिला बना। परिवार और पारिवारिक संबंधों की व्यापक अवधारणा ऋग्वैदिक युग में ही विकसित हो चुकी थी। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में पारिवारिक संबंधों की पहचान नववधू की दृष्टि से की गई है। ऋग्वेद के दसवें मंडल के 85वें सूक्त के मंत्र 45 और 47 में यह बात हम देख सकते हैं। ऋग्वेद में संयुक्त परिवार और एकल परिवार की अवधारणाएं प्राप्त होती है। पारिवारिक जीवन में ही विवाह, उद्वाह, परिणय, पाणिग्रहण, कन्यादान, योग्य वर और वधू का चयन, कन्यादान आदि के विषय भी हमें वेदों में प्राप्त होते हैं। प्रोफेसर इला घोष कहती हैं- विवाह संस्था एवं वैवाहिक विधि-विधानों को मंत्रबद्ध कर शाश्वत रूप प्रदान करने का कार्य ब्रह्मवादिनी सूर्या ने किया। आज से लगभग 12000 वर्ष पूर्व सूर्या के विवाह सूक्त से विवाह का जो रूप निर्धारित हुआ था वही किंचित परिवर्तन या परिवर्धन के साथ संपूर्ण विश्व के हिंदू समाज में मान्य है।***(9) प्रोफेसर ईला घोष पृष्ठ 206)**

वैदिक संदर्भ में संस्कृति के अर्थव्यवस्था का रूप भी हमें देखने योग्य रूप से मिलता है। जैसे कृषि, पशुपालन, शिल्प (कुटीर उद्योग) एवं

सेवाकार्य, वाणिज्य आदि रूप में हमें वेदों का आर्थिक दर्शन प्राप्त होता है। अक्ष सूक्त में कहा गया है- "अक्षै:मा दिव्य कृषस्व कृषि वल:l"*(10)ऋग्वेद 10.34

अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों को साथ लिए हुए वेदों में आर्थिक दर्शन जहां एक और "वयं स्याम पतयो रयीणाम।"**(11) अथर्ववेद** 3.12.1 के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ एवं देवी कृपा दोनों पर बल देता है। अपने गृह और भौतिक संपदाओं के साथ ही नैतिक समृद्धि का भी केंद्र बनाना चाहता है इस लोक कल्याणकारी अर्थव्यवस्था और आर्थिक दर्शन की संरचना में स्त्रियों की भूमिका निश्चय ही उल्लेखनीय है क्योंकि स्त्री समाज की अर्धांग और परिवार की धुरी है।

संस्कृति का और एक अंग धर्म और दर्शन वेदों में भली भांति प्रस्तुत मिलते हैं। यज्ञ, देवता, पाप, पुण्य,पारलौकिक जीवन, दर्शन, सर्वव्यापी एक सत्ता,अक्षर(ब्रह्म), आत्मा, पुनर्जन्म, सृष्टि,अमृत आदि के संदर्भ वेदों में अत्र- तत्र, सर्वत्र प्राप्त होते हैं। "वेदोs खिलो धर्ममुलम"l*(12) मनुस्मृति 2.6

संपूर्ण वेदांत दर्शन धर्म की प्रस्तुति है यहां धर्म के विविध दर्शन हमें प्राप्त होते हैं। याघ्न प्रधान संस्कृत में कहा गया है- यज्ञै: परिभूषित श्रेयेl***(13) ऋग्वेद 9.104.1**

वेदों में यज्ञ के पांचो अंग जैसे देवता, हवी, मंत्र, ऋत्विज और दक्षिणा का समुचित संदर्भ प्राप्त होते हैं। प्राकृतिक स्वरूप के विविध देवता जैसे इंद्र, अग्नि, रुद्र, पूषा, वरुण, मरुतादि विविध देवता पूजनीय है। देवताओ के साथ परम सुंदरी उषा आदि देवियों का भी संदर्भ हमें वेदों में प्राप्त होता है। वेदों में धर्म के साथ सामाजिक संदर्भ भी उपलब्ध होते हैं। निर्दोष पत्नी का परित्याग करने के कारण बृहस्पति या ब्रह्म भी पाप के भागी होते हैं। उनका यह पाप चर्चा का विषय भी बनता जैसे -"तेsवदन

प्रथमा बह्मकिल्विषो"*(14) ऋग्वेद 10.109.1 सहोदर भगिनी से संबंध करने वाला भी पापी मन गया है -"पापमाहुर्य:स्वसारम निगच्छातो"*(15)**ऋग्वेद**10.10.12 और पाप या दुष्कृतों का प्रायश्चित कर पाप मुक्त भी हो सकते हैं, पापमुक्ति में देवता सहायक होते हैं। यह सारी बातें धर्मशास्त्र के विषय में अच्छी तरह से हमारा मार्गदर्शन करती है। दर्शनशास्त्र के विषय में अगर बात करें तो विशेष कुछ कहने की जरूरत नहीं रहती है इतना ही प्रमाण है- "तिलेषु तैलवद वेदे वेदांत: सुप्रतिष्ठतो"*(16) **मुक्तिकोपनिषद 1.9**

शिक्षा के संदर्भ बहुत रुचि उत्पन्न करने वाले हैं। क्योंकि हमारी नई शिक्षा नीति में भारतीय शिक्षा का जो संदर्भ है, वह हमें यहां पर प्राप्त होता है। शिक्षा के उद्देश्य, विद्या अध्ययन का काल, शिक्षा के घटक या अंग,गुरु या आचार्य, अंतेवासी, अध्ययन के विषय, शिक्षा प्रणाली और शिक्षा के केंद्र आदि के विषय में वेदों में हमें पर्याप्त संदर्भ प्राप्त होते हैं।

"विद्ययाऽमृतमश्नुते" (17) ईसोपनिषद 14

बुद्धिमत्ता, विवेकिता, मनुष्यता, ऋषित्व, देवत्व और अमृत्व या ब्रह्मत्व शिक्षा के उत्तरोत्तर फल भारतीय शिक्षा व्यवस्था में माना गया है वैदिक संस्कृति की शिक्षा व्यवस्था जो अमृत या आत्मज्ञान को ही विद्या का फल मानती है यह एक आदर्श एवं सफल शिक्षा प्रणाली थी जिसका अनुसरण आज भी पथ भ्रष्ट मानवता के लिए दिशा-निर्देशक हो सकता है। प्रोफेसर इला घोषने कहा है कि -" किसी भी राष्ट्र की उन्नत संस्कृति और उदात जीवनमूल्यों की आधारशिला उस देश की शिक्षा व्यवस्था होती है। क्योंकि शिक्षा ही उन विद्याओं या ज्ञानराशि का स्रोत होती है, जो पंचकोषात्मक मानव के समग्र कोषो का विकास करते हुए उसे मृत्युंजयि या अमृत के योग्य बनाती है।"*(18) **प्रोफेसर इला घोष, पृष्ठ-303**

भाषा के प्रवाह में प्रवाहित होने वाला काव्य या साहित्य के सारे

अंग हमें वेदों में प्रतिबिंबित होते दिखाई देते हैं। जैसे कवि, काव्य, प्रतीक एवं उपमान, अलंकार, रस एवं भाव संवाद सूक्त का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव किस प्रकार से हुआ यह हम सब भली भांति जानते हैं। इसके विषय में ज्यादा क्या कहें वैदिक ऋषियों की इन दर्शन सृष्टि ने भारत राष्ट्र समाज और साहित्य के भावेश स्वरूप का निर्धारण किया है इतिहास, पुराण और स्मृतियों ने वेदर्थ का ही उपब्रूहण और व्याख्यान किया है। इस प्रकार वेद वाक्य कवियों के लिए भी कामधेनु रही है। जिसका दोहन हजारों हजारों सालों से कविगण करते रहे हैं। "सहस्रणीथा कवयो ये गोपयन्ति सूर्यम।"*(19) ऋग्वेद 10.154.5

और वैदिक संस्कृति के उन मूलभूत जीवनमूल्यों के विषय में अगर बात करें तो, जीवन में तप, ऋत, सत्य, श्रद्धा, सुमति, सुनृत, सुकृत, दान या दक्षिणा, श्री यानी सौंदर्य, श्रम, सख्य, मैत्री या बंधुत्व, यम, भद्र, शुभ, शिव आदि तत्व हमें प्रभावित करते हैं।

ऋग्वेद के मंत्र द्दष्टा ऋषियो ने धर्म-दर्शन, परिवार-समाज, आर्थिक राजनीतिक जीवन, साहित्यशास्त्र, शिल्पकला, भाषा आदि संस्कृति घटकों के सूत्रपात के साथ ही पृथ्वी के धारक उन जीवनमूल्यों की भी स्थापना की, जो किसी भी राष्ट्र की संस्कृति को आदर्श एवं शाश्वत बनाते हैं। जो सृष्टि की सनातनता के लिए सुख, शांति, सौहार्द और सामंजस्य पूर्ण विश्व समाज के लिए, लोकमंगल की साधना के लिए हर युग में अनिवार्य रहे हैं। एक वृक्ष आकाश में तभी ऊंचा उठ सकता है, शाखा प्रशाखाओं से विकसित और रसमई मधुर फलों से समृद्ध हो सकता है, जब उसकी गहरी जड़े धरती से जीवन रस पा रही हो, इस प्रकार कोई भी राष्ट्र या जाति तभी समुन्नत हो पाती है, आपदाओं के भयंकर झंझावत में भी जीवित रह पाती है, जब उसकी शिराओं में जीवनमूल्य धारक तत्त्व के रूप में प्रवाहित होते हैं।*"(20) **प्रोफेसर एल घोष पृष्ठ-365**

वेद का ऋषि हर तत्त्व की भली भांति व्याख्या करते हुए सुमति की बहुत ही सुंदर व्याख्या करते हैं।

"शिवापशुभ्य:सुमना: सुवर्चा:।

वीरसूर्देवकामास्योना।।"*

(21) ऋग्वेद 10.85.44

हमें वैदिक ऋषियों की उस दिव्य भावना का दर्शन होता है कि इस धरती पर एक सुंदर सुखमय जीवन को संभव बनाने वाले जीवनमूल्य वैदिक संस्कृति की विश्व संस्कृति को शाश्वत देन है। जब अंधकार बहुत घना हो, जीवन की राह न सूझती हो, तब यह जीवनमूल्य ही ज्ञानमय प्रदीप बनकर हमारे अतःमन को आलोकित करता है, हमारा मार्ग प्रशस्त करता है। यही विश्व कामना वैदिक संस्कृति में झलकती है। यही वसुधैव कुटुंबकम की भावना है। जो परिवार को सुखी बनाना चाहता है। यह परिवार समुचा विश्व है।

उपसंहार: भाषा व्यक्ति, समाज, संस्कृति या राष्ट्र की पहचान होती है। वास्तव में भाषा एक संस्कृति है, उसके भीतर भावनाएं, विचार और सदियों की जीवन पद्धति समाहित होती है। भाषा ही परम्पराओं और संस्कृति से जोड़े रखने की एक मात्र कड़ी है।

"जब एक भाषा मरती है तब उसकी संस्कृति भी उसके साथ मर जाती है।

'लिविंग टंग्ज़ इंस्टिट्यूट फ़ार एन्डेन्जर्ड लैग्वेजैज़' इन सैलम, ओरेगान के भाषा वैज्ञानिक डेविड हैरिसन तथा ग्रैग एन्डरसन कहते हैं कि जब लोग अपने समाज की भाषा में बात करना बन्द कर देते हैं, तब हमें मस्तिष्क के विभिन्न विधियों में कार्य कर सकने की अद्वितीय अंतर्दृष्टियों को भी खोना पड़ता है। आगे एन्डरसन कहते हैं कि लोगों को अपनी भाषा में

बात करते हुए उन्हें वास्तव में अपने इतिहास से पुनः सम्पर्क करते देखने में जो संतोष होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह निश्चित ही हमारे मस्तिष्क की कार्य विधि तथा मातृभाषा के बीच गहरे संबन्ध को तथा उसका हमारे जीवन पर पड़ रहे प्रभाव को दर्शाता है।"*(22)

मनुष्य का हर व्यवहार भाषा के बिना बिल्कुल अधूरा है, सब कुछ बिना बोले कहाँ कहा जाता है? बोलने के बाद ही मनुष्य और उसकी संस्कृति का विकास हुआ है। संस्कृति से आगे वह सभ्यता की ओर भाषा के सहारे ही अग्रसर हुआ है। यही बहुत महत्त्वपूर्ण भावसृष्टि वैदिक संस्कृति और वैदिक भाषा के भावसंबंध में बिल्कुल सही मायने में प्रस्तुत होते दिखाई देती है। वैदिक भाषा और संस्कृति अन्योन्याश्रित है। विश्व कल्याण के लिए हमें वैदिक संस्कृति को संजोके रखना है।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:

1 ऋग्वेद10.125.3

2 વૈદિક સાહિત્ય અને સંસ્કૃતિ લેખક ડોકટર ગૌતમ વાડીલાલ પટેલ, प्रस्तावना, पृष्ठ क्रमांक- 8

3 link from TOI https://timesofindia.indiatimes.com/readersblog/pracin-jain-academy/culture-is-what-we-are-civilisation-is-what-we-have-29013/

4 वैदिक संस्कृति संरचना लेखिका: प्रो. इला घोष, पृष्ठ क्रमांक- 153

(5) ऋग्वेद 10.72.7

(6) ईला घोष

(7) ऋग्वेद 10.90.12

(8) ऋग्वेद 10.85.39

(9) प्रो. ईला घोष, पृष्ठ 206

(10) ऋग्वेद, 10.34
(11) अथर्ववेद, 3.12.1
(12) मनुस्मृति, 2.6
(13) ऋग्वेद, 9.104.1
(14) ऋग्वेद, 10.109.1
(15) ऋग्वेद, 10.10.12
(16) मुक्तिकोपनिषद्, 1.9
(17) ईशोपनिषद्, 14.
(18) प्रो. इला घोष, पृष्ठ 303
(19) ऋग्वेद, 10.154.5
(20) प्रो. एल घोष, पृष्ठ 365
(21) ऋग्वेद, 10.85.44
(22) https://www.pravakta.com/language-and-culture/

आयुर्वेद का आत्मा संस्कृत

वैद्या उज्वला विलास कड
संस्कृत व्याख्याता आयुर्वेद महाविद्यालय, राहुरी

प्रस्तावना:-

"भाषासु मुख्या मधुरा दिव्या गीर्वाण भारती।
तस्या हि काव्यं मधुरं तस्मादपि सुभाषितम्।।"

सभी भाषाओं में से प्रमुख अत्यंत मधुर एवं दिव्य संस्कृत भाषा है। जिसे देववाणी, गीर्वाणवाणी, स्वर्गीय भाषा तथा अमरभाषा जैसे अनेक विशेषणों द्वारा संबोधित किया जाता है।

सबसे प्राचीन यह भाषा वेदों की तरह अनादि काल से चली आ रही है, जिसका महत्व आज के युग में जरा भी कम नहीं हुआ है। इसलिए पूरे संसार में भाषाओं की जननी होने का मान संस्कृत को मिला। संस्कृत भाषा प्राचीन ज्ञान का भंडार, अध्यात्मिक अभिव्यक्ति का साधन और भारत के समृद्ध, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विरासत को समझने की कुंजी है।

किसी भी विषय को नाति संक्षिप्त, नाति विस्तृत एवं सूत्र रूप में बताने का सामर्थ्य सिर्फ संस्कृत भाषा में है। इसलिए भारतीय प्राचीन चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद की मूलभूत भाषा संस्कृत ही है। इसका उत्तम उदाहरण वाग्भट रचित अष्टांग हृदय ग्रंथ हैं। वाग्भटरचित अष्टांग हृदय का वैशिट्यपूर्ण स्वरूप सूत्र रूप में आया है।

क्रियतेऽष्टांगहृदयं नातिसंक्षेप विस्तरम्। अ. हृ. सू १/५

आयुर्वेद के सूत्र:-

आयुर्वेद का वस्त्र संस्कृत भाषा के धागों से काफी गहराई से बुना

हुआ है। इसलिये आयुर्वेद के सूत्रों का गूढ़ अर्थ समझने के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य है।

उदा. अष्टांग हृदय के दिनचर्या अध्याय के **प्रथम सूत्र** में कहा गया है,

प्रथम सूत्र

१ ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत्स्वस्थो रक्षार्थमायुषः। अ.हृ.सूत्र. 2/1

स्वस्थ व्यक्ति को अपनी आयु की रक्षा करने के लिए प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त पर उठना चाहिए। ब्रह्म मुहूर्त शब्द का अर्थ कई प्रकार से समझाया जा सकता है। जैसेः-

रात्रेश्चतुर्दशो मुहूर्तो ब्राह्मो मुहूर्तः।

अर्थात रात के चौदह वें मुहूर्त को ब्राह्म मुहूर्त कहते है।

ब्रह्मं ज्ञानमध्ययनाद्यपि ब्रह्म, तस्य योग्यो मुहूर्तो ब्राह्मः।

ब्रह्म मतलब ज्ञान। ज्ञान प्राप्त करने हेतु योग्य काल को ब्रह्म मुहूर्त कहते है। आयुर्वेद शास्त्र का प्रथम स्मरण ब्रह्मा ने किया और हमारे दिन का प्रारंभ भी जिस मुहूर्त से हो उसे ब्रह्म मुहूर्त कह सकते है।

द्वितीय सूत्र

२ पुरोवातातप रजस्तुषारपरुषानिलान्। अ.हृ.सूत्र 2/40

उपरोक्त सूत्र का अर्थ है पूर्व दिशा की ओर से बहने वाली वायु और धूप का सेवन ना करें।

पुरो (पुरस्) शब्द के दो अर्थ– 1. पूर्व दिशा से 2. सामने से

उपरोक्त सूत्र में पुरो आतप का अर्थ सामने से आने वाली धूप का सेवन ना करें ऐसा भी है। इसलिए उचित अर्थ समझने के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है।

तृतीय सूत्र

३ मेहेषु धात्रीनिशे। सार्थ वागभट उत्तर स्थान40/48

प्रमेह में आवला और हल्दी का प्रयोग श्रेष्ठ होता हैं। धात्रीनिशे का एक अर्थ धात्री+निशा (५०%+५०%) और दूसरा अर्थ धात्री+निशा+दारूनिशा (३३%+३३%+३३%) ऐसा होता है। परंतु यहाँ धात्री निशे का योग्य अर्थ धात्री और निशा है। अगर संस्कृत का ज्ञान हो तो आयुर्वेद के सुत्रों का सही अर्थ समझना आसान होता है।

संस्कृत का आयुर्वेद ग्रंथों में स्थान:-

संस्कृत भाषा आयुर्वेद के मूल स्त्रोतों में से एक है। यह विज्ञान के विकास और प्रचारण मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

1. **युर्वेद के मूल ग्रंथ**:– आयुर्वेद के मूल ग्रंथ उदा. चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांग हृदय आदि संस्कृत में ही उपलब्ध के कारण आयुर्वेद का मूल स्त्रोत बने है।
2. **विज्ञान और तकनीक के प्रयोग** - संस्कृत में लिखे आयुर्वेद ग्रंथ के चिकित्सा तत्व एवं सिद्धांत आज भी तकनीकी तौर पर सक्षम है।

उदा. विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुसार करोना काल में मास्क पहनना, सॅनिटाइजर का उपयोग करना और दो गज की दूरी रखना अनिवार्य था। इस बात को आयुर्वेद के ग्रंथ में पहले ही वर्णित किया गया हैं।

मास्क:-

नानावृत्तमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत्। च.सू. 8/19

बिना मुँह को ढके जँभाई, छींकना और हँसना टाले। (मास्क से मुँह की जगह ढ़कना)

सॅनिटाइजर(Sanitizer):-

नोपस्पृष्य ते एव वाससी बिभृयात्। च.सू. ८/१९

पहले पहने वस्त्र फिरसे ना पहने-

नास्नातो नोपहतवासा...

नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो... अन्नमाददीत्।

च सू. ८/२०

बिना स्नान, बिना स्वच्छ वस्त्र पहने, बिना हाठ, पैर, मुख धोये खाना न खाये।

याने हाठ, पैर, मुख, वस्त्र नित्य स्वच्छ होना महत्वपूर्ण हैं।

दो गज की दूरी :-

नकुलच्छायामुपासीत्। च.सू.८/१९

दूसरे पुरुष की छाया अपने शरीर के उपर न पड़ने दें। मतलब छाया जितनी दूरी (avg. height-5.5 feet) बनाए रखें।

3) **धार्मिक एवं अध्यात्मिक महत्त्व:**- आयुर्वेद शरीर, मन और आत्मा के संतुलन को महत्व देता है इस कारण संस्कृत आयुर्वेद को धार्मिक और अध्यात्मिक महत्त्व के साथ जोड़ती है।

४) **परंपरा और इतिहास:**- आयुर्वेद एक प्राचीन परंपरा है जो सालों से चली आ रही है। संस्कृत इस परंपरा का एक भाग है। संस्कृत के माध्यम से हमारे पूर्वजों की दी हुई चिकित्सा विधियां और तरीकों की खोज होती है।

५) **अनुसारिका शब्दावली:**- संस्कृत मे आयुर्वेदिक अनुसारिका शब्दावली होती है, जिसमें शब्दों के अर्थ और व्याकरण, उनके रूप और उपयोग के संबंध में स्पष्ट होते हैं, इससे ग्रंथों का समझना आसान होता है।

६) **वैदिक दर्शन और संस्कृत:**- आयुर्वेद के लिये उपयुक्त वैदिक दर्शन और उनके तत्त्व तथा सिद्धांतों का ज्ञान संस्कृत की अध्ययन से ही मुमकिन है।

संस्कृत ही आयुर्वेद के मूलतत्त्व , सिद्धांतों तथा मूलस्त्रोतों को समझने और उनका अनुकरण करने का माध्यम हैं। आयुर्वेद और संस्कृत

का गहरा संबंध ही आयुर्वेद शास्त्र को अद्वितीय बनाता हैं।

आयुर्वेद के मूल सिद्धांतः-

- **पांचभौतिक सिद्धांतः**- आयुर्वेद के अनुसार मानव शरीर पंचमहाभूतों से मिलकर बनता हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये विशेष-अर्थपूर्ण संस्कृत शब्द इन पंचमहाभूतों के लिए आये है जो आयुर्वेद के अध्ययन में महत्वपूर्ण है।
- **त्रिदोष सिद्धांतः**- आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त और कफ ये तीन दोष हैं। दोष इस विशेष शब्द से जो स्वयं दूषित होके दूसरों को दूषित करता हैं यह अर्थ अपेक्षित है जो सिर्फ़ संस्कृत द्वारा ही सम्भव है- दूषयन्तीति दोषाः।
- **धातू सिद्धांतः**- शरीर की धारणा के लिए रसादि सप्तधातु महत्वपूर्ण है- धारणात् धातवः।

इस प्रकार आयुर्वेद के मूल सिद्धांत को समझने में संस्कृत से बड़ी सहायता मिलती है जो चिकित्सा के लिए महत्वपूर्ण हैं।

आयुर्वेद का द्रव्य-गुण-विज्ञान एक महत्वपूर्ण अंग हैं जिसमें औषधियों के नाम स्वरूप, गुण, प्रभाव और उपयोग आदि का संपूर्ण वर्णन है। यह विज्ञान आयुर्वेद में विभिन्न द्रव्यों के चिकीत्सीय उपयोग के पीछे वैज्ञानिक और तात्विक आधार को समझने में सहायता करता है।

औषधियों के नाम और विशेषताएं:- वनस्पति को उसके गुण, कर्म, उत्पत्ति स्थान, आकार-स्वरूप के अनुसार संस्कृत में अर्थपूर्ण नाम दिये गए हैं।

१) एक ही नाम की अनेक वनस्पतियां हैं।

उदा.- अमृता नाम से आमलकी, नीम, गुडूची, शतावरी, हरितकी ये सभी वनस्पति जानी जाती है। यह सभी अमृत जैसी स्वास्थ्यकर होती है।

२) एक वनस्पति के अनेक नाम होते हैं।

उदा.- हरितकी अनेक नाम से जानी जाती है जैसे- अभया, पथ्या,

कायस्था, पुतना, अमृता, हैमवती, अव्यथा, चेतकी, श्रेयसी, शिवा, वयस्था, विजया, जीवन्ती और रोहिणी। चिकित्सा करते समय सही वनस्पति चुनने के लिए वनस्पति के नामों का सही अर्थ पता होना अत्यावश्यक है।

मंत्र चिकित्सा:-

आयुर्वेद में मंत्र चिकित्सा अध्यात्मिक दृष्टिकोंण के साथ जुड़ी होती है, जिसमें शांती और मानसिक स्वास्थ्य सुधारने का लक्ष्य होता है। आयुर्वेद में मंत्र का उपयोग रोगों के उपचार करने के लिए किया जाता है। इसलिए इन संस्कृत मंत्रों का प्रयोग अत्यधिक प्रभावी बनाने के लिए इनका सही उच्चारण और अर्थ समझना आवश्यक होता है।

उदा. १) उन्माद (मन का अस्वास्थ्य)

आगन्तु: प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रोषधैस्तथा। च.चि. ९/९४

सिद्ध मंत्र तथा औषध के प्रयोग द्वारा उन्माद शांत हो जाता है।

२) ज्वर(बुख़ार)

विष्णुं सहस्त्रमूर्धानं चराचरपतिं विभूम्।
स्तुवन्नामसहस्त्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति।।

च.चि.3/311, 312

विष्णुसहस्त्रनाम का पाठ करने से व्यक्ति सभी प्रकार के ज्वरों से रोग मुक्त हो जाता है।

४) विषचिकित्सा:

मंत्रारिष्टोत्कर्तननिष्पिडनचूषणाग्निपरिषेक:। च.चि.-२३/३५

आयुर्वेद ने विष चिकित्सा में उपर्युक्त २४ उपक्रम में सर्वप्रथम स्थान मंत्र चिकित्सा को ही दिया हैं। संस्कृत भाषा मंत्र चिकित्सा के अध्ययन और प्रयोग के लिए महत्वपूर्ण होती है।

सारांश:-

- आयुर्वेद तत्त्व और सिद्धांत की असली जड़ो तक पहुँचने के लिये आयुर्वेद के छात्र तथा प्राध्यापकों के लिए संस्कृत सीखना अति महत्वपूर्ण है।
- "आयुर्वेद की गहराईयों को छूने के लिए आवश्यक है संस्कृत का ज्ञान।
- स्वास्थ्य और बल के सूत्र को समझकर उचित चिकित्सा करें हम ये है आयुर्वेद की शान।"
- संस्कृत आयुर्वेद के तथ्यों का संचयन करने का माध्यम है।
- संस्कृत की सुंदरता और आयुर्वेद के ज्ञान का मिलन भारतीय सांस्कृतिक धरोहर के साथ, हमारे स्वस्थ जीवन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। इन दोनों का संगठन आयुर्वेद के विकास और व्यवस्थापन में महत्वपूर्ण है। **इसलिए आयुर्वेद के लिए संजीवनी बने संस्कृत को आयुर्वेद का आत्मा कहा है।**

Reflections through the Gaṇas from Tatpuruṣa Compound

Dr. Kirti Sameer Kulkarni
Deccan College PGRI,
Deemed University, Pune.
kirti.kulkarni@dcpune.ac.in

Compound is the peculiarity and beauty of Sanskrit language. There are four main types of Compound. Tatpuruṣa Compound is one of them. In the Aṣṭādhyāyī, section of Tatpuruṣa Compound runs from A. 2.1.21 to A. 2.2.22. Among these rules there are 10 rules mentioning the Gaṇas. They are as follows :-

याजकादिभिश्च A. 2.2.9, सप्तमी शौण्डैः A. 2.1.40, पात्रेसमितादयश्च A. 2.1.48, उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे A. 2.1.56, श्रेण्यादयः कृतादिभिः A. 2.1.59, प्रशंसावचनैश्च A. 2.1.66, कडाराः कर्मधारये A. A. 2.2.38, कुमारश्रमणादिभिः A. 2.1.70, मयूरव्यंसकादयश्च A. 2.1.72.

However, out of these, only two rules directly deal with the whole compounded words, while the remaining rules give the specifications and the Gaṇas of words by which Compounds can be formed. So, the present paper deals with the two rules which directly provide the whole compounded words. They are **- पात्रेसमितादयश्च A. 2.1.48 and मयूरव्यंसकादयश्च A. 2.1.72.**

These two rules mention the Gaṇas, i.e. classes, in which there is collection of compounded words. These compounds are irregular. It means they cannot be formed by the grammar rules. So they are the compounds by Nipātana. These both Gaṇas are *ākṛtigaṇa*s, i.e. other

compounded words can also be added into them accordingly.

If we check the words from these Gaṇas, it is observed that these compounded words are very peculiar and interesting. They throw the light on the social tradition or custom of those days; some reveal the linguistic features; or some reflect human nature and emotional attitude. So, an attempt is made in this paper to check these features and to provide the split and the meanings of 'all' the compounded words from these two Gaṇas which are not otherwise found in the commentaries or in the dictionaries.

let's see these factors in detail on the basis of the compounds from these Gaṇas.

1. Gaṇa Pātresamita -

   (a) The words from the Gaṇa Pātresamita reflect the blame or ironical taunt. All these compounded words are used as a tease in the language and they indicate some negative or funny aspect of a person.

   (b) Some words indicate the person and his specific qualities like bravery, cleverness, or any such human nature, but only in the house or only within the specific limits. So, it is not actually a virtue, rather a negative shade of the character.

   let's see such occurrences in detail.

पिण्डीशूरः	पिण्डव्यापारे नाम भोजने एव शूरः	Cake-hero
गेहेशूरः	गेहे एव शूरः	House-hero

गेहेनर्दी	गेहे एवनर्दति	Shouting defiance at home
गेहेविजिती	गेहे विजयते	Victorious at home
गेहेव्याडः	गेहे एवव्याडः	Fierce at home
गेहेमेही	गेहे मेहते	Making water at home, alazy or indolent man
गेहेदाही	गेहे दहति	Scorching and burning at home
गेहेतृप्तः	गेहे एवतृप्तः	Satisfied at home
गेहेधृष्टः	गेहे एव धृष्टः	Insolent at home
गर्भेतृप्तः	गर्भे शिशौ अन्ने वा तृप्तः	Contented in the womb
गोष्ठेशूरः	गोष्ठेएव शूरः	Hero in a cow-pen, boasting coward
गोष्ठेविजिती	गोष्ठे विजयते	Victorious in a cow-pen
गोष्ठेक्ष्वेडी	गोष्ठे क्ष्वेडते	Bellowing in a cow-pen, boasting coward
गोष्ठेपण्डितः	गोष्ठे एव पण्डितः	Clever in a cow-pen
गोष्ठेप्रगल्भः	गोष्ठेएव प्रगल्भः	Courageous in a cow-pen, boasting coward
मातरिपुरुषः	मातरिएव पुरुषः	One who can actlike a man only against his mother, poltroon
पितरिशूरः	पितृविषये एव शूरः, नान्यत्र	Hero against his father

Some compounds from the same Gaṇa reflect the specific human nature, human tendencies. eg.

कर्णेटिरटिरा[1]	कर्णेटिरटिरायते	Whispering into the ear
कर्णेचुरचुरा	कर्णेचुरचुरायते	(Secret[2]) whispering into the ear
पात्रेसमित	पात्रे भोजने एव समितः संगतः	A treacherous or hypocritical person
पात्रेबहुल	पात्रे भोजनसमये एवबहुलः, न तु कार्ये	Frequently present at meal

Some compounds indicate the ironical meaning; not directly to the person but through the Anyokti.

उदुम्बरकृमिः	उदुम्बरेकृमिः इव	A worm in a fruit of the tree Ficus Glomerata
कूपकच्छपः	कूपे एवान्यत्र संचारशून्यः कच्छपः	A tortoise in a well, a man without experience
अवटकच्छपः	अवटे कच्छप इव	A tortoise in a hole (said of an inexperienced man who has seen nothing

[1] In MW., it is कर्णेटिरिटि, Apte takes as कर्णेटिरिटिरा, with the meaning 'secret …'.

[2] This is an additional meaning attested by Apte.

		of the world)
उदुम्बरमशकः	उदुम्बरे मशक इव	A mosquito in a fruit of the tree Ficus Glomerata
कूपमण्डूकः	कूपे एवान्यत्र संचारशून्यः मण्डूकः	A frog in a well, a man without experience
कुम्भमण्डूकः	कूम्भे मण्डूकइव	A frog in a pitcher, an inexperienced man
उदपानमण्डूकः	उदपाने मण्डूकः इव	A frog in a well, a narrow-minded man who knows only his own neighborhood
नगरकाकः	नगरे काक इव	A town-crow
नगरवायसः	नगरे वायसइव	A town-crow

2. Gaṇa Mayūravyaṁsaka:- Compounds from the Gaṇa Mayūravyaṁsaka are more special and unique. They appearlike Bahuvrīhi compound, but by the rule **मयूरव्यंसकादयश्च** A. 2.1.72, they are enumerated in the Tatpuruṣa compound. These compounds can be classified into three sub-sections as –

(a) compound reflecting ironical taunt, may be through Anyokti. eg.**मयूरव्यंसकः, छात्रव्यंसकः**, etc.

(b) compound having verbal form as its first member and the whole compound reflecting some third entity. eg. **एहीडम्, एहियवम्, अपोहकटा, आहरवसना,** etc.

(c) compound having verbal forms for both the members of the compound and it reflects the continuity of the action. eg. **अश्नीतपिबता, खादतमोदता,** etc.

let's see the compounds from the Gaṇa Mayūravyaṁsaka in detail.

मयूरव्यंसक	मयूरश्चासौ व्यंसकः	A roguish peacock, a rogue of peacock
छात्रव्यंसक	छात्रश्चासौ व्यंसकः	A roguish student, a rogue of student
काम्बोजमुण्ड	काम्बोजश्चासौ मुण्डः	Kāmboja with a shaven head
यवनमुण्ड	यवनश्चासौ मुण्डः	Yavana with a shaven head
हस्तेगृह्य[1]	हस्ते गृह्य (गृहीत्वा)	Having taken anyone by hand
पादेगृह्य[2]	पादे गृह्य (गृहीत्वा)	Having clasped anyone's feet
लाङ्गलेगृह्य	लाङ्गले गृह्य (गृहीत्वा)	Seizing by the plough
पुनर्दाय[3]	पुनर्दाय (दत्त्वा)	Giving again, restoring
एहीडम्	एहि ईडे इत्युच्यते यस्मिन्	Action in which

[1] In classical Sanskrit, it will be हस्तेगृहीत्वा.

[2] In classical Sanskrit, it will be पादेगृहीत्वा.

[3] In classical Sanskrit, it will be पुनर्दत्त्वा.

	कर्मणि	it is said 'come, will pray'
एहियवम्	एहि यौमि इत्युच्यते यस्मिन् कर्मणि	Action in which it is said 'come, will join'
एहिवाणिजा	एहि वाणिज इति उच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which merchants are allowed
अपेहिवाणिजा[1]	अपेहि वाणिज इति उच्यते यस्यां क्रियायाम्	A ceremony from which merchants are excluded
प्रेहिवाणिजा	प्रेहि वाणिज / प्रेहि म्रियस्व वाणिज / आदरेण गच्छ वाणिज इति उच्यते यस्यां क्रियायाम्	A rite at which no merchants are allowed to be present / action in which it is politely said to the merchants to go away
एहिस्वागता	एहि स्वागतमिति उच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'come, you are welcome'
अपेहिस्वागता	अपेहि स्वागतमिति उच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'go, welfare for you'
प्रेहिस्वागता	प्रेहि स्वागतमिति उच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'go, welfare for you'

[1] *apehipraghasaa*, *apehivaataa* are also the examples.

एहिद्वितीया	एहि द्वितीयम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'come as the second '
अपेहिद्वितीया	अपेहि द्वितीयम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said ''
इहवितर्का	इह वितर्कः इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'here is a doubt'
प्रोहकटा[1]	प्रोह कटम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'remove the mat'
अपोहकटा	अपोह कटम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'remove the mat'
प्रोहकर्दमा	प्रोह कर्दमम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'remove themud'
अपोहकर्दमा	अपोह कर्दमम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'remove the mud'
उद्धरचूडा	उद्धर चूडाम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action or ceremony in which it is said 'fetch / keep the (single)lock of

[1]प्रोहकरटा is another reading.

		hair’
आहरचेला[1]	आहर चेलम् / चेल इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said ‘fetch the servant here/ O servant, bring it here’
आहरवसना	आहर वसनम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said ‘bring here the cloth’
आहरवनिता	आहर वनिताम्/ वनिते इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said ‘fetch thelady here / Olady, bring it here’
कृन्तविचक्षणा	कृन्त (छिन्धि) विचक्षण इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said ‘O wise man, cut this’
उद्धरोत्सृजा	उद्धर उत्सृज इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Any act in which it is said *uddhara utsrja*
उद्धमविधमा	उद्धम विधम इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Any act in which it is said *udhama vidhama*
उत्पचविपचा	उत्पच विपच इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Any act in which it is said *utpacha vipacha*

[1]आहरचेटा is another reading.

उत्पतनिपता	उत्पत निपत इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Any act in which it is said *utpata nipata*
उच्चावचम्	उदक् उत्कृष्टं च अवाक् अपकृष्टं च	High andlow, great and small
उच्चनीचम्	उच्चैश्च नीचैश्च	High andlow, upper andlower
अचितोपचितम्	अचितं च उपचितं च	Scattered and collected
अवचितपराचितम्	अवचितं च पराचितं च	Gathered and scattered / gathered and nourished by other
निश्प्रचम्	निश्चितं च प्रचितं च	Determined and collected
अकिञ्चन	नास्ति किंचन यस्य	One without anything
स्नात्वाकालकः	स्नात्वा कालीभूतः	One who has become blackish or dirty after bathing
पीत्वास्थिरकः	पीत्वा स्थिरः	Somewhat refreshed by a draught
भुक्त्वासुहितः	सुहितस्य भुक्तिः (सुतृप्तभोगे)	Satisfied after eating
प्रोष्यपापीयान्	प्रोष्य पापीयान्	One who has become worse

		byliving abroad
उत्पत्यपाकला	उत्पत्य आकाशे भूत्वा या पाकला पाण्डुर्भवति सा / उत्पत्य पाकलः यस्यां क्रियायाम्	Action in which there is fire having arisen
निपत्यरोहिणी	निपत्य रोहिणी	Action of falling and ascending / action in which it becomes reddish after having fallen
निषण्णश्यामा	निषण्णा चासौ श्यामा च / निषण्णाः श्यामाः यस्यां क्रियायाम्	Who is afflicted and so black (shamed) / action in which black people are dejected
अपेहिप्रसवा	अपेहि प्रसवः / प्रसव इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which pressing (Soma) is excluded / action in which it is said 'go away and run'
इहपञ्चमी	अत्रत्य पञ्चम्याम् / इह पञ्चमी इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Being here as the fifth woman
इहद्वितीया	अत्रत्य द्वितीयायाम् / इह द्वितीया इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Being here as the second woman

जहिकर्मणा	जहि कर्म जहि कर्म इति आभीक्ष्ण्येन य आह	Act in which it is constantly said 'quit the action'
जहिजोडः	जहि जोडं जहि जोडमिति आभीक्ष्ण्येन य आह[1]	In the habit of hitting one's chin
उज्जहिजोडः	उज्जहि जोडम् उज्जहि जोडमिति आभीक्ष्ण्येन य आह	In the habit of hitting one's chin
जहिस्तम्बः	जहि स्तम्बं जहि स्तम्बमिति आभीक्ष्ण्येन य आह[2]	Constantly striking against a post
उज्जहिस्तम्बः	उज्जहि स्तम्बम् उज्जहि स्तम्बमिति आभीक्ष्ण्येन य आह	Constantly striking against a post
अश्नीतपिबता	अश्नीत पिबत इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Continual eating and drinking
पचतभृज्जता	पचत भृज्जत इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Continual baking and roasting
खादतमोदता	खादत मोदत इत्युच्यते यस्यां	Eating and being glad,

[1]जहि जोड इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम् – (वाच.) त्यागजोडार्थनियोगक्रियायाम्।

[2]जहि स्तम्भ इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम् – (वाच.) त्यागस्तम्भनियोगक्रियायाम्।

	क्रियायाम्	continual eating and rejoicing
खादतवमता	खादत वमत इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Continual eating and vomiting
खादताचमता	खादत आचमत इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Continual eating and rinsing the mouth
आहरनिवपा	आहर निवप इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'bring and sow'
आवपनिष्किरा	आवप निष्किर इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'sow and cover'
उत्पचविपचा	उत्पच विपच इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Any act in which it is said 'cook thoroughly and well'
भिन्धिलवणा	भिन्धि लवणम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'break the salt'
छिन्धिविचक्षणा	छिन्धि लवणम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'break the salt'
पचलवणा	पच लवणम् इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'cook (with) salt'
पचप्रकुटा	पच प्रकुट (प्रकर्षेण छिन्धि) इत्युच्यते यस्यां क्रियायाम्	Action in which it is said 'cook and cut'

अविहितलक्षणः	अविहितं लक्षणं यस्य सः	Person of unpredictable nature

Observations and Concluding Remarks :-

- The compounded words from these two Gaṇas reflect the niceties of Sanskrit language, peculiar formation of Tatpuruṣa compound, exceptions of grammar rules, etc.
- Main purpose of this paper is to bring them into light; and to provide the explanation of them, both in Sanskrit as well as in English.
- These peculiar compounds are formed by *nipātana*, i.e. grammar rules may not be followed for their formation.
- They reflect the human nature, unique character of the person.
- However, it is observed that some human characteristics are attested according to the gender. It is reflected through the ending marker of the compound. eg. while reflecting the bravery the compounded wordsare in masculine such as **गेहेशूरः**, **मातरिपुरुषः** etc. It may give rise to the questions such as - are the females not brave ? It may be so that the females are really brave but not only in the house. Similarly, while reflecting the talkative nature, the compounded words are given in feminine, such as **कर्णेचुरचुरा, कर्णेटिरटिरा**.
- Mayūravyaṁsaka Gaṇa suggests **पूर्वनिपात or परनिपात** of specific words in the compound. eg. Word **व्यंसक** has **परनिपात** though it is an adjective.
- Mayūravyaṁsaka Gaṇa gives the compounds with finite verbal forms which is a very peculiar usage in

the language. Compounded words reflect two ways of compounding– compounds of finite verbal form and the noun, compounds of two finite verbal forms.

- Actions which are mentioned in the compounds are also very funny. Sometimes they reflect the very normal habits of the people. eg. **खादतमोदता, खादतवमता, जहिकर्मणा, अपेहिस्वागता.** These are क्रियाप्रधान compounds, and **क्रियासातत्य** is reflected through them.
- Since these compounds have the *vigraha* and the connotation like the Bahuvrīhi compound, they indicate the third entity, mostly an 'action'. So, it does not reflect the gender-wise peculiarity about the agent of that action.
- Such compounds might have included in the Tatpuruṣa Compound for the sake of accent, i.e. *antodātta*; or *ādyudātta* by the rule *yuktārohyādi* A. 6.2.81. Surprisingly, we do not find all these words in theliterature.
- Gaṇaratnamahodadhi quotes some other famous examples also,like **अहमहमिका (अहं शक्तः अहं शक्तः / अहं पूर्वम् अहं पूर्वं प्रवर्ते इति भावः), कांदिशीकः (कां दिशं व्रजामीति), आहोपुरुषिका (अहो पुरुषः अहमिति अस्य भावः), अकुतोभयः (नास्ति कुतोऽपि कस्मादपि भयं यत्र),** etc.
- Since these are the *ākṛtigaṇa*s, words can be added here if found in the Vedas or in the classicalliterature.

Bibliography:-

- Böhtlingk, Otto (Ed.) 1964 (1st Ed.) *Pāṇini's Grammatik*. Hildesheim : Georg Olms Verlagsbuchhandlung.
- Joshi, S.D. &Roodbergen J.A.F. 1995. *The Aṣṭādhyāyī of Pāṇini with Translation and Explanatory Notes* :Vol. IV. Delhi : Sahitya Akademi.

- Sathe, M. D. (Tr.) 1965. *Vaiyākaraṇa-Siddhānta-Kaumudī*(*of BhaṭṭojīDīkṣita*). Pune : Sanskrit Vidyaparisamstha, Sanskrit Pathashala.
- Shastri, Bala (Ed.) 1978. *Śrīyutapaṇḍitavāmanajayādityaviracitā Pāṇinīyavyākaraṇasūtravṛttiḥ Kāśikā*. Delhi : ArshakanyaGurukula Narela.
- Shastri, Swami Dwarikadas& Pt. Shukla Kalika Prasad (Ed.) 1965. *Nyāsa or Pañcikā comm. of ĀcāryaJinendrabuddhipāda and Padamañjarī of Haradatta Mishra on The Kāśikāvṛtti*(*Comm. on The Aṣṭādhyāyī of Pāṇini*) *of Vāmana-Jayāditya*. Varanasi : Prachya Bharati Prakashan.
- Vasu, S. C. (Tr.) 1962. *Aṣṭādhyāyī of Pāṇini*. Delhi : Motilal Banarasidass.
- Eggeling, Julius (Ed.) 1879. *Vardhaman's Gaṇaratnamahodadhi*.london : Sanskrit Text Society.
- Śrīvaradāprasādavasu and Śrīharicaraṇavasu (Ed.) 1808. *Kalpadrumaḥ* by SyārarājāRādhākāntadevabāhādura. Calcutta : Baptist Mission Press.
- Sri Taranatha Tarkavachaspati. 1962. *Vacaspatyam, A Comprehensive Sanskrit Dictionary*. Varanasi : Chowkhamba Sanskrit series Office.
- Pandit Ishwar Chandra (Ed.) 2008. *Sanskrit English Dictionary by M. Monier Williams*. New Delhi : parimal Publications.
- Gode, P. K. & Karve, C.G. (Ed.) 1995. *Revised and Enlarged Edition of Prin. V.S. Apte's The Practical Sanskrit English Dictionary*. Poona : Prasad Prakashan.

संस्कृत साहित्य में भाषा और संस्कृति

डॉ. ललिता जुनेजा
सेवानिवृत्त प्राचार्या, उच्चतर शिक्षा विभाग, हरियाणा

भाषा का मानव जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यदि भाषा न हो तो जगत् की सारी व्यवस्था ही रुक जाए। मनुष्य को अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाने वाली, उत्तम जीवन देने वाली, पशुत्व से देवत्व की ओर ले जाने वाली 'भाषा' ही होती है। अज्ञान रुपी अंधकार का निवारण भाषा रुपी ज्योति से ही होता है। भाषा:- जो भी हम बोलते हैं, बोलकर मन के भावों को व्यक्त करते हैं, दूसरे व्यक्ति तक अपने मन के भावों को सम्प्रेषित करते हैं, वह भाषा ही है। भाषा, पशु-पक्षियों, वनस्पतियों, पेड़-पौधों तथा मूक व्यक्ति, बालक, अत्यन्त वृद्ध आदि की भी होती है। पशु पक्षी अपने भावों को अस्पष्ट ध्वनियों से व्यक्त कर लेतें हैं। पौधे स्पर्श द्वारा स्वयं के भाव व्यक्त करते हैं। नवजात शिशु तथा बालक, जब तक बोलना नहीं सीखते, अपनी ही अस्पष्ट भाषा से भावों को व्यक्त कर देते हैं। अत्यन्त वृद्ध तथा रोगी भी अस्पष्ट ध्वनियों तथा इशारों से सब व्यक्त कर देते हैं। मूक व्यक्ति भी या मौन व्रतधारी व्यक्ति भी भावों को संकेतों से सम्प्रेषित कर देता है।

प्रस्तुत पत्र में 'भाषा' का उल्लेख मुँह से बोलकर भावों को व्यक्त करने वाली 'भाषा' (भाषते 'भाष्' धातु, बोलना) के संदर्भ में लिया गया है। भाषा का उच्चारण शुद्ध होना चाहिए तभी वह सही से आपके मन के विचारों की अभिव्यक्ति कर सकती है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है। भाषा के शुद्ध प्रयोग के लिए हमें व्याकरण का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों में भाषा सर्वप्रमुख साधन है। भाषा का आधार ध्वनि है। ध्वनियों से ही भाषा का निर्माण हुआ है। ध्वनियों

का सम्बन्ध उच्चारण से है। भाषा शिक्षण में शुद्धोच्चारण की दृष्टि से शिक्षा वेदांग अत्यन्त उपयोगी है। अर्थग्रहण की स्पष्टता तथा प्रभावी शिक्षण के लिए भी यह वेदांग उपयोगी है। इसके अध्ययन से भाषा शिक्षक में वाक्पटुता, अर्थगम्भीरता आदि विकसित होती है।

प्रत्येक स्थान की अपनी भाषा होती है, और शिशु जिस परिवेश में जन्म लेता है, वह धीरे-धीरे वही भाषा सीख लेता है, बोलने लगता है।

ऋग्वेद के वाक् सूक्त एवं अस्यवामीय सूक्त में वर्णित 'वाक्' अभिव्यक्ति ही नहीं, अपितु चिन्तन का भी साधन है। वाक् के बिना कोई भी बुद्धि– व्यापार अथवा चिन्तन सम्भव नहीं है। वाक् जगत् का उत्पादक, सर्वसामर्थ्य शाली तत्त्व है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।

(ऋग्वेद 10/125/3)

वाक् के दो स्तर हैं– मन्त्र स्तर पर वाक् साधना का विषय है तथा प्रपंच अथवा व्यवहार स्तर पर वाक् स्वयं से अतिरिक्त का बोध कराती है। जैसे रज्जु में सर्प का आरोप। यह सत्ता पर नाम का आरोप करती है। यथा बाह्य जगत् में जो अर्थ है, उस पर वृक्ष नाम आरोपित करना। वाक् सत्ता के महासमुद्र में तक्षण का कार्य करती है।

गोरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति।

(ऋग्वेद 1/1/64/41)

व्यवहार में जल तत्त्व की अनेकता नहीं है तथापि 'सलिलानि' में बहुवचन वाक् की सृष्टिपरकता दिखाता है। भारतीय संस्कृति का मूल श्रुति (वेद) है। यह वाक् की प्रधानता द्योतित करता है। पाश्चात्य संस्कृति में, लिखित ग्रन्थों की प्रधानता है अतः वहाँ लिखित रूप अधिक प्रामाणिक है। इसीलिए भारतीय दृष्टि वाक्, ज्ञान एवं सृष्टिपरक है। इसके विपरीत

पाश्चात्य दृष्टि लेखन, सम्प्रेषण एवं प्रस्तुतिपरक है। वाक् का विराट स्वरूप भारतीय चिन्तन एवं व्यवहार में प्रारम्भ से है।

संस्कृति के विषय में यदि देखा जाए तो संस्कार ही मनुष्य को कृतज्ञ बनाते हैं और कृतज्ञता मनुष्य के मन में माता-पिता, गुरु, पूर्वज, जन्मभूमि और देश के प्रति प्रेम का भाव जगाती है। जबकि, कृतघ्नता केवल स्वार्थपरायणता, विद्वेष और घृणा को ही जन्म देती है। प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है कि :-

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।

वह नर नहीं पशु है निरा और मृतक समान है।।

वस्तुतः हमारा गौरव हमारे पूर्वजों की धरोहर (संस्कृति, भाषा और मातृभूमि) है। मातृभूमि केवल सीमा, भवन, आदि का नाम ही नहीं है। अपितु उसमें भाषा, संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान आदि का भी समावेश होता है। प्रत्येक स्थान विशेष की अपनी ही भाषा तथा संस्कृति होती है, जो प्रारम्भ से ही चली आती है।

संस्कृत भारत का महत्त्वपूर्ण गौरव है। विश्व की ज्ञान भाषाओं में संस्कृत सबसे पुरानी भाषा है। भारत की तथा विश्व की लगभग सभी भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव है या संस्कृत से निकली हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि संस्कृत केवल पूजा-पाठ की भाषा है, किन्तु यह सत्य नहीं है। संस्कृत– साहित्य के केवल पाँच प्रतिशत में धर्म की चर्चा है और शेष तो साहित्य, दर्शन, न्याय, विज्ञान, व्याकरण, ज्योतिष आदि विषयों का प्रतिपादन हुआ है। संस्कृत पूर्ण रूप से समृद्ध है, भाषा और साहित्य की दृष्टि से मनुष्य जीवन के चार प्रमुख लक्ष्य– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, सभी के विषय में संस्कृत भाषा में अनेकानेक ग्रन्थ प्रारम्भ से आज तक प्राप्त होते हैं। संस्कृत का वैदिक वाङ्मय ज्ञान-विज्ञान का

खजाना है। अध्यात्म और दर्शन तो संस्कृत भाषा की ही देन है।

वैदिक काल में संस्कृत जन-सामान्य की भाषा थी। आज भी कुछ स्थानों पर यह जन-सामान्य की भाषा है।

संस्कृत भाषा का साहित्य अत्यन्त उच्चकोटि का है। संस्कृत साहित्य ने जिस सभ्यता और संस्कृति को जन्म दिया, वह अक्षय सभ्यता और संस्कृति है। दुनिया की अन्य संस्कृतियों का लय और क्षय हुआ है तथापि भारतीय संस्कृति अक्षय रही है। इसका सारा श्रेय संस्कृत भाषा और साहित्य को जाता है। संस्कृत, संस्कार, संस्कृति, ये सभी शब्द परस्पर गुम्फित हैं। संस्कृत भाषा के अध्ययन से, साहित्य के अध्ययन से हममें संस्कार दृष्टिगत होते हैं।

संस्कृति में भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश होता है। उसमें लोक परम्पराओं का भी समावेश होता है। चिन्तक ज्ञान के और मूल्यों के भी निर्माता होते हैं। संस्कृति का दायरा बहुत ही व्यापक होता है। भारतीय संस्कृति का दायरा पूरे विश्व को और मानव जाति को छूता है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की परिकल्पना मानव जाति के इतिहास में सर्वप्रथम संस्कृत में ही शब्द बद्ध हो चुकी है। संस्कृत ने हमें वैश्विक दृष्टि दी। उसने भ्रातृभाव का निर्माण किय। विचार भाषा को महान बनाते हैं और भाषा विचारों को लोगों तक पहँचाती है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने कहा है कि:-

"भारतीय संस्कृति का प्राण आध्यात्मिक भावना है। त्याग से अनुप्राणित, तपस्या से पोषित तथा तपोवन में संवर्धित भारतीय संस्कृति का रमणीय आध्यात्मिक रूप संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में अपनी सुन्दर झाँकी दिखलाता हुआ सहृदयों के हृदय को बरबस खींचता है। (संस्कृत साहित्य का इतिहास)

संस्कृत में अध्यात्म पर जितनी गहराई से चिन्तन हुआ है, उतने ही गहन रूप से काव्य, नाट्य और अलंकार शास्त्र पर भी विचार हुआ है। विश्वनाथ ने काव्य की व्याख्या कितनी सहजता और सुन्दरता से की है, यह सुविदित है– वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। अर्थात् रसात्मकता ही काव्य का सार है। भारतीय साहित्य शास्त्र में रससिद्धान्त का बहुत महत्त्व है। काव्य नव रस का प्याला होता है। संस्कृत काव्य मधुमक्खी की पेटिका है। जिस प्रकार मधुमक्खी पेटिका से शहद की बूँदें टपकती हैं, उसी प्रकार संस्कृत काव्यों से रसों की सहस्र धारा बहती है। श्रंगार रस को रसों का राजा माना जाता है। कालिदास और जयदेव के काव्य पढ़ने पर इस बात का हमें अनुभव होता है।

संस्कृत साहित्य का विचार-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों ही समृद्ध हैं। उसका दार्शनिक अंग गहन है। उपनिषदों ने तो संसार के अनेक कवियों और दार्शनिकों की प्रतिभा को नवोन्मेषशालिनी बनाया। राजनीति से सम्बद्ध विचार भी संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में हैं। महाभारत, राजधर्म को परिभाषित करता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वास्तव में राजनीतिशास्त्र ही है। भारतीय राजनीति, न्याय से जुडी हुई है, सत्ता से नहीं। सत्ता न्याय के लिए होती है। 'पंचतन्त्र' की कहानियाँ राजकुमारों को राजनीति का पाठ पढाने के लिए लिखी गईं थीं।

संस्कृत कवि नीतिशास्त्र के पक्षधर थे। भर्तृहरि का नीतिशास्त्र इसका एक अच्छा उदाहरण है। इसमें एक स्थान पर कवि कहता है कि:-

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाकपटुता युधि विक्रमः।

यशसि चाभिरुचिर्व्यसन श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।

अर्थात् विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य में नम्रता, सभा-भवन में बोलने की निपुणता, युद्ध में शौर्य, यश में इच्छा, वेदों में अर्थात् अध्ययन में व्यसन, ये महात्माओं की स्वभावसिद्ध बातें हैं।

महाकवि कालिदास की विश्वप्रसिद्ध रचना 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के चौथे अंक के प्रमुख चार श्लोकों तथा समस्त रचनाओं में भारतीय संस्कृति पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होती है।

वैदिक काल से लेकर आज तक जो भी ग्रन्थ लिखे गए या लिखे जा रहे हैं, उनमें पूर्ण रूप से संस्कृत भाषा तथा भारतीय संस्कृति का नितान्त सुन्दर रूप देखने को मिलता है। पर्यावरण के प्रति जो सजगता संस्कृत साहित्य में प्रारम्भ से ही देखने को मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वृक्ष, पशु-पक्षी, नदियाँ पर्वत, मानव सभी में, जीव की परिकल्पना कर, सभी के रक्षण की बात जो इस संस्कृति में है, वह विश्व, आज विश्वगुरु भारत से सीख रहा है। संस्कृत भाषा के साहित्य में विश्व भर की समस्त समस्याओं का समाधान उपलब्ध है। संस्कृत भाषा तथा संस्कृति का अनुसरण कर लोक सदैव सुखी, शांत और प्रगतिशील रह सकता है।

वैदिक साहित्य में भाषा एवं संस्कृति

डॉ॰ मधु कुमारी
असिस्टेंट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग, सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर, बिहार

शोध सार

वैदिक शब्द वेद विषयक बहुविध ज्ञान-सामग्री का द्योतक है। ये वेद विषयक सामग्री हीं संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं षड्वेदांग हैं। इन सभी की भाषा संस्कृत है, जिसे अपनी अलग पहचान के अनुसार वैदिक संस्कृत कहा जाता है। वेद से तात्पर्य संहिता भाग हैं और ये हीं मन्त्र-भाग हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य रूप में कर्म-काण्डों के पीछे के उद्देश्यों की विवेचना करता है तथा उपनिषद् परमात्मा-ब्रह्मं और आत्मा के स्वभाव एवं सम्बन्ध का ज्ञानपूर्वक दार्शनिक विवेचन करता है। इतिहासकारों का मानना है कि आर्यों की बोलियों में कलात्मकता के लिए जिस साहित्यिक भाषा का निर्माण हुआ और जिस भाषा में स्तुतिपरक कविताओं का निर्माण हुआ, उसी का संकलन वैदिक-संहिताओं में है। वैदिक काल में काव्यमयी साहित्यिक भाषा 'साधु' भाषा के नाम से जानी गई एवं तत्कालीन समाज में अध्ययन-अध्यापन भी इसी भाषा में हुए। ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिस गद्यात्मक-भाषा का प्रयोग किया गया, वह वास्तव में तत्कालीन विद्वत्समाज के बोल-चाल की भाषा थी, जो जनसामान्य की बोली से हट कर पण्डित-समाज तक हीं सिमटी रही। आरण्यक ग्रन्थों एवं सूत्र-ग्रन्थों की भाषा पर यह प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगा परिणाम यह हुआ कि जनसामान्य एवं साहित्यिक-भाषा के बीच बहुत अधिक अंतर आ गया। इसका प्रभाव व्याकरण पर भी व्यापक रूप से पड़ा। बाद में आचार्य पाणिनि द्वारा भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में एक नए युग

का सूत्रपात हुआ, जो लौकिक साहित्य के नाम से जाना गया।

जहाँ तक संस्कृति का प्रश्न है वैदिक-संस्कृति ने युगों-युगों से इस महान एवं बृहद् राष्ट्र की भावनात्मक-एकता को सुरक्षित बनाये रखा है। भारतीय संस्कृति का मूल वेद है और वैदिक-संस्कृति में समस्त मानव के कल्याण, उन्नति, सौहार्द्र-भाव, भ्रातृ-भावना तथा सहयोग एवं एकता के भाव व्यक्त किए गए हैं। कुल मिलाकर हमारी वैदिक-संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को व्यक्त करती है।

कूट शब्द- संहिता, कर्मकाण्डों, साधु, साहित्यिक, भावनात्मक एकता, भ्रातृ-भावना, वसुधैव-कुटुम्बकम्।

विषय प्रवेश:-

संस्कृत स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा थी। वह बहुत अंशों में आज भी हमारी धार्मिक भाषा बनी हुई है। सच्चाई से देखा जाए तो हमारे सांस्कृतिक विचारों की भाषा संस्कृत ही है। इसी भाषा से हमारी आज की भाषाएँ निकली है। आज अपने ज्ञान की आवश्यकताओं को पूरा करके फिर हम संस्कृत के द्वार पर आए हैं।1 संस्कृत में भारत की आत्मा सन्निहित है। विगत् छः सात सहस्त्राब्दियों से भारत के जनमानस और चिंतन की अभिव्यक्ति के रूप में संस्कृत जीवित रही है। कुछ लोग इसे मृतभाषा के रूप में संबोधित करते हैं किंतु सच तो यह है कि ऐसा कोई भी भारतीय नहीं, जिसकी जिह्वा पर संस्कृत के शब्द नृत्य न करते हों। संस्कृत जनवाणी के रूप में आद्दत है। यह भारत के कल्याण की वाणी है। जब भारत के गौरव की बात करते हैं तो हम कहते हैं कि भारत की दो प्रतिष्ठाएँ हैं एक संस्कृत और दूसरी संस्कृति। इन दोनों के मूल में संस्कार है और संस्कृत हमारे संस्कार की भाषा है।

संस्कृत भारत का इतिहास है। देश के नैतिक और सांस्कृतिक उत्कर्ष का लेखा-जोखा संस्कृत है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त संस्कृत आयोग का

अभिमत है- भारतीय शब्द और भारतीय संस्कृति- संस्कृत के उत्संग में उत्पन्न हुई है। संस्कृत ने भारतीय जनमानस के ऐतिहासिक विकास में तथा उसके चिंतन और सांस्कृतिक सम्पोषण में ऐसी अभिव्यक्ति प्रदान की हो जो आज भी भारत के लिए ही नहीं अपितु समग्र विश्व के लिए अनमोल अवदान है। दार्शनिक ज्ञान और मानवीय अभिनिवेश को लेकर विभिन्न ऐतिहासिक कालों और विभिन्न प्रवाहों में विकसित हुई है।

किसी भी देश अथवा समाज का परिचय उसकी भाषा से होता है। भारत तथा भारतीय समाज की विलक्षणता संस्कृत में निहित है क्योंकि संस्कृत में ऐसे स्थायी मानवीय तत्त्वों की अभिव्यक्ति हुई है, जो सार्वकालिक है और जहाँ ऐसा वाग् अमृत प्राप्त है, जिसमें जनमानस नित-नित आप्लावित और आह्लादित है। भाषिक सम्प्रेषण में सांस्कृतिक सम्पदाएँ मुख्य होती है और उनके आधार पर ही किसी भाषा का स्थायित्व निर्भर करता है। संस्कृत भाषा जीवित भाषा के रूप में सब समय गतिशील रही है। भाषा नित परिवर्त्तनशील है। संस्कृत भाषा चक्र में बहुकालिक रूप विद्यमान है जबकि वेद में मूल भाषिक तत्त्व सुरक्षित है। विभिन्न चिंतन गोष्ठियों और विभिन्न भाषा-भाषी सम्प्रदायों के सम्पर्क के फलस्वरूप संस्कृत के सभी भाषिक रूपों तथा ध्वनियों द्वारा शब्द रूपों तथा वाक्य विन्यासों में सामयिक परिवर्त्तन देखे जाते हैं।

वैदिक संस्कृत को वैदिक, वैदिकी, छन्दस, छान्दस भी कहा जाता है। ऋग्वेद छन्दोबद्ध है, अतः उसे 'छन्दरस' कहा जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में गद्य अंश भी है; इससे प्राचीन गद्य का स्वरूप ज्ञात होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी गद्य में है, इनसे प्रचलित भाषा का स्वरूप ज्ञात होता है। एक समय में वैदिक संस्कृत जनभाषा के रूप में प्रचलित थी। यह मुख्य रूप से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में प्रयुक्त होती थी। अतः समस्त प्राचीनतम 'सांस्कृतिक वाङमय' वैदिक संस्कृत में मिलता है। इसके साथ

ही लोकभाषाएँ भी प्रचलित रही होगी, उनसे संस्कृत के विभिन्न रूप प्रचलित हुए। पाणिनी आदि ने इनको प्राचाम् (पूर्वी) उदीयाम् (उत्तरी) आदि कहकर स्पष्ट किया है। संस्कृत के इन विभिन्न रूपों में विभिन्न प्राकृतों अपभ्रंशों का विकास और अन्त में हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ।'

लौकिक संस्कृत को प्रायः संस्कृत ही कहा गया है। संस्कृत का सबसे प्राचीन एवं आदिकाव्य वाल्मीकि कृत रामायण 500 ई॰ पू॰ का है। महाभारत, पुराण, काव्य, नाटक आदि ग्रन्थ 500 ई॰पू॰ से आज तक अविच्छिन्न रूप से अपना गौरव स्थापित किए हुए है। यास्क; कात्यायन पतंजलि आदि के लेखो से सिद्ध है कि ई॰ पूर्व तक संस्कृत लोक व्यवहार की भाषा थी। संस्कृत साहित्य आर्य जाति का प्राण है। संस्कृत से ही समस्त प्राचीन ज्ञान, विज्ञान, कला, पुराण काव्य नाटकादि हैं। संस्कृत ने न केवल भारतीय भाषाओं को अनुप्राणित किया है अपितु विश्व भाषाओं मुख्यतय भारोपीय भाषों को भी प्रभावित किया है। वैदिक संस्कृत का विकसित रूप लौकिक संस्कृत है। वैदिक संस्कृत में जो विविधता और अनेक रूपता पाई जाती थी, वह संस्कृत में न्यून हो गई। पाणिनी के व्याकरण का प्रभाव बहुत बढ़ गया। फलस्वरूप पाणिनी व्याकरण से प्रसिद्ध रूपों का प्रचलन कम हो गया। शब्दादि में संक्षेप और परिष्कार आ गया अपवाद नियमों की संख्या कम हो गई।

ईसा पूर्व तक संस्कृत जनभाषा और लोक व्यवहार की भाषा थी। इनके दो रूप थे- 1. साहित्यिक एवं 2. जनभाषा। साहित्यिक भाषा में परिवर्तन बहुत कम होते थे परन्तु जनभाषा वाली संस्कृत स्वभाविक रूप में प्रचलित थी। इसमें ध्वनिभेद, शब्दभेद आदि प्रचुर मात्रा में चलते रहे। महाभाष्यकार पतंजलि के कथन से भी यह स्पष्ट होता है।

यर्वाण स्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवु। यद् वा नः तद् वा नः'5- इससे

या उससे क्या, के स्थान पर यर्वाणः, तर्वाणः बोलने के कारण इन ऋषियों का नाम ही यर्वाण, तर्वाण हो गया। यज्ञादि में ऐसा अशुद्ध प्रयोग नहीं करते थे। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत बोलचाल के रूप में भी प्रचलित था। जनभाषा में परिनिष्ठता नहीं थी। यही संस्कृत भाषा विकसित होते हुए प्राकृतों के रूप में प्रसिद्ध हुई। यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि भाषा में 90 प्रतिशत नए शब्द विद्वानों द्वारा सर्वप्रथम निर्मित या प्रयुक्त होते हैं, इनको जनभाषा में अपनाया जाता है। 5 या 10 प्रतिशत देशज शब्द होते हैं, इनको साहित्यिक भाषा में परिष्कृत करके समाविष्ट किया जाता है। इस प्रकार संस्कृत शब्दों का विकृतिकरण या सरलीकरण निरंतर चलता रहता है। जन व्यवहृत भाषा का साहित्यिक रूप संस्कृत कहा गया और बोलचाल की संस्कृत का नाम प्राकृत रहा। इसी आधार पर प्राकृत के सभी वैयाकरणों ने संस्कृत को आधार मानकर ध्वनि परिवर्त्तनों को समझाए हैं। नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने भी माना है कि संस्कृत भाषा के शब्दों का ही विकृत एवं परिवर्तित रूप प्राकृत भाषा है।[6]

वैदिक भाषा अपने काल की जनभाषा थी। वैदिक संस्कृत की कई विभाषाएँ ऋग्वेद काल की भाषा में देखी जा सकती है। अनार्यों के सम्पर्क से वैदिक भाषा में उच्चारण सम्बन्धी विकार आये होंगे यही नहीं आर्यों की भाषा ने अनार्य भाषाओं से शब्द सम्पत्ति लेकर अपना कोश भरा-पूरा बनाया पर उसका ढाँचा, उसका पद विधान वही रहा। इधर वैदिक भाषा की जटिल पद रचना भावों के आदान-प्रदान के लिए उपयुक्त भाषा के रूप में शिथिल होने लगी। इसी काल में मंत्रों की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए प्रातिशाख्यों की रचना हुई। प्रातिशाख्यों ने वैदिक भाषा के उच्चारण तत्त्व पर विशेष ध्यान दिया, पर उसमें पदविज्ञान संबंधी यथावश्यक संकेत भी मिल जाता है। इसी समय वैदिक भाषा का एक रूप ऐसा दिखाई पड़ता है, जिसे साहित्यिक संस्कृत के नजदीक माना जा सकता है। कठ्, मुण्डक और श्वेताश्वतर उपनिषदों में ऐसे अनेक मंत्र भाग

हैं, जो महाभारत और रामायण के श्लोकों की भाषा के परवर्ती रूप का संकेत करते हैं। इसी काल में पांचाल ब्रह्मर्षि देश तथा अन्तर्वेद की भाषा, उदीच्य भाषा को आधार बनाकर एक शुद्ध व्याकरण सम्मत भाषा का रूप चल पड़ा1 यास्क के समय में ही वैदिक भाषा दुर्बोध हो गई थी। यास्क 800 ई०पू० के बाद और पाणिनी 600 ई०पू० से पहले कुछ वैयाकरणों ने उदीच्च भाषा को संस्कृत रूप देने का कार्य प्रारंभ किया होगा ऐसा ज्ञात होता है। पाणिनी ने स्वयं शाकल्य, शाकटायन, स्फोटायन जैसे पूर्व आचार्यों का उल्लेख किया है। विद्वानों ने ऐन्द्र व्याकरण को पाणिनी से भी पूर्व का माना है किन्तु पाणिनी ही सबसे पहले वैयाकरण थे, जिन्होंने अपने काल की भाषा को संस्कृत रूप देने का वैज्ञानिक भार उठाया और चार हजार सूत्रों की छोटी सी अष्टाध्यायी में संस्कृत भाषा को नियमबद्ध किया।

संस्कृत भाषा निश्चित रूप से उस काल के बाद कई सदियों तक उच्च, मध्यवर्ग तथा अभिजात वर्ग की भाषा रही है। यद्यपि पाणिनीय संस्कृत भाषा कभी भी जनभाषा नहीं रही है तथापि वह ईसा से कई सदियों तक पूर्व से लेकर बारहवीं सदी तक राज्यभाषा रही है।7 बारहवीं सदी तक संस्कृत शिलालेखों, ताम्रपत्रों की भाषा होने के साथ राजदरबारों की भाषा भी थी।

गुप्त काल तथा हर्ष के समय इसका प्रयोग दरबार की बोलचाल की भाषा के रूप में होता था और राजमहिषियां आदि इसे समझती थी। बारहवीं सदी के बाद एक ओर देश भाषाओं की बढ़ती साहित्यिक समृद्धि दूसरी ओर संस्कृत को राज्याश्रय न मिलने और तीसरी ओर भावी साहित्य के रूढ़िवादी होने से संस्कृत को एक ओर हटा दी गई। वैसे इसके बाद भी वह दार्शनिक, वैयाकरणों और प्रबन्धकारों आदि लेखकों की भाषा बनी रही, उसमें फिर भी काव्य रचनाएँ होती रही और किसी सीमा तक

भारतीय संस्कृति की पुरातन प्रियता ने उसे सुरक्षित रखा। पिछले 2600 वर्षों से संस्कृत जनभाषा के रूप में नहीं मानी जा सकती है पर इतना होते हुए भी संस्कृत भाषा वह फौलादी नींव है, जिस पर भारतीय संस्कृति और साहित्य की अट्टालिका खड़ी होकर आकाश को अपनी गुरुता और महत्ता को चुनौती दे रही है।

बीते समय में जितना राष्ट्र का हित संस्कृत से हुआ, उससे भी अधिक हित आनेवाले समय में उसके द्वारा होने वाला है। हमारे साहित्य के विकास की बागडोर संस्कृत से प्राप्त होने वाली शब्दावली के हाथों में है। विज्ञान, कला, संस्कृति और साहित्य सभी के विकास के लिए संस्कृत भाषा कामधेनु के समान होगी। अतएव पाठ्य प्रणाली में संस्कृत को अवश्य स्थान दिया जाना चाहिए वरना वह अधूरी रहेगी। दसवीं कक्षा तक के विद्यार्थियों को यदि विद्यालय में सरल-सुबोध ढंग से संस्कृत की शिक्षा दे दी जाए तो जीवन भर के लिए भाषा विषयक ज्ञान की नींव पक्की हो जाएगी। संस्कृत और अन्य भाषाओं के पारस्परिक संबंध और सापेक्षिक महत्व को गांधी जी ने इन कलात्मक शब्दों में व्यक्त किया था-''संस्कृत हमारी भाषाओं के लिए गंगा-जल है। उसके बिना भाषाएँ निर्माल्य हो जाएगी।''[8]

संस्कृति शब्द संस्कृत से निष्पन्न है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से संस्कृति शब्द बनता है। 'समस्त सीखा हुआ व्यवहार ही संस्कृति है।'[9] कहने का तात्पर्य है कि मनुष्य ने धर्म, आचार-विचार और रहन-सहन आदि की जिन मान्यताओं को परम्परा से अर्जित एवं निर्धारित किया है, वे ही संस्कृति के मूल उपादान या तत्त्व है। ये उपादान या तत्त्व सदाशय और सनातन हैं। इन उपादानों को किसी भी प्रकार की देश-काल की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता है। संस्कृति के मूल तत्त्व हैं-सदाचार, सद्बुद्धि, सद्विवेक और सद्गुण आदि। इन्हें ही हमारे यहाँ 'आदर्श' कहा गया है।

संस्कृति का संबंध नैतिकता से भी है। शुद्धाचरण ही नैतिकता है। इससे मनुष्य का जीवन उन्नत होता है। शिक्षा, दीक्षा, रहन-सहन, परम्पराएँ एवं प्रथाएँ सब संस्कृति की ही देन है। संस्कृति किसी देश या राष्ट्र का प्राण है। किसी व्यक्ति, जाति या राष्ट्र का प्रतिनिधित्व संस्कृति ही करती है क्योंकि उसमें व्यक्तियों, जातियों और राष्ट्रों की अन्तश्चेतना समाहित होती है। आचार-विचार, शासन, शिक्षा, धर्म और साहित्य आदि उस अन्तश्चेतना के उपादान हैं। मानव जीवन के जो संस्कार एवं परिष्कार हैं, जिससे मानवता का निर्माण हुआ है, वे ही संस्कृति के मूल उपादान हैं। चरित्र को उन्नत बनाने की शिक्षा आचार प्रधान धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में किया गया है, जिससे जीवन को संस्कृत और परिष्कृत बनाया जा सके।

भारतीय संस्कृति को विशिष्टता उसके सुदृढ़ और व्यापक आधार स्तम्भ के कारण ही प्राप्त हुई है, अकारण प्राप्त नहीं हुई है। इसके वाहक और सूचक हैं वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, काव्य और नाटकादि। हमारे भारतीय जन-जीवन में कुछ ऐसी बातें देखने को मिलती है, जो संसार में अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। उदाहरण के लिए बौद्धों के 'अहिंसावाद' एवं जैनों के 'जीवदयावाद' को वैष्णव धर्मानुयायियों ने पूरी तरह से अपनाया, जबकि एशिया के अन्य देशों में बौद्ध धर्मानुयायियों ने उसको ग्रहण नहीं किया। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में जिस अनेकता की बात कही जाती है, वह वस्तुतः उसकी उदारता एवं महानता है जो परम्परा या यूँ कहें विरासत रूप से प्राप्त हुई है।

संस्कृति शाश्वत एवं सनातन है। विश्व की प्रत्येक जाति तथा राष्ट्र की संस्कृति की अपनी अलग-आत्मा होती है। जो संस्कृति का बीज कहलाती है। और वह प्रवाह रूप में नित्य बना रहता है। वृक्ष सूख जाता है किन्तु उसका बीज अनुकूल समय पाकर फिर उग जाता है। इसी प्रकार जातियाँ

तथा राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं, किन्तु उनकी संस्कृति उनके बाद भी बनी रहती है। यद्यपि प्रत्येक संस्कृति के विकास में देश, काल और परिस्थितियाँ एकमात्र कारण रही है, फिर भी संस्कृति के जो शाश्वत मूल्य और सार्वजनीन मान्यताएँ हैं, वे सभी युगों और परिस्थतियों में एक जैसे बने रहे और उन्हीं के द्वारा संस्कृति का निरन्तर विकास होता रहा। संस्कृति का यह विकास आध्यात्मिक और आधिभौतिक इन दो रूपों में हुआ। इसमें आध्यात्मिक संस्कृति का सम्बन्ध आन्तरिक और भौतिक संस्कृति का सम्बन्ध बाह्य जगत् से होता है। संस्कृति के स्वरूप का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उसका सम्बन्ध किसी युग विशेष या व्यक्ति विशेष से न होकर मानव की अन्तःचेतना में हुआ है। संस्कृति का सृजन करने वाले अन्तःश्चेतना मानसिक तथा बौद्धिक तत्त्वों में शाश्वत समानता एवं एक रूपता होती है। संस्कृति में सत्य, शिव और सुन्दर की एकानुभूति का आधार भी यही है। सत्य, शिव एवं सुन्दर (सत्यं शिवं सुन्दरम्) मानव चेतना को संस्कृत करने वाले तत्त्व हैं। दर्शन में हमें उनके सत्य स्वरूप का, नीति में शिव स्वरूप का और कला में सुन्दर स्वरूप का दर्शन होता है और इन तीनों का समाहार संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति वस्तुतः वैदिक संस्कृति का ही विकसित रूप है। वैदिक संस्कृति में वैदिकों के अलावे अवैदिकों का भी बुद्धि, साहस, आचार और धर्म का समन्वय है। इन्हीं समन्वयात्मक आदर्शों का समावेश हिन्दू संस्कृति में देखने को मिलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है- ''हे मनुष्यों! तुम परस्पर मिलकर रहो। एक साथ स्तोत्र पाठ करो। तुम सबका मन एक समान हो। जैसे देवता एक साथ होकर अविरोध भाव से, अपना हवि भोग ग्रहण करते हैं, वैसे ही तुमलोग भी एक साथ होकर अपना प्राप्य ग्रहण करो-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते।।''[10]

उपर्युक्त ऋचा में अभिव्यक्त समानता और समान वितरण की भावना विद्यमान है। इससे वैदिक युग के आदर्श एवं सामाजिक जीवन का पता लगता है। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में पुरोहित यजमान को सम्बोधित करते हुए कहता है -

तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, हृदय एक हो, मन एक हो तुमलोग एक साथ मिलकर रहो।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। [11]

वैदिक संस्कृति का महत्व इससे और बढ़ जाता है कि इसमें व्यापक विश्वजनीन भ्रातृ भावना की कल्पना के साथ-साथ पारस्परिक सौहार्द्र का भाव व्यक्त किया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि पारस्परिक सहयोग तथा सहायता करना मानवता का प्रथम कर्त्तव्य है।12 ऋग्वैदिक ऋषियों की यह धारणा है कि जो अकेले खाता है वह पापी है- केवलघो भवति केवलाघी अपूर्व आदर्श का द्योतक है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की उदात्त विचारधारा भारतीय संस्कृति के आत्म तत्व को प्रतिबिम्बित करता है।

इसी प्रकार अथर्ववेद के एक मंत्र में वर्णित है- ''यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि।''14 यहाँ यह भावना व्यक्त की गई है कि- 'हे प्रभो! मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्यमात्र के प्रति चाहे मैं जानता हूँ या नहीं सद्भावना रख सकूँ।' इसी प्रकार अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि ''आओ, हमसब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भाव का विस्तार हो -

''तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।''[15]

समस्त मानवता में पारस्परिक मैत्री-भावना की कामना यजुर्वेद[16] में भी की गई है।

वेदों के इन सन्दर्भों को देखकर वैदिक युग की भ्रातृत्व-भावना का सहज हीं पता लग जाता है। उपरोक्त सन्दर्भों के अतिरिक्त अथर्ववेद में पारस्परिक सहयोग और सद्भाव के अनेक सन्दर्भ देखे जा सकते हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि श्रेष्ठत्व प्राप्त कर एक साथ मिलकर रहो। एक साथ मिलकर वहन करो परस्पर मधुर शब्दों का प्रयोग करते हुए प्रेमपूर्वक मिलकर रहो।[17] अथर्ववेद में एक अन्य स्थल पर कहा गया है- ''शतहस्तं समाहर सहस्रहस्त संकिर''।[18] अर्थात् सौ हाथों से संचय करो और सहस्त्रहाथों से उसका वितरण करो। यजुर्वेद में आत्मरक्षा के लिए संगठन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। कहा गया है कि संगठित रहने से कोई अपकार नहीं कर सकता- 'अनाधृष्टाः सीदत महौजसः''[19] इसके अतिरिक्त श्रेष्ठता हीनता तथा उच्चता-नीचता की विषमताएँ उत्पन्न न हों इसलिए भी वैदिक संस्कृति में राष्ट्रीय जीवन में समानता तथा एकता की भावना को महत्व दिया गया है। ईशावाष्योपनिषद् का प्रथम मंत्र में ही व्यक्तिगत स्वत्व एवं अधिकार से उत्पन्न होने वाले वैषम्य को दूर करने की बात कही गई है -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य।।[20]

वैदिक संस्कृति की यह समष्टिमय लोकहितकारी भावना सामवेद के स्वस्तिवाचन में परिपूर्णता को व्याप्त हुई, जिसमें इन्द्र, सूर्य, विष्णु और वृहस्पति से सर्वतः समस्त मानवता के प्रति कल्याण की कामना की गयी है-

स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति न पूजाः विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।[21]

निष्कर्षः-

वैदिक संस्कृति की मानववादी विचारधारा अपना विशेष महत्त्व रखती है। यही कारण है कि समय-समय पर विजातियों की जो भी विचारधारा उसके सम्पर्क में आयी उसी को उसने अविरोध ही अपने में समा लिया। निश्चय ही वैदिक संस्कृति उदार तथा उदात्त होने के साथ जीवन्त भी है। उसकी ये विशेषताएँ उसके समन्वयवादी दृष्टिकोण में देखने को मिलती है। इतना ही नहीं इसमें मानव मात्र के योग क्षेम की मंगलमयी भावना इसमें विद्यमान है। यह सनातन सांस्कृतिक धारा अपने प्रकृत एवं नैतिक नियमों से आबद्ध होकर सदैव प्रवाहमान है। आज भी उसमें सदाशयता 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना विद्यमान है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची:-

1. हनुमान प्रसाद शुक्ल, राष्ट्र, धर्म और संस्कृति, वासुदेव शरण अग्रवाल कोचयन, पृ॰ 206
2. शुक्ल यजुर्वेद (26.2)
   यथेमां वाचं कल्याणी भावदानि जनेभ्यः।
   ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्चाय च स्वाय चारणाय।
3. डॉ॰ कपिल द्विवेदी, भाषा विज्ञान एवं भाष शास्त्र, पृ॰-458
4. डॉ॰ कपिल द्विवेदी, संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ॰- 4 से 10
5. महाभाष्य, अध्याय-1
6. भरतकृत नाट्यशास्त्र, भाषानिधामाध्या, 17.2
7. डॉ॰ भोला शंकर व्यास, संस्कृत कवि दर्शन, पृ॰-8
8. हनुमान प्रसाद शुक्ल, राष्ट्र; धर्म और संस्कृति, पृ॰- 211 से उद्धृत
9. वाचस्पति गैरोला, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ॰-213

10. ऋग्वेद, 10.191.2
11. ऋग्वेद 10.191.4
12. ऋग्वेद 6.75.14
13. ऋग्वेद 10.177.6
14. अथर्ववेद 17.1.7
15. अथर्ववेद 3.304
16. यजुर्वेद 36.18
17. अथर्ववेद 3.6.30
18. अथर्ववेद 3.24.5
19. यजुर्वेद 10.4
20. ईशावास्योपनिषद्
21. सामवेद, 21.1.9

आयुर्वेदस्य भाषा एवम् संस्कृतिः

वैद्य सौ. मृदुला विनायक जोशी
एम्.डी., पीएच्.डी. (आयुर्वेद)
संस्कृत विशारद (व्याकरण), संस्कृत पारंगत (आयु. दर्शन)
प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष
संस्कृत-संहिता - सिद्धान्त विभाग
डॉ. डी. वाय. पाटील आयुर्वेद कॉलेज व संशोधन केंद्र, पिंपरी, पुणे
डॉ. डी. वाय. पाटील विद्यापीठ (अभिमत विद्यापीठ), पुणे

शोधसारः-

धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलसाधनम्। लोकानां श्रेयः साधनतया सर्वोपजीव्यं यद् विज्ञानरत्नम् तदेव आयुर्वेदविज्ञानम्। आयुरनेन विद्यते ज्ञायते विन्दते इत्यायुर्वेदः। आयुर्वेदस्य उपवेदत्वम् वेदत्वम् स्वतंत्र दर्शनत्वऽपि स्वीकृतम् पूर्वाचार्यैः। अतः सर्वपारिषदमिदं शास्त्रं इति चरक संहितायाः भाष्यकारस्य चक्रपाणेः कथनम् सत्यमेव। आयुर्वेदः शास्त्रं तथा आत्मादिविज्ञानकथनात् विज्ञानं भवति। त्रिसूत्रात्मकं आयुर्वेदस्य ज्ञानं स्वस्थातुरहितपरायणम् भवति। प्रयोजनं चास्य शास्त्रस्य-स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं, आतुरस्य विकारप्रशमनम्। स्वस्थ शब्दाभिनिर्दिष्टाः सर्वे दिनचर्या, रात्रिचर्या ऋतुचर्या, सद्वृत्तम् तथा आहार-निद्रा- ब्रह्मचर्यारूपं त्रयोपस्तम्भं पालयेयुः तर्हि तेषा स्वास्थ्यम् भवेत्। सर्वेण सर्वं सर्वदा सद्वृत्तमनुष्ठेयम् तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति। आयुर्वेदे त्रिदोषसिद्धान्तः पंचमहाभूत सिद्धान्तः लोकपुरुषसाम्य-सिद्धान्तः एवं कतिचित् सिद्धान्ताः व्याख्याता भवन्ति। जीवो ब्रह्मैव इति ज्ञानं वैद्यस्य तथा रोगिणः कृतेऽपि भवरोगनाशनार्थ अत्यंत महत्त्वपूर्णम्। अद्यतने काले ये विकाराः आविर्भवन्ति ते सर्वे जीवनशैलेः अनुचितात्

प्रयोगात् विपर्यासाद्वा भवन्ति। तस्मात् सर्वैरेव जनैः आयुर्वेदं जीवनशैलीरूपेण अनुष्ठेयम्। आयुर्वेदस्य अनुष्ठानात् सर्वैरपि आरोग्यं प्राप्नुवन् विकाराणाम् अपाकरणं विधेयम्। आयुर्वेदस्य सर्वेरेव मूलग्रन्थाः संस्कृतभाषासु वर्तन्ते। तस्मात् मम भाषा आयुर्वेद भाषा। मम संस्कृतिः भारतीय संस्कृतिः आयुर्वेद संस्कृतिरेव।

मुख्यशब्दाः- आयुर्वेद, स्वास्थ्य, विज्ञान, जीवनशैली, दिनचर्या

प्रस्तावनाः-

धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलसाधनम्। उक्तं हि चरकसंहितायाम्। लोकानां श्रेयः साधनतया हिताहितेषु तथा सुखासुखेषु विविधेषु ज्ञान-विज्ञानप्रभेदेषु सर्वोपजीव्यं यद् विज्ञानरत्नम् तदेव आयुर्वेदविज्ञानम्। आयुषो वेदः आयुर्वेदः। आयुरनेन विद्यते ज्ञायते विन्दते इत्यायुर्वेदः। इह खल्वायुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गम् अथर्ववेदस्य इति वचनम् सुश्रुताचार्यस्य तथाच आत्रेयाऽचार्योऽपि चतुर्णाम् वेदानामथर्ववेदे भक्तिरादेश्या इति निर्दिशति। काश्यपसंहितायां तु अथर्ववेदानन्तरं उपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः ... पञ्चमोऽयमायुर्वेदः एवं आयुर्वेदस्य वेदत्वम्।

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिष्टः अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च। आयुर्वेदस्य स्वतंत्र दर्शनत्वऽपि स्वीकृतम् पूर्वाचार्यैः। प्रसिद्धैः दर्शनैः चास्य तुलनाऽपि प्रस्तुता। वैशेषिकदर्शनोक्त द्रव्यादि षट्पदार्थाः प्रमाणश्च आयुर्वेद सम्मताः। आयुर्वेदवादमार्गेषूक्ताः पदार्थाः न्यायशास्त्रोक्त पदार्थैः समानाः। यद्यपि चरकोक्तं सांख्यतत्त्वज्ञानं तत्त्वसंख्याविषये तथा तेषा नामकरणविषये किंचिद् भिन्नं तथापि सुश्रुतोक्तं व्याख्यानम् ईश्वरकृष्णप्रदिष्ट सांख्यादभिन्नमेव। मुमुक्षूणां साधनानि विवक्षता चरके जीवो ब्रह्मैव इति वेदान्तिनः अद्वैत सिद्धान्तः, जीवन्मुक्तस्य अवस्था वर्णनावसरे आत्मस्थ मनसि स्थिरे एवं योगशास्त्र, परलोकप्रतिपादन-सद्वृत्तोपदेश-कर्मज रोग-कालाकालमृत्यु-

जनपदोद्धंस-ग्रहबाधादि प्रसङ्गे, आत्मनः विविधासु योनिषु संसरणे च कर्म एव हेतुः इति प्रतिपादनात् मीमांसामतमपि आयुर्वेदेनानुसृतम्। इतरदर्शनैः साम्यसद्भावेऽपि किंचिद् अदृष्टपूर्वमायुर्वेदशास्त्रे स्वातन्त्र्यं वैशिष्ट्यमपि च वर्तते। अतः सर्वपारिषदमिदं शास्त्रं इति चरक संहितायाः भाष्यकारस्य चक्रपाणेः कथनम् सत्यमेव।

स्वास्थ्यविज्ञानम्:-

आयुर्वेदः शास्त्रं तथा योगाभ्याससमाधिना परमात्मस्वरूपकथनात् आत्मादिविज्ञानकथनात् विज्ञानं भवति। कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्रावृषान् अष्टावङ्गानि। हेतूलिङ्गऔषधज्ञानात्मकं त्रिसूत्रात्मकं आयुर्वेदस्य ज्ञानं स्वस्थातुरहितपरायणम् भवति। प्रयोजनं चास्य शास्त्रस्य-स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं, आतुरस्य विकारप्रशमनम्। आयुः स्वरूपस्य तस्य चतुर्विधरूपस्य, आयुषः हिताहितद्रव्यगुणकर्मणां प्राकृतवैकृतरूपस्य च आयुषः प्रतिपादनम् अत्र विशदरूपेण प्राप्यते। समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः प्रसन्नत्मेन्द्रियमनाः ये जनाः ते स्वस्थ शब्दाभिनिर्दिष्टाः। यदि ते वैयक्तिक स्वस्थवृत्त-दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्तम् तथा आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्यारूपं त्रयोपस्तम्भं पालयेयुः तर्हि न तेषामस्वास्थ्यम् भवेत्। एव दिनचर्या कथिता –

1. **ब्राह्मे मूहूर्त उत्तिष्ठेत्:–**

"ब्राह्मे मूहूर्त उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।" (अ.ह.सू. 2)

2. **दन्तधावनः-**

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः।।
अर्कन्यग्रोधखदिरकरञ्जककुभादिजम्।
प्रातर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तकम्॥
कनीन्यग्रसमस्थौल्यं प्रगुणं द्वादशाङ्गुलम्।
भक्षयेद्दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन्॥ (अ ह.सू 2/1-3)

3. **अञ्जन –**

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत्।
चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषात् श्लेष्मतो भयम् ॥ ५ ॥
योजयेत्सप्तरात्रेऽस्मात् स्रावणार्थं रसाञ्जनम्।

(अ ह्र.सू 2/5)

4. **नस्यः-**

ततो नावनगण्डूषधूमताम्बूलभाग्भवेत् ॥

(अ ह्र.सू 2/6)

5. **ताम्बूलः-**

ताम्बूलं क्षतपित्ताम्ररूक्षोत्कुपितचक्षुषाम्।
विषमूर्च्छामदार्तानामपथ्यं शोषिणामपि।। (अ ह्र.सू 2/7)

6. **अभ्यंगः-**

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं, स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥ (अ ह्र.सू 2/8)

7. **व्यायामः-**

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते॥ (अ ह्र.सू 2/10)

8. **उद्वर्तनः-**

उद्वर्तनं कफहर मेदसः प्रविलापनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्।। (अ ह्र.सू 2/15)

9. **स्नानः-**

दीपनंवृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम्।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित्।। (अ ह्र.सू 2/16)

10. **उष्ण-शीत जल प्रयोगः-**

उष्णाम्बुनाऽधः कायस्य परिषेको बलावहः।
तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ॥ (अ ह्र.सू 2/17)

11. **भोजन:-**

जीर्णे हितं मितं चाद्यान्न वेगानीरयेद्वलात्।
न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम्॥ (अ ह्र.सू 2/19)

भगवानात्रेयेणकथितम् - हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति [१]३१

तद्यथा-लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति, मुद्गाः शमीधान्यानाम्, आन्तरिक्षमुदकानां, सैन्धवं लवणानां, जीवन्तीशाकं शाकानाम्, ऐणेयं मृगमांसानां, लावः पक्षिणां, गोधा बिलेशयानां, रोहितो मत्स्यानां, गव्यं सर्पिः सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां, तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानां, वराहवसा आनूपमृगवसानां, चुलुकीवसा मत्स्यवसानां, पाकहंसवसा जलचरविहङ्गवसानां, कुक्कुटवसा विष्किरशकुनिवसानां, अजमेदः शाखादमेदसां, शृङ्गवेरं कन्दानां, मृद्वीका फलानां, शर्करेक्षुविकाराणाम्, इति प्रकृत्यैव हिततमानामाहार विकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति।।३८।।

विकारविघातश्चेहोत्पन्नानामौषधोपयोगेन, तथाऽनुत्पन्नानां स्वास्थ्यपरिपालनेन ज्ञेयः।। ४१।।

12. **सुख प्राप्तिः-**

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्।। (अ ह्र.सू 2/20)

13. **पापकर्म निषेधः-**

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते ॥ २१॥
सम्भिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम्।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥२२॥

(अ ह्र.सू 2/21-22)

सद्वृत्तम्:-

तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्।।१७।।

तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति; तत् सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! तद्यथा- देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपस्पृशेत्, मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्, त्रिःपक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्, साधुवेशः, प्रसिद्धकेशः, मूर्धश्रोत्रघ्राणपादतैलनित्यः, धूमपः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, दुर्गोष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्री दण्डी मौली सोपानत्को युगमात्रदृग्विचरेत्, मङ्गलाचारशीलः, मेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपालस्नानबलिभूमीनां परिहर्ता, प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात्, सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्, क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसन्धः, सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता च।। १८।। नानृतं ब्रूयात्, नान्यस्वमाददीत, नान्यस्त्रियमभिलषेन्नान्यश्रियं, न वैरं रोचयेत्, न कुर्यात् पापं, न पापेऽपि पापी स्यात्, नान्यदोषान् ब्रूयात्, नान्यरहस्यमागमयेन्, नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः, न दुष्टयानान्यारोहेत, न जानुसमं कठिनमासनमध्यासीत, नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत, न गिरिविषममस्तकेष्वनुचरेत्, न द्रुममारोहेत्, न

जलोग्रवेगमवगाहेत, न कुलच्छायामुपासीत, नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत्, नोच्चैर्हसेत्, न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत्, नानावृतमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत्, न नासिकां कुष्णीयात्, न दन्तान् विघट्टयेत्, न नखान् वादयेत्, नास्थीन्यभिहन्यात्, न भूमिं विलिखेत्, न छिन्द्यात्तृणं, न लोष्टं मृद्नीयात्, न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत, ज्योतींष्यनिष्टममेध्यमशस्तं च नाभिवीक्षेत, न हुङ्कुर्याच्छवं, न चैत्यध्वजगुरुपूज्याशस्तच्छायामाक्रामेत्, न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनान्यासेवेत, नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत्, न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत, नोत्तमैर्विरुध्येत, नावरानुपासीत, न जिह्मं रोचयेत्, नानार्यमाश्रयेत्, न भयमुत्पादयेत्, न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानपानाशनान्यासेवेत, नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्, न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणो न विषाणिनः, पुरोवातातपावश्यायातिप्रवाताञ्जह्यात्, कलिं नारभेत, नासुनिभृतोऽग्निमुपासीत नोच्छिष्टः, नाधः कृत्वा प्रतापयेत्, नाविगतक्लमो नानाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत्, न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गं, न केशाग्राण्यभिहन्यात्, नोपस्पृश्य ते एव वाससी बिभृयात्, नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमङ्गलसुमनसोऽभिनिष्क्रामेत्, न पूज्यमङ्गलान्यपसव्यं गच्छेन्नेतराण्यनुदक्षिणम्।।१९।।

चिकित्सा लाभः-

यदा कदाचित् दोषजनितेभ्यः मानसेभ्यः आगन्तुकेभ्यः व्याधिभ्यः ते ग्रस्ताः स्युस्तेषां परीहारः कथं करणीयः एतस्य समग्र चिकित्सारूपेण वर्णनं ग्रन्थेषु उपलभ्यते।

तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम्।

धीवर्णेन्द्रियवैमल्यं वृषतां दैर्घ्यमायुषः॥ (अ ह्र.सू 4/30)

मानस व्याधिचिकित्सा:-

मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।

तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः।।४७।।

निज आगन्तुज रोग निरोध एवं शमन:-

अनागतानां व्याधीनामपिप्रतिषेधः कथं भवेत् ? इत्यस्य समीचीनं वर्णनमपि।

"ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसम्भवाः।

रागद्वेषभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः।।

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।

देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्।।

अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम्।

भूताद्यस्पर्शनोपायो निर्दिष्टश्च पृथक् पृथक्।।

अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेषः प्रदर्शितः।

निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये ॥" (अ ह्र.सू 4/31-34)

अद्यतने काले ये विकाराः आविर्भवन्ति ते सर्वे जीवनशैलेः अनुचितात् प्रयोगात् विपर्यासाद्वा भवन्ति। तस्मात् सर्वैरेव जनैः आयुर्वेदं जीवनशैलीरूपेण अनुष्ठेयम्।

आयुर्वेदे सिद्धान्ता:-

आयुर्वेदे त्रिदोषसिद्धान्तः पंचमहाभूत सिद्धान्तः एवं कतिचित् सिद्धान्ताः वर्तन्ते। तेषु लोकपुरुषसाम्य-सिद्धान्तस्य कथनमतीव महत्वपूर्णमस्ति। पुरुषोऽयं लोकसंमितः। जगतः पुरुषस्य च हेतुभूतानां

तत्त्वानां विवेचनं, जन्ममरणादारभ्य सत्याबुद्धि ऋतंभरा प्रज्ञा इत्यन्तानाम् मुमुक्षुणामुदयनानि कथितानि। यथा नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं तथा आयुर्वेदे नैष्ठिकी चिकित्सा वर्णिता। जीवो ब्रह्मैव इति ज्ञानं वैद्यस्य तथा रोगिणः कृते ऽपि भवरोगनाशनार्थ अत्यंत महत्त्वपूर्णम्।

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।

मोक्षे निवृत्तिर्नि:शेषा योगो मोक्षप्रवर्तक: ॥ च.शा.१/१३७

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसङ्क्षयात्।

वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते।।१४२।।

जीवनचक्रः-

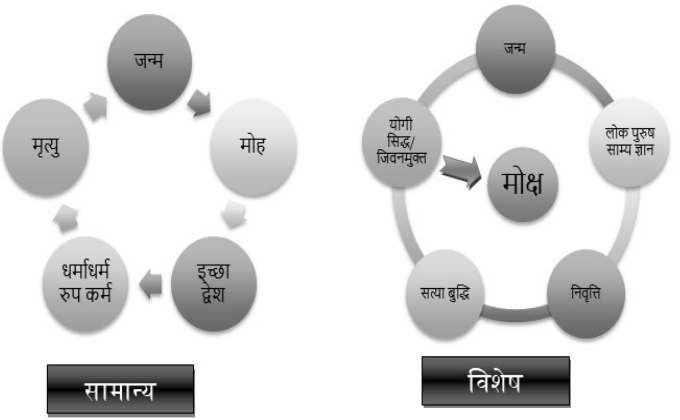

तत्र लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोरादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानम्, अग्नेरेवोपचर्या, धर्मशास्त्रानुगमनं, तदार्थावबोधः, तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ताः क्रियाः, सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनम्, असङ्गतिर्दुर्जनेन, सत्यं सर्वभूतहितमपरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनं, सर्वप्राणिषु चात्मनीवावेक्षा, सर्वासामस्मरणमसङ्कल्पनमप्रार्थन-मनभिभाषणं

च स्त्रीणां, सर्वपरिग्रहत्यागः, कौपीनं प्रच्छादनार्थं, धातुरागनिवसनं, कन्थासीवनहेतोः सूचीपिप्पलकं, शौचाधानतोर्जलकुण्डिका, दण्डधारणं, भैक्षचर्यार्थं पात्रं, प्राणधारणार्थमेककालमग्राम्यो यथोपपन्नोऽभ्यवहारः, श्रमापनयनार्थं शीर्णशुष्कपर्णतृणास्तरणोपधानं, ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं, वनेष्वनिकेतवासः, तन्द्रानिन्द्रालस्यादिकर्मवर्जनं, इन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सुप्तस्थितगतप्रेक्षिता हारविहारप्रत्यङ्गचेष्टादिकेष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका प्रवृत्तिः, सत्कारस्तुतिगर्हावमानक्षमत्वं, क्षुत्पिपासायासश्रम

शीतोष्णवातवर्षासुखदुःखसंस्पर्शसहत्वं, शोकदैन्यमानोद्वेगमदलोभरागेर्ष्या भयक्रोधादिभि रसञ्चलनम्, अहङ्कारादिषूपसर्गसञ्ज्ञा, लोकपुरुषयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्त्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबलाधानं; नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस आत्मनि, आत्मनश्च; धातुभेदेन शरीरावयवसङ्ख्यानमभीक्ष्णं, सर्वं कारणवद्दुःखमस्वमनित्यमित्यभ्युपगमः, सर्वप्रवृत्तिष्वघसञ्ज्ञा, सर्वसन्न्यासे सुखमित्यभिनिवेशः; एष मार्गोऽपवर्गाय, अतोऽन्यथा बध्यते; इत्युदयनानि व्याख्यातानि।।१२।।

सारांशः-

आयुर्वेदस्य सर्वेरेव मूलग्रन्थाः संस्कृतभाषासु वर्तन्ते। अमरभाषा गीर्वाणभारती इत्यादिभिः पर्यायैः कथिता संस्कृतभाषा सर्वेषाम् भारतीयभाषानाम् जननी तथा भारतीय संस्कृतेः स्रोतरूपेण वर्तते। वैश्विक साहित्य एषा सुव्यवस्थिता मनोज्ञा आत्यंतिका वैज्ञानिका भाषा अग्रणी भवति। अहिंसा, सत्यम् संतोषः परोपकारः सत्संगतिः एतानि जीवनमूल्यानि संस्कृतसाहित्यादेव सहजम् अवगम्यन्ते। मानवजन्मैवास्ति सर्वोत्तम अवसरः यत्र समग्रमपि कल्याणमभ्युदयो साधयितुं शक्यते।

आयुर्वेदस्य अनुष्ठानात् सर्वैरपि आरोग्यं प्राप्नुवन् विकाराणाम् अपाकरणं विधेयम्। तस्मात् मम भाषा आयुर्वेद भाषा। मम संस्कृतिः भारतीय संस्कृतिः आयुर्वेद संस्कृतिरेव उक्तं हि अष्टाङ्गहृदये–

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

Rice, Spice and Maharashtrian Spicy Rice

Dr. Pradnya Kulkarni

Rice is used in Indian continent for thousands of years. Varieties of rice grains are mentioned by ancient Indian ritual texts and the texts on various other subjects. Various types of rice recipes are mentioned by the texts on cookery and medicine right from the time of Vedas. Lot has been researched, discussed and written on this topic. However, hardly any discussion is found on the spice mixes which are the specialty of the regional dishes. Masalebhat is a Maharashtrian delicacy prepared with rice grains, spices and vegetables. This is the dish served in festive-meals; wedding meals etc. The spice mix prepared for this recipe is prepared and used only in Maharashtra, Northern part of Karnataka, western part of Andhrapradesh. While tracing back the historical references and textual references of this spice mix, some very interesting facts are found. Present paper deals with the information about this Maharashtrian delicacy, it's ingredients etc. An attempt is made to document and compile the information about Masalebhat found in various types of texts, documents and books on cookery in ancient, medieval and modern India.

Rice:-

18 varieties of Śāli rice, 9 varieties of Vrihi rice and 12 varieties of Ṣaṣṭika rice are found to mentioned in the ancient Indian texts. CarakaS. 1.25,27.11 mentions 5 inferior varieties of Śāli rice. The text Nalapākadarpaṇa contains a separate chapter on 8 defects and 63 tastes of rice. Practically the text only contains 8 defects of rice.

Mānasollāsa a text in 12th Century, (Vol 2.p.115) mentions various types of rice.

रक्तशालिर्महाशालिर्गन्धशालिः कलिङ्गकः ।

रक्तशालि, गन्धशालि, कलिंगक, मुण्डशालि, स्थूलशालि, षष्ठिक, सूक्ष्मशालि are the types of rice mentioned in this text.

Various rice recipes are mentioned by various ancient texts on different subjects. BṛĀU. vi.4.18, Mahābhārata. Sabhāparva. 49.9; mention rice cooked with meat. Patanjali in Vyakarana Mahābhāṣya ii.3.1 mentions पृषितौदन.

Nalapākadarpaṇa in it's separate chapter on rice gives various rice dishes. Detail recipe of rice containing various spices and meat is given which is quite similar to the Biryani. The pieces of meat are put in the boiling rice along with rock salt and ghee. After the rice and the meat is cooked together, seasoning is done with the coconut milk, ghee and fragrant things like kewara, musk, camphor etc. Variation is suggested by adding moong, bird flesh like chicken etc.

Rāmā. ii.52.89 mentions a rice cooked with meat, vegetables and spices.

Mānasollāsa mentions various rice recipes कृसर (rice cooked with माष beans and sesame seeds), घृतोदन (rice cooked in ghee), हरिद्रोदन (while cooking the rice, turmeric is added to it), क्षीरषष्टिका (rice cooked with milk), मुद्गोदन (rice cooked with moong), ओदन (this word is used for only rice and rice cooked with butter, meat, fruits, vegetables, pulses, milk etc.), cooked rice mixed with various substances give different variety of dishes e.g. दुग्धोदन (rice and milk), दध्योदन (rice and curd mixed) etc.

In the Buddhistliterature reference is found of a rice called कूर which is prepared with oil, mustard seeds, and greenleaves.

Spice:-

Spices and herbs such as black pepper, cinnamon, turmeric, and cardamom have been used by Indians for thousands of years for both culinary and health purposes. Medical writings of Charaka (1st century) and Sushruta II (2nd century) referenced spices and herbs. Sushruta II also used spices and herbs such as cinnamon, cardamom, ginger, turmeric, and pepper for healing

purposes. After the trade started with the western world, specially Greece and Rome, spices were exchanged and thus some non Indegenous spices were introduced to Indians. Later on we also see the influence of Arab and Muslim spices on the use of spices by Indians.

References to many spices are found in the texts on medicine. Even the Sanskrit lexicons give the synonymous words for these spices. My intention of this study was to find the origin and first occurrence of Maharashtrian spice mix. Thus I have considered only the spices which are used for this 'kāḷāmasālā'

The basic ingredient of this masālā is coriander seeds. They are referred by RājNi. as धाना, धान्यक, धानक, धान्य, धानेयक, कुनटी, धेनुक, छत्रा, कुस्तुम्बुरु, वितुन्नक are the words given by BhāvaPraNi. Then we have the other substances

● Dry coconut- ṚV.3.39.12 नारिकेल, नालिकेर, लाङ्गली are the words given by SusruS.

● Sesame seeds:- used in the sacrificial offerings. Referred by Śrauta Sūtras and Gṛhya Sūtras and post Vedic ritual texts

● Chili:- Chilis are certainly not Indigenous. However; the word मरिच is used for Blackpepper which is mentioned by the medicine texts. The paper corns are used in the spice mix.

● Cumin:- Cumin seeds are used by the medicine texts many times. जरण, अजाजी, कणा, जीर्णः, जीरः, दीप्यः, जीरण, अजाजिका, वह्निशिखः, मागधः, दीपकः etc. are the words given by AmaK. And commentators of medicine texts.

● Asafoetida:- हिङ्गु is mentioned by CaraS. and SusruS.

● Bayleaves and Cinnamon:- these are the two things obtained from the same tree. The bark of the tree is used as Cinnamon and theleaves are fragrant and they are also used as a spice. This fragrant tree is knows by many names: वरुणद्रुम, तापिच्छ, तिलक, अंशुक, रामा, तामलकी, तमाल, तमालिनी etc.this

spice is very important and considered auspicious in world cultures. In Greek Mythology, it has got a special importance and is used for gifting.

- Clove:- This spice is the flower of a tree it is mentioned by Medicine texts. It is also known as श्रीपुष्प.

- नागकेसर is mentioned by RajNi. And DhaNi.

- दगडफूल is another very specific ingredient used for the Spice mix. Moles in his Marathi English dictionary mentions it as a fungus growing on wood or rocks in the moist weather after rains.

In the text Bhojanakutuhala (composed in the later half of 17th century), Raghunathsuri, the writer who was Maharashtrian, gives a separate section called संभाराः on the spices however; he doesn't give the information about the roasted, powdered spice mix. Moles worth in his dictionary gives word Masala as mixes of spices.

Spicy Maharashtrin rice: The Maharashtrian Spicy Rice, Masalebhat is one of the popular delicacies prepared in festive meals, Weddings, community gatherings etc. a special powdered spice mix gives this dish very interesting test and dark colour. This variety of rice is called Maslebhat or Kalabhat. The black spice mix used in this delicacy is the specialty of Maharashtrian dishes like stuffed Brinjal, amti, Sprout curries etc.

In the book Pakadarpan written by Godavari Pandit in 1893, the recipe of this spice mix is there. The reipe of Brinjal rice (vangibhat) is given in the same book and same spice mix is to be used for that rice. In this book Godavaribai gives the recipe of this masala. One very interesting ingredient she prescribes to add is the burning Cole of Caster tree is to dipped in the oil. Then that black cole is to crushed and then added to the masala. The spicemix made with chili is called kalmasala and the version without chili is Godamasala.

Spicy rice is prepared by adding vegetables like brinjal and Tendli.

Both the vegetables were used in India for many many years. Kalidasa refers to the red plumplips of the heroine. Kalidasa in Meghaaduta says- पक्वबिंबाधरोष्ठी. Brinjal is found on a Harappan site Rakhigadhi.

Observations:-

The spices were known to Indians and they were used for their medicinal properties. When they are used in the cooking they are used whole. No processing of spices like roasting, grinding etc. is found to be referred even by the cookbooks.

The very first reference of such spice mix is found in 1893. Documentation of such regional delicacies is very important for a country like ours where we have a great diversity in every aspect of culture. The next generation should be encouraged to use the technology to document the family recipes by creating the family cook book.

The survey based documentation of the variation in the recipe of this spice mix can be done to complete this project. These recipes contain some secret ingredients which the elderly ladies of the family share with the next generation. Such type of survey would definitely add to this research.

Bibliography:-

1. Om Prakash, 1961, Food and Drinks in ancient India, Munshi Ram Manoharlal, Delhi.
2. Achaya K.T., 1994, Indian Food : A historical companion, Oxford University Press, Delhi.
3. Achaya K.T., 1998, A Historical Dictionary of Indian Food, Oxford University Press, Delhi.
4. Godavaribai Pandit, 1893, Pakadarpan, Sayajirao Gayakwad, Baroda.
5. Dr. Madhulika, 2013, Nalapakadarpana, Chaukhamba Orientalia, Varanasi.
6. Shuranad Kunjana Pilla, 1956, Raaghunathavirachitam Bhojanakutuhalm, Anantashayana Sanskrit Granthavali- 178.
7. Gajanan Shrigondekar, 1925, Manasollasa, Centrallibrary, Baroda.

Vṛittī: A Language of Dance

Dr. Sharayu Jeste-Bhalerao

Email id: sharayu.nbhalerao90@gmail.com

Introduction:-

Indian culture is a mother of various arts. Each of the art has its characteristics. One of the art forms is dance. We all know that there are seven major classical dance forms in India; Among them, Bharatnatyam is a famous dance from the southern state of Tamilnadu. Different dance form has different aspects of performance. Many thingslike dance, music, instruments, etc. are considered while performing. One of the major aspects is composition. A variety of concepts are used in the designs used for presentation, one of the most important concepts being **Vriṭṭi.**

According to Bharatnāṭyaśāstra, the concept of **Vriṭṭi** is more related to the subject of drama, these **Vriṭṭi** are also characteristic, they appear to be used in a special way in Sanskrit dramas. However, according to the context in Sangeet Ratnakar, **Vriṭṭi** is also used in this dance. In this research paper, the main topic of the research is whether it is possible to create compositions using these **Vriṭṭis** in dance, especially Bharatanāṭyam and whether it can be used in performance. This thing is primarily focused in this research paper.

About Vṛittī:-

In the Bharatnāṭyaśāstra, Bharatmuni has explained the concept Vṛittī in detail. Also, Sangitratnākar has mentioned about Vṛittīs. For this paper, the researcher focused on these two texts only. He has mentioned 4 types of Vṛittī i.e., **Bhārati, Ārabhati, Sāttvati, and Kaiśiki.**

These 4 types of Vṛittī distinguished in Drama (Nāṭya).[1] Bharatmuni stated that Vṛittī is the mother(Māṭṛīkā) of all types of poetry. Also, according to Nāṭyaśāstra Daśarupakā created by these Vṛittīs, for this particular paper, the researcher has considered only basic information of Vṛittī for the scope of the subject.

Definition and explanation of Vṛittī:-

There are 4 types of Vṛittī as mentioned before.

The story is told in Natyashastra that this Vṛittīs arose out of the war between Vishnu and Madhu-Kaiṭabha. The story is explained as, "Madhu and Kaiṭabha maddened with the pride of their strength, challenged the god at once for battle. These two, after making gestures of challenge, fought the imperishable lord Vishnu with their firsts and legs, and while doing so the two parties also abused each other with harsh words."[2] The following is an explanation of how all four Vṛittīs arose out of these war movements.

In Saṇgitratnākar, the term Vṛittī explained as, Vṛittī is the activity that originates from speech, mind, and body and is useful for Purushartha.

1] Bhārati Vṛittī - The Bhārati Vṛittī generated from these abusing words. Bharatmuni said about the origin of Bhārati Vṛittī is 'hearing the various abusive words of these two who were threatening Vishnu, Brahmā was slightly perturbed in mind and said, is it the Bhārati Vṛittī? then Vishnu replied to him, yes, I have made this Bhārati Vṛittī to do my work. It will be the Bhārati Vṛittī of the speaker, **in which words will be prominent.** In the context of Bhārati Vṛittī Bharatmuni further said that 'that time Hari's pacing with the Sthankas on the

---

[1] भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा / चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् // (NS 6.24-25)

[2] NS – निजबाहू ...कम्पयन्ताविवोदधिम् / (20/3-4-5)

ground created a great burden on the earth, the Bhārati Vṛittī was built on that.[1]

According to SR, śāraṇgdeva defined Bhārati Vṛittī as Bhārati is considered to be the verbal style preferred by the male elite, with Sanskrit phrases as the main ones.[2]

Karuna and Bibhsta Rasa predominate in Bhārati Vṛittī.[3]

2] Sāttvati Vṛittī:- Sāttvati Vṛittī originated by the rebounding of the bow named Śārṅga which was intensely brilliant, steady, and by an excess of unperturbed sattva, Sāttvati Vṛittī was made.[4]

SR - sattva mind full of sattvalight and the joy, bravery, and sacrifice that arise from that heart are the sattva bhavas, the Sāttvati Vṛittī in which these bhavas are the main.

Veer, Raudra, and Adbhuta are the main emotions in Sāttvati Vṛittī.[5]

3] Kaiśikī Vṛittī:- The story behind Kaiśikī Vṛittī is, that when (in the course of fighting) the god moved sportively with various Aṅgahāras and tied up his knot, the Kaiśikī Vṛittī (graceful style) was made.[6]

---

[1] NS – भूमिस योगस स्थानैः पदन्यासैहरिस्तदा अतिभारोऽभवद् भूमेर्भारती तत्र निर्मिता // (20/11)

[2] SR – वृत्तिः संस्कृतवाक्यैकप्रधाना भरतैर्नृभिः / प्रयुज्यमानाबाग्वृत्तिः प्राधान्याद्भारती मता // (7/1194)

[3] NS – बीभत्से करुणे चैव भारती संप्रकीर्तिता / (20/74)

[4] NS – वल्गितैः शार्ङ्गधनुषस्तीव्रैर्दीप्ततैरथ / सत्त्वाधिकैरसभ्रान्तैःसात्त्वती तत्र निर्मिता // (20/12)

[5] SR – सत्त्वप्रकाशकं यत्स्यात्तद्युक्तं सत्त्वमुच्यते / मनस्तत्प्रभवा हर्षशौर्यत्यागास्तु सात्त्वताः // (7/1195)

[6] NS – विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितैः / बबन्ध यच्छिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता // (20/13)

SR - Kaishiki's is the Vṛittī which beauty is the onlylife, endowed with elegant songs and dances, full of beauty.[1]

4] Ārabhaṭi Vṛittī: From the various ways of personal combats which were full of energy and excitement, and which entailed various Cāris, the Ārabhaṭi Vṛittī was made.[2]

SR - The importance of body trade in Ārabhaṭi Vṛittī is shown from this arising from the bodies of those warriors.

Raudra and Bhayānaka rasas are prominent in this Vṛittī.

If we consider these Vṛittī from the point of view of dance, it can be seen that, from the explanation of Vṛittī, Vṛittī can be used in dance as well it is being done, only it is not given a separate term Vṛittī

According to the context in Sangeet Ratnakara, Kaishiki Vṛittī can be used in dance, as this Vṛittī is composed of dance and song and is the Vṛittī of Sringara rasa Pradhan. Srinagar rasa is an integral part of poetry. In Bharatnatyam or any dance form, Sringara Rasa's dominant compositions are performed. For example, Ashtapadi in Gita Govinda. Ashtapadi from Geeta Govinda, a poem composed by Jayadeva can be taken as an example of Kaishiki Vṛittī which is performed in all dance forms even today. Also, any kind of composition which is based on Shringara Rasa is an example of Kaishiki Vṛittī

Bharti Vṛittī is a rhetorical Vṛittī, and dance forms are not rhetorical, but still, Bharti Vṛittī can be used in dance. All though the dance is not verbal, many artists today are seen using dialogue or verbal acting while dancing, for example, in Unravelled Draupadi, the famous dance performance, by famous dancer Composed and performed by Janaki Rangarajan, Janaki Akka uses some dialogue in this dance performance, this type of dance performance may be closer to Bharti Vṛittī,

---

[1] SR – उल्लसङ्गीतनृत्ताढ्यां शृङ्गाररसनिर्भरा / निःशङ्क कैशिकीं ब्रूते तां सौन्दर्यैकजीविताम् // (7/1119)

[2] NS – संरम्भावेगबहुलैर्नानाचारी समुत्थितैः / नियुद्धकरणैश्चित्रैरूत्पन्नारभटी ततः // (20.14)

Conclusions:

since it is possible to perform dances from dialogic compositions as well, the use of Vṛittīs in dance is easily possible if such experiments are done in dance to display Bharati Vṛittīs.

An example of this is Guru Smita Mahajan's composition in Marathilanguage which was published in the magazine Margam Unmesh.

लक्ष्मी पार्वती संवाद

लक्ष्मी बोले पार्वतीला, भाग्यदा मी अन् मी कमला
का मज कथिसी गुणगान तुझे -अम्बा हसुनी दुर्लक्षी तिला
शंख-चक्र धरी हाती मम पती सुंदर तनु अन् रंग घननिळा
त्रिशूल डमरुधर, व्याघ्रचर्म शरीरावरी धरी मम नाथ आगळा
विष्णुप्रिया मी, मी ऐश्वर्या कुशल कार्य करी पतीसह भार्या
सांगु नको मज मी हरप्रिया रत मी नित स्रुजनाच्या कार्या
चतुर्भुजा मी सदैव तत्पर धनधान्य पशुवृद्धी करण्या
ठीकच की मग मी अष्टभुजा तत्पर दुष्ट विमोचन करण्या
सृष्टीपालकाची मी राज्ञी सुजला सुफला करी सृष्टीला
सृष्टी निर्मिती हो मम कारण ती नसती तर कार्य न तुजला

For further research, the researcher wants to compose some composition in Bharatnatyam dance form by using these Vṛittīs, and performed as well.

Reference Books:

१. Bharatnāṭyaśāstra (Translation – Manmohan Ghosh)

२. Sangitratnākar (Translation–G.H. Taralekar)

3. Nāṭyaśāstra Viśvakośa – (By Radhavallabha Tripathi).

संस्कृत साहित्य में भाषा और संस्कृति का स्वरूप: एक अनुशीलन

डॉ. तरुण कुमार शर्मा

संसार की उपलब्ध समस्त भाषाओं में संस्कृत सबसे प्राचीन है। संस्कृत में प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अपार भण्डार है। वैदिक काल से लेकर आज तक इस भाषा में रचनाएं होती चली आ रही हैं। संस्कृत भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भारोपीय परिवार की भाषा है। किसी भी भाषा के दो रूप होते हैं, व्यवहारिक अर्थात् बोलचाल में आने वाली भाषा एवं स्थिरता पाने वाली साहित्यिक भाषा। बोलचाल की संस्कृत भाषा का प्राचीन स्वरूप हमें भास, कालिदास, शूद्रक आदि के नाटकों उपलब्ध होता है। सामान्यतः संस्कृत में जो साहित्य सुरक्षित है वह उसके साहित्यिक स्वरूप का प्रतिनिधि है।

भाषा की दृष्टि से संस्कृत की ध्वनि वर्णमाला पर्याप्त सम्पन्न है। स्वरों की दृष्टि से ग्रीक, लैटिन आदि का विशेष स्थान है। फिर भी अपने–अपने क्षेत्र के विचार से संस्कृत की स्वर माला पर्याप्त और भाषानुरूप है। ध्वनिमाला और ध्वनि क्रम की दृष्टि से पाणिनि काल से प्रचलित संस्कृत वर्णमाला आज भी कदाचित विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय वर्णमाला है। यहां साहित्य शब्द का प्रयोग वांङ्मय के लिए किया गया है। वैदिक वाङ्मय के अनन्तर संस्कृति की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण एवं व्यास के महाभारत की भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मानी गयी है। वाल्मीकि रामायण आदि लौकिक महाकाव्य हैं, उसकी गणना आज भी विश्व के उच्चतम महाकाव्यों में मानी जाती है। इसके अतिरिक्त अष्टादश पुराणों और उपपुराणों आदि का महाविशाल वाङ्मय है, जिनमें पौराणिक एवं मिथक से न केवल आर्यों का अपितु भारत की समस्त जनता और जातियों का सांस्कृतिक इतिहास अनुबद्ध है। पुराणकार मनीषियों ने भारत और भारत के बाहर से आये हुए लोगों की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एक्य की प्रतिष्ठा का सहसत्राब्दियों तक सफल प्रयास करते हुए भारतीय संस्कृति को एकसूत्रता में आबद्ध किया है। पुराणों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम्, भवभूति के उत्तररामचरित, बाणभट्ट की कादम्बरी, माघ के शिशुपालवधम्, श्री हर्ष के नैषधीयचरितम्, भारवि के किरातार्जुनीयम् आदि में भी भारतीय संस्कृति का उदात्त स्वरूप

अवलोकनीय है।

संस्कृति का अर्थ आदर्श संस्कार होता है। मनुष्य विभिन्न संस्थानों पर रहते हुए विशेष प्रकार का सामाजिक वातावरण, संस्थाओं, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास करके अपनी संस्कृति का निर्माण करते हैं।

वस्तुतः जीवन की आत्मा ही 'संस्कृति' है। प्रत्येक देश की संस्कृ –ति की अपनी पहचान एवं उसकी अपनी अन्तर्धारा होती है। वैदिक संस्कृति ही प्रथम संस्कृति थी। कहा भी गया है– **'सा प्रथमासंस्कृतिर्विश्ववारा'**[1]

विश्व की संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति प्राचीनतम, विश्ववन्दनीय, तथा सर्वग्राह्य है। हमारे संस्कृत–साहित्य में संस्कृति–विषयक संदर्भ पदे–पदे दिखलाई पड़ते हैं।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आने वाले चार वर्णों के बारे में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से श्रीमद्भगवतद्गीता के चौथे अध्याय में कहा है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागाः।

तसय कर्त्तारमपि मां, विद्धयकर्त्तारमव्ययम्।।[2]

गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यएवं शूद्र चार ही वर्ण बताये गये है।

आश्रम–व्यवस्था (चार आश्रम) ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं सन्यासाश्रम भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं। पुरुषार्थ चतुष्ट्य धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष भी भारतीय संस्कृति के मूलभूत अंग है।

भारतीय संस्कृति के उदात्त रूप हमें रामायण में पदे–पदे परिलक्षित होता है। रामायण में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का साक्षात् दर्शन होता है। सामाजिक दृष्टि से रामायण में, पति–पत्नी के सम्बन्ध, पिता पुत्र के कर्तव्य, गुरु–शिष्य का पारसपरिक व्यवहार भाई का भाई के प्रति कर्तव्य एवं आदर्श गृहस्थ जीवन की अभिव्यक्ति करता है।

भारतीय संस्कृति का उदात्त रूप हमें कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में देखने को मिलता है। एक स्थल पर पुत्री की विदाई का मार्मिक वर्णन है दूसरे श्लोक में पुत्री को पतिगृह के लिए

आदर्श शिक्षा दी गयी है यह भारतीय नारी के लिए भारतीय संस्कृति विषयक सन्देश है जैसा कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी प्रतिपादित किया गया है–

शुश्रूषसवगुरुन् कुरु, प्रियसखीवृत्तिंसपत्नीजने

भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया, मासम प्रतीपं गमः।

भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने, भाग्येष्वनुत्सेकिनी

यान्त्येव गृहिणी पदं युवतयो, वामाः कुलसयाधयः।।[3]

ऋषि शकुन्तला को उपदेश देते हैं कि तुम अपने बडों की सेवा करना, अपनी सपत्नियों से प्रियसखी जैसा व्यवहार करना तिरस्कृत होने पर क्रोध में आकर पति के प्रतिकूल आचरण मत करना, एश्वर्य का अभिमान मत करना इस प्रकार का आचरण करने वाली स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी पद को प्राप्त करती है इसके विपरीत चलने वाली कुल के लिए अभिशाप होती है।

ऋषि कण्व पतिगृह जाते समय शकुन्तला को ही नहीं अपितु राजा दुष्यन्त को भी भारतीय संस्कृति विषयक सन्देश देते हैं–

असमान्साधु विचिन्त्य, संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन–

सत्वय्यसयाः कथमप्यबान्धवकृतां, स्नेहवृत्तिं च ताम्।

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं, दारेषु दृष्या त्वया

भाग्यायत्तमतः परं, न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः।[4]

उक्त पस में उच्च कुल, संयम एवं भाग्वादिता के कथन के माध्यम से भारतीय संस्कृति–विषयक संदेश जनमानस को दिया गया है, जो आज के युग में प्रासंगिक है।

भारतीय संस्कृति में कर्मवाद पर बल दिया जाता है। कर्म ही जीवन की सफलता की एकमात्र कुन्जी है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को कर्मवाद का उपदेश दिया है कि निष्कर्मण्यता पाप एवं अभिशाप की जननी है निष्काम कर्म ही जीवन का सार है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित किया गया है–

कर्मण्येवाधिकारासते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूमा तेसङ्गोऽसत्वकर्मणि।।[5]

हिन्दू परिवार में ज्येष्ठ भ्राता पिता की मृत्यु के बाद परिवार का उत्तराधिकारी (मुखिया) होता था और परिवार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसी के ऊपर होता था। मनुसमृति में ज्येष्ठ भाई के अधिकार एवं कर्तव्य का विशद् वर्णन मिलता है।[6] वेदादि के अनेक स्थलों पर भ्रातृ–प्रेम का उल्लेख प्राप्त होता है। रामायण में भातृ–प्रेम का सुन्दर उदाहरण अवलोकनीय है–

देषे–देषे कलत्राणि देषे–देषे बाधवाः

तं तु देषं न पष्यामि यत्र भ्रातासहोदरः।।[7]

भारतीय संस्कृति का उदात्त रूप हमें तैत्तिरीयोपनिषद् में देखने को मिलता है। इसमें माता पिता को देव स्वरूप माना गया है–

मातृ देवो, भव पितृ देवो भव।[8]

मनुस्मृति में माता–पिता एवं गुरु की सेवा करना परम तप माना गया है–

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तपः उच्यते।[9]

वाल्मीकि रामायण का सांसकृतिक महत्त्व बहुत अधिक है। वाल्मीकि ने इस महाकाव्य के द्वारा जीवन के आदर्शभूत और शाश्वत मूल्यों का निर्देश किया है। इसमें उन्होंने राजा, प्रजा, पुत्र, माता, पत्नी, पति सेवक आदि के सम्बन्धों का एक आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया है। राम का चरित्र एक आदर्श चरित्र है, जो सत्यवादी, दृढ़सकल्प वाले, परोपकारी, चरित्रवान्, शक्तिशाली, सुन्दर प्रजा पालक एवं धीर पुरुष हैं। वाल्मीकि ने उनके गुणों को बहुत विस्तार से रामायण में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार सीता के आदर्श एवं गौरवपूर्ण पत्नी रूप को भी वाल्मीकि ने स्थापित किया है। राम का भातृ प्रेम रामायण में अत्यन्त सरल एवं भावपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया है जिसका उल्लेख रामायण में पदे–पदे परिलक्षित होता है।

भारतीय संस्कृति में शिष्टाचार को अधिक महत्त्व दिया जाता है। अथिति के आगमन पर किस प्रकार से अथिति का स्वागत किया जाता है इसका वर्णन उत्तररामचरितम् के द्वितीय अंक के एक स्थल पर अवलोकनीय है–

यथेच्छाभोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः,

सतांसद्भिःसङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति।

तरुच्छाया तोयं यदपि तपसां योग्यमषनं,

फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः।।[10]

नारी प्रसंग में वाल्मीकि रामायण में सीता को राम की सेविका, पतिव्रता, पत्नी धर्म का पालन करने वाली साथ रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली बतलाकर भारतीय नारी समाज के लिए सन्देश दिया है। रामवनगमन के समय सीता जी भारतीय संस्कृति के अनुरूप मर्यादा का पालन करती हुई राम से कहती है कि यदि आप के साथ सहस्र वर्ष तक भी रहने का सौभाग्य मिलेगा तो भी मुझे कभी कष्ट का अनुभव नहीं होगा। यदि आपका साथ न हो तो स्वर्ग लोक भी अभीष्ट नहीं है यदि आपके बिना मुझे स्वर्ग लोक का निवास भी मिल रहा हो तो वह मेरे लिए रुचिकर नहीं होगा। जैसा कि अयोध्याकाण्ड में प्रतिपादित किया गया है–

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।

सह रंसये त्वया वीरवनेषु मधुगन्धिषु।।[11]

एवं वर्षसहसत्राणि शतं वापि त्वयासह।

व्यतिक्रमं न वेत्सयामिसवर्गोऽपि हि न मे मतः।।[12]

भाषा एवं संस्कृति दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि भाषा संस्कृ ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और संस्कृति भी भाषा की परिचायक है। संस्कृति सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृति से हम अपने सांस्कृतिक–मूल्यों का परिज्ञान कर सकते हैं। संस्कृत–महाकाव्यों की परम्परा में रामायण एवं महाभारत ये दोनों आर्ष महाकाव्य है। महाभारत के भीष्मपर्व की भगवद्गीता एतिहासिक, पौराणिक साहित्य का सर्वोच्च रत्न है। गीता प्राचीन भारतीय संस्कृति की वैचारिक शिखर है। विश्व साहित्य में उनका स्थान आज भी आदर के साथ स्वीकार किया जाता है।

पश्चात्य विद्वान् विण्टरनित्ज भारतीय संस्कृति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि ''यदि हम अपनी संस्कृति के विकास का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें भारत को जाना चाहिए। जहाँ भारोपीय समुदाय का प्राचीन साहित्य सुरक्षित है।''

"If we wish tolearn the beginning of our own culture, if we wish to understand the Indo-European culture, we must go to India where the oldestliterature of on Indo-European

people in preserved".

वर्तमान समय में संस्कृत–भाषा एवं साहित्य को पुनः गौरव एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त कराने के लिए उसकी जीवंतता पर मंथन करना आवश्यक एवं औचित्यपूर्ण है। विज्ञान की दृष्टि से भी संस्कृत का विशेष महत्त्व है।

"वसुधैव कुटुम्बकं"एवं **"आत्मवत्सर्वभूतेषु"** का उद्घोष करने वाले संस्कृत वाङ्मय में विश्वशान्ति और विश्वकल्याण की पवित्र एवं व्यापक विचार धारा का जो प्रादुर्भाव हुआ है वह अन्यत्र किसी साहित्य में देखने को नहीं मिलता है। भारतीय संस्कृति की विशेषता सहिष्णुता, सद्भावना त्याग और लोकमंगल को आत्मसात् करने वाली आर्य संस्कृत भाषा में ही प्रस्फुटित होकर विश्वकल्याण और विश्वबन्धुत्व आज भी प्रयत्नशील है।

सन्दर्भः

1–बाजपेयीसंहिता 7/14
2–श्रीमद्भगवद्गीता 4/13
3–अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/18
4–अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/17
5–श्रीमद्भगवद्गीता 2/47
6–मनुसमृति 9/105, 108, 109
7–रामायण युद्धकाण्ड 104/14
8–तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/2
9–मनुसमृति 2/229
10–उत्तररामचरितम् 2/1
11–वाल्मीकि रामायण 2/27/13
12–वाल्मीकि रामायण 2/27/20

विषमपरिणय: आधुनिक नाटक में भाषा और संस्कृति

डॉ. उर्वशी सी. पटेल
सी.यु.शाह आर्ट्स कालेज
लाल दरवाजा, अहमदाबाद, गुजरात,भारत

विषमपरिणय एक पांच अंक का नाटक है। जो गुजरात के श्रीगजेंद्रशंकर पंड्या द्वारा निर्मित है। समाज के कई दूषण को हटाने के लिए और समाज को नई दिशा दिखाने के लिए उन्होंने यह नाटक लिखा है। श्रीगजेंद्रशंकरजी की संस्कृत में कुल 10 रचनाएं हैं। जिसमें उन्होंने अलग-अलग कथा वस्तुएं ली है। उनकी कथावस्तु में वैविध्य पाया जाता है। नाटक की प्रस्तावना में वे स्वयं लिखते हैं, कि सामाजिक दूषण के प्रति लोगों को नफरत हो और जागरूकता आए। जो समाज के अग्रणी लोग हैं, वे भी जागृत हो जाये यही नाटक का मुख्य ध्येय है। रचनाकार ने प्रस्तावना में ही सूचित किया है कि, मूढ़ लोगों द्वारा बनाए हुए रीति-रिवाज और युवा-अवस्था में पहुंचे हुए युवक के हृदय स्पर्शी प्रेमभाव का यहां निरूपण है और उनकी करुणदशा का निरूपण करके वाचक के मन में घटनाओं के प्रति एक आद्रता जागे एसा प्रयत्न किया है। इसी प्रयोग से दुखांत–करुणांत नाटक लिखा है और यह नाटक समाज परिवर्तन का निमित्त विषय भी बनता है।[१] यह नाटक की कथावस्तु प्रासंगिकता यानी कि टॉपिकल है। यहां कृति में पांच मुख्य पुरुष पात्र और तीन स्त्री पात्र पाए जाते हैं। रचनाकार रंगभूमि को एक माध्यम बनाते हुए कहते हैं कि, यह रंगभूमि एक कूटनीति शाला है । जिसमें रहकर नाटक अपना हुनर दिखाता हैं।[२]

अन्य संस्कृत नाटकों में पाया जाता है कि, प्रस्तावना में मुख्य कथावस्तु का थोड़ा सा सूचन किया जाता है, वैसे ही यहां पर भी है। यानि की संस्कृत नाटक परंपरा का यहां अनुसरण किया है। प्रथम अंक में

जैसे संस्कृत नाटकों में होता है, ऐसे ही नान्दी स्तवन शार्दुलविक्रीडित छंद में गणेश जी की स्तुति द्वारा किया गया है। उसके बाद प्रस्तावना में सूत्रधार कहते हुए पाए जाते हैं, कि मनोहर नाम का एक युवक और लावण्यवती नाम की युवती को परस्पर प्रेम है और उसमें विघ्न आने वाले जैसे है प्रथम द्रश्य में लावण्यवती नायिका के पिता सुंदरदास अपनी पुत्री की इच्छा विरुद्ध, धन की लालच में आकर पुत्री का विवाह वृद्ध देवदास से कर देते है। उस समय मनोहर जो लावण्यवती को प्रेम करता था। वह उसको बचा नहीं सकता क्योंकि, वह अभ्यास के लिए वाराणसी गया हुआ है। यानी कि यहां से एक जागृत नागरिक का अभाव और कन्या विक्रय का संघर्ष सामने आ जाता है।

दूसरे अंक के प्रवेशक में मंजरी और दु:शीला के संवाद में मुख्य द्रश्य सूचित होता है। जो मनोहर अभ्यास के लिए वाराणसी गया हुआ है, वह वापस आता है। मंजरी जो लावण्यवती की सखी है वह प्रेमीका लावण्यवती के विवाह का समाचार मनोहर को देती है। तब मनोहर बहुत आघात में चला जाता है। उसी समय एक दूसरे भी समाचार आते जिसमें लावण्यवती का वृद्ध पति मर जाता है। दूसरे अंक में एक प्रवाह से जो कथा चल रही थी, उसमें एकाएक परिवर्तन आ जाता है और कथावस्तु का दूसरा आयाम शुरू हो जाता है।

तीसरे अंक में विधवा लावण्यवती के साथ किए जाने वाले कुछ सामाजिक नियमों का निरूपण है। जैसे केशवपन, कंकण भंग आदि विधि के लिए लावण्यावती को समाज की अन्य विधवा दु:शिला प्रेरित करती है। इस समय मनोहर जो नायक है, वो यह विधि का विरोध करता है। उसके लिए तार्किक दलील देता है। समाज के अग्रणीजन लावण्यवती और मनोहर के विवाह का निर्णय लेकर, विधवा पुनर्विवाह का समर्थन करते हैं। लेकिन सुंदरदास जो लावण्यवती के पिता है, उनको अब धन नहीं

मिलेगा, ऐसी चिंता में वह पुत्री का विवाह मनोहर के साथ हो, उसमें अपनी कोई इज्जत नहीं रहेगी, ऐसा बहाना बनाकर वहां से चले जाते हैं। उनकी बहन दु:शीला जिसने स्वयं वैधव्य का दु:ख भुगता है। वह ये परंपरा टूटे, इसमें खुश नहीं है। उसको लावण्यवती का पुनर्विवाह अच्छा नहीं लगता है। बाद में लावण्यवती के बचाव में मनोहर ने जो दलिल की है। वह तर्कसंगत है। इस तर्कसंगत दलील में रचनाकार ने दो पक्ष सिद्ध किए हैं। मनोहर की तर्क संगतता और लावण्यवती का चरित्र, यह द्विविध पक्ष को प्रस्तुत करना रचनाकार की अपनी एक खूबी है। यह भी देखा गया है कि, मनोहर केवल सद्गुणी है और उसकी राष्ट्र भावना बहुत उन्नत है। किंतु वह जो दलील करता है उसमें शास्त्र में जो भाष्य होता हैं। ऐसी पद्धति अपनाई गई है, यह अपने आप भाषा की दृष्टि से नाटक में नवीनतम प्रयोग लगता है।

अंक 4 में नाटक करुणांत की तरफ आगे बढ़ता है। लावण्यवती के पिता सुंदरदास और उसकी बुआ दु:शीला लावण्यवती के विवाह न हो, इसलिए इसको तेहखाने में ले जाते हैं। वहां उसको जहर पीना पड़ता है। अगर ऐसा नहीं करेंगी, तो लावण्यवती के प्रेमी मनोहर को मार दिया जाए जाएगा। अतः लावण्यवती को जहर भी पीना पड़ता है और उसके पास लिखवाया जाता है कि, मैंने अपनी इच्छा से यह काम किया है। अंत में सुंदरदास और दु:शीला पकड़े जाते हैं और उनको सजा भी हो जाती है। लेकिन तब तक तो लावण्यवती का मृत्यु हो जाता है। पांचवें अंक में लावण्यवती प्रियतमा की मृत्यु का आघात मनोहर नहीं सह सकता और लावण्यवती की चिता में ही कुद कर नष्ट होता है। अतः यह नाटक करुणांत बनता है। दोनों नायक-नायिका का जीवन साथ में समाप्त होता है। अग्नि संस्कार भी साथ में होता है। इस तरह सामाजिक कुरिवाजों का अग्नि संस्कार भी करना चाहिए ऐसा संकल्प यहां पर स्पष्ट होता है।

इस नाटक में भाषा और संस्कृति का एक सुभग तालमेल कर्ता ने किया है। नाटक में रचनाकार ने स्पष्ट किया है कि, संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार यहाँ प्रयोग नही किया है। किन्तु वर्तमान की जो गुर्जर रंगभूमि है, उसके नाटकों का यहां अनुसरण किया गया है। आंग्लभाषा में जो नाटक लिखे गए, उसके भी संस्कार यहां मिल जाते हैं। क्योंकि जो मनुष्य के मन को संस्कृत करें वही नाटक कहा जाता हैं। नाटक में प्रयुक्त पद के अर्थ स्पष्ट रहे, ऐसा उन्होंने प्रयत्न किया है। ऐसे करने से युग परंपरा से जो प्रथा चली आई है। उसका वह त्याग कर रहे हैं, इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है। दूसरा यह भी कहते हैं कि, पाणिनि आदि व्याकरण के वह अध्येता नहीं है अथवा रूढ़ी अनुसार उन्होंने संस्कृत भाषा का संस्कार नहीं प्राप्त किया है।[३] किन्तु उन्होंने समाज दर्शन करवाया है। रंगभूमि के प्रति सामाजिक अभिगम कैसा दिखता है ? वही बताया है।

अन्य जगह नाटककार उदाहरण देते हैं कि, जल का समूह प्राप्त करके जलधर अपना जल वर्षा के रूप में पृथ्वी को देते हैं। ऐसे ही पुत्री को भी अन्य के हाथों में देना चाहिए। लेकिन जलधर का भी एक नियम है कि, वह शुष्क मरुस्थल को त्याग करके ऊंचे पर्वत पर ज्यादा बारिश करते हैं। यानि कि पिता को भी स्वयं विवेक उपयोग करके कोई अच्छे, ऊंचे खानदान में अपनी पुत्री को देना चाहिए।[४] तब जो निर्माण होता है वह दूध और शक्कर के मिश्रण जैसा है। जिसमें परस्पर गुण इकट्ठे होकर सत्वशील पदार्थ का निर्माण होता है। वैसे हि सुचारू समाज का निर्माण होता है। अन्य एक भी उदाहरण उन्होंने दिया है कि, जैसे अनाज या धान्य देखकर कृषिकार उसका मूल्य प्राप्त करते हैं। वर्षा करके जलधर दूसरा जल ग्रहण करने लायक बनता है।[५] यह प्रकृति का एक नियम है। एक बाजू कुछ दे देते हैं, तो दूसरी और व्यक्ति अच्छे के लिए तैयार होता है। ऐसे प्रकृति सहज मार्ग पर मनुष्य चलना चाहिए।

भाषा की दृष्टि से देखे तो नाटक में कई जीवन प्रेरक सूक्ति मिलती है। अनेक जगह रचनाकार कहते है कि, बहुत अच्छे वृक्ष को छोड़कर कोयल किसी और जगह क्यों जाए? ऐसे ही नलिनी का मन जलाशय छोड़ के अन्य जगह आनंद नहीं पा सकता।[६] जैसे अग्नि का उपयोग अगर होता है, तो मनुष्य दाह ही पाता है। वैसे ही अगर गलती से कुछ कार्य प्राप्त करते हैं। तब नुकसान ही होता है। अगर विवेक से कुछ पाते हैं तो कुछ अच्छा फल भी प्राप्त होता है।[७] जैसे लता खुद के विकास हेतु सुदृढ़ वृक्ष को ही चुनती है। वही उसका आश्रय बनता है।[८] दूसरा कुछ दिखता नहीं, दर्पण में यदी धुल जमी हो तो प्रतिबिंब पड़ता नहीं, अगर दीपक न प्रकाशित हो तो हुतभुज स्वंय अपने आप उसमें आहुत हो जाता है। [९] इसके साथ चौथे अंक में कई सूक्तियां भी है, जैसे की जो व्यक्ति क्रोध पूर्ण है उसको सत्य दिखाई नहीं देता। संसार में दो व्यक्तियों के बीच प्रेम उत्पन्न होता है वह स्वयंभू है। इसका उत्पादन नहीं किया जा सकता।[१०] संसारमूलः स्नेहः नोत्पादनीयः स तू स्वयम्भूः (३.७ बाद) मानव सृष्टि भाव विशेष प्रधान होती है। भावामूला हि सृष्टिः (५.२० बाद)

नाटक में ज्यादातर वर्णन शब्द चित्र के रूप में है। जैसे के चौथे अंक में संध्या तेज, प्रथम अंक में अग्नि वर्णन, विवाह उत्सुक नारी का वर्णन,वृध्धत्व वर्णन शब्दचित्र के रूप में आता है। चौथे अंक के अंत में रचनाकार ने सांध्य तेज का चित्रात्मक वर्णन किया है। ऐसा भी लगता है की, रचनाकारने बहुत सोच समझ के एक नायक का जीवन जो समाप्त हुआ है। उसका प्रतीक लेकर संध्या-तेज का वर्णन किया है। वाचक नाटक को पढता है, तब उसके सामने अभिनय के बिना भी नाटक का दृश्यचित्र आ जाता है। वाचक के मन में भी यह नाटक चलने लगता है। नाटक में गद्य प्रमाण में सरल रखा गया है। उसमें प्रसाद दिखता भी है।

भाषा की सबसे बड़ी विशेषता रही है कि, अल्प प्रचलित नए शब्दों

का और गुजराती भाषा के कुछ शब्दों का संस्कृत करके एक नवीन प्रयोग नाटक में उन्होंने किया है। जैसे के 'छिन्ननासिक' यानी नाक कटा, 'अर्धचंद्रप्रदानेन' यानी गरदन पकड़ के खींचना, 'डलूंच' यानी तोड़कर, 'प्रबाधकपत्र' अथात् स्टे आर्डर 'लोहकंकणं' यानी बेडीयां गुजराती शब्द के प्रयोग संस्कृत नाटक में किए हैं। 'काबेर' यानि कोयल, चपटा, 'लतया' यानी लात मारना,'गणगणितं' यानी कानाफूसी करना,'बसमा' यानी साडी जैसे शब्द प्रयोग मिलते है। कभी-कभी विशिष्ट वाक्य प्रयोग भी देखे गए हैं। जैसे की मुख पर कपड़े को बाँध के ले जाना–'भा तोलय मां केशैः', 'मुखं करपटपूर्ण कृत्वा' आदि प्रयोग मिलते है।[११] रचयिता ने कई जगह प्रचलित ऐसी लोक भाषा और बांग्ला भाषा का भी प्रयोग किया है जैसे कि 'दर्पणयंत्र' यानी कैमरा 'त्रिपाठी' का यानी तिन पैरवाला टेबल आदि। इसे हम शब्दों का वैविध्य देख पाते है।

कभी-कभी दूषित व्याकरण का भी प्रयोग किया है। लेकिन उसके लिए स्वयं नाटककार कहते हैं, कि हम व्याकरण के अध्ययन कर्ता नहीं है और हम भाषा संस्कार से सुपरिचित भी नहीं है।[१२] अपने आप वह बात बता दी है की नाटक में लोक अनुरूचि रखने के लिए कभी-कभी व्याकरण के ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं,जो व्याकरण के विद्वान है उनको अच्छा न भी लगे। नाटक के उद्देश्य को बताते हुए,अंत में जो दो श्लोक दिए हैं। वह भरत वाक्य जैसे हैं। जैसे कि, किसी को भी कोई प्रकार का शुल्क विवाह में नहीं लेना चाहिए अथवा किसी के भी जठरजलन का कारण नहीं बनना चाहिए। देश प्रदेश में जाए और शुल्क वगैरह जो ग्रहण किए जाते हैं,वह ना करें। वृद्धो का विवाह सर्वत्र उन्मूलन करना चाहिए और संसार में कन्याओं का कुशल करना चाहिए तो ही हम संस्कारी बन पाएंगे[१३] कन्या की प्रगति के लिए यहा भी नाटककार ने नाविन्य रखा है।

कृति में अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्ति,प्रतिवस्तुउपमा अलंकार ध्यान

खींचते हैं। गद्य में उन्होंने उपमा उत्प्रेक्षा रूपक आदि अलंकार का प्रयोग किया है और पद्य में अतिशयोक्ति,विरोधाभास,विषम जैसे अलंकारों का प्रयोग किया है। नाटक में विविध छंद का भी प्रयोग किया गया है। शार्दुलविक्रीड़ित,अनुष्टुप, शिखरिणी आदि छंद है। फिर भी कहीं पर रचनाकार ने छंद भंग भी किया है। छंद की भाव प्रकट करने की शक्ति है। उसमें भी नाटककार में परिवर्तन किया है। जैसे की उर्मी के निरूपण में मन्दाक्रान्ता के बदले नाटककारने शार्दुलविक्रीड़ित, शिखरिणी और वर्णन के लिए मंदाक्रांता जैसे छंदों का प्रयोग कोई अलग ही छाया का निर्माण करता है। नाट्यशास्त्र ने भी स्वयं नाटक में कई छूट दे रखी है की, देश भाषा का प्रयोग अनुसार छंदों का प्रयोग करके अथवा विविध देश में जो चलता है इस प्रकार का की लिखावट अगर अच्छी हो तो वह नाटक बनता है।[१४]

संस्कृति का अर्थ है "संस्करण, परिमार्जन, शोध,परिष्करण अर्थात् ऐसी क्रिया जो व्यक्ति में निर्मलता का संचार करें1 संस्कृति जीवन की निर्मात्री है। जब की साहित्य देश की प्राकृतिक,सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के लिए आदर्श दर्पण है। विषमपरिणय नाटक मे संस्कृति क निरुपण है ही क्योंकि यह् समाज उत्थान के लिए लिखा हुआ नाटक है। प्रथम अंक उन्होंने कहा है, कि पिता के लिए कन्या लक्ष्मी स्वरुप है। उसको अन्य व्यक्ति को देने में पिता प्रमाण बनते हैं। इसीलिए कन्या विवाह पिता के विवेक की एक परीक्षा है, क्योंकि रत्न अपने आप समुद्र में पैदा होते हैं, वह समुद्र को पूछने जाते नहीं है। पिता को पूरा श्रृंगार करके अपनी कन्या को दूसरों के हाथ में सोपना चाहिए। धन कभी भी लेना नहीं चाहिए। यानी की कन्या विक्रय नहीं करना चाहिए और अगर पिता ऐसा करते हैं, तो वह कुल के साथ नरक में जाता है।[१५] कन्या के पिता अपने पुत्री को श्रेष्ठ व्यक्ति को दान में देते हैं। दान के विषय में जो लेनेवाला होता है। उसके आज्ञा के बिना दान ऊपर किसी अन्य का

अधिकार नहीं रहता है।

हमारी संस्कृति में भाग्य का भी महत्व है। नाटक में उल्लेख है की भाग्य हंमेशा हमारी जो इच्छा होती है,वही प्राप्त करता है। भाग्य को समय के पहले बदलना किसी के लिए शक्य नहीं है।[१६] अन्य जगह रचनाकार कहते हैं कि- जैसे अग्नि के स्पर्श बिना उसका स्वभाव हम जान नहीं सकते ऐसे ही कथा- वार्ता आदि से हम सुबोध होते हुए भी,अपने आप आत्मविश्वास से कौन बलवान होता वह हम जान नहीं सकते।[१७] दूसरी एक जगह कहां है कि- अगर मनुष्य के भाग्य से अनावगत होते हैं, फिर भी मनुष्य इस प्रकार देवलोक को प्राप्त करता है। अर्थात् शुभकार्य किया है और उसको भाग्य का पता नहीं है फिर भी वह कर्म और भाग्य के सिद्धांत के अनुसार देवलोक प्राप्त करता है। जीव का जो " नूतन नवीन कर्म करने के लिए है, उसके संबंध में प्रारब्ध की अपेक्षा न रखे तो अच्छा है। पुराण के भी कई-कई जगह उदाहरण दिए हैं जैसे की गौतम पत्नी अहिल्या पत्थर बन गई, शक्र भी शाप के कारण एक हजार आंख वाला हुआ जो अमृत पाता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है।[१८] सभी को संकट प्राप्त होता है, जैसे गंगा विष्णु को त्याग करके कृपण बनती है और शिव के सिर पर से गंगा अवतरित होती है,तब फिर श्री रूप प्राप्त करती है।

यह एक पारंपरिक नाटक से अलग नाटक है और दु:खांत भी है। सामान्यतः संस्कृत नाटक सुखांत होते हैं, लेकिन यहां दु:खांत दिखाने पर रचनाकार स्पष्ट करते हैं कि, कन्या विक्रय का उन्मूलन और जो समाज के विरोध में कार्य करते हैं। उनका विरोध हो इस कारण से नाटक दु:खांत है जो वाचक के मन में एक जगह बना देता है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि,लोगों को उपदेश देने वाला जो होता है वह नाटक कहा जाता है।[१९] इस प्रकार यह नाटक आधुनिकता के साथ साथ लोकोपदेश का भंडार है। भाषा की दृष्टी से नाविन्य प्रधान है। सांस्कृति यथार्थ निरूपण की दृष्टी से

हृदयस्पर्शी भी है।

पादटिप्पणी:-

१) तत्र मूढ़जनैक्ङीकृता रुढी: यौवनावस्थां गतयो: युवतियुवकयो: हृदयस्पर्शी – प्रेमभाव निरुपणेन तदङ्गत्वेन करुणदशादिप्रसङ्गात् वाचकजनस्य हृदयेनाद्रता नितेन तिरस्कारास्पदं कृता स्यादित्यस्माभि: करुणान्त: प्रयोगो योजित:। पृ.१३६, गुजरात के संस्कृत नाटककार

२) नैषा रङ्गभूमि कुट्टिनीशाला वा, यत्र स्थितस्त्वमेनां संस्पृश्य विटपात्रं नाटयसि। अङ्क-३.३ पहेले, गुजरात ना संस्कृत नाटककार, पृ-१३६

३) विषमपरिणयम् इत्येतन्नाटकम् संस्कृत नाट्यशास्त्र नियमादिन् अनुसृत्य न योजितम्। वर्तमानगुर्जर–रङ्ग्भूमौ नाट्यमानानां, विशेषत: आङ्ग्लभाषायां लिखितानां नाटकाना संस्कारै: संस्क्रियमाणेन मनस्यैव तन्नाटकं रचितमिति योग्य, नाट्ये प्रयुक्त-पदस्य अभिनीतार्थबोधकत्वात् एवं स्थिते,युगागतप्रथा त्यक्ता भवेदिति न किञ्चिदाश्चर्यकरं संक्षोभकरं वा गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ-१३४

४) लब्ध्वा तोयनिधेर्जलं जलधरं: संप्रात्पकाले निजां
वर्षा भागवतां तथा दुहितरं दातुं प्रवृत्तो भवेत्।
त्यक्त्वा शुष्कमरुस्थलं, गिरितरं पिनोन्नतं प्राप्नुयात्
दुग्धं शर्करया च स्वादु भवति, ज्ञातं न किं त्वया।। १.१३ विषमपरिणय,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार ,पृ-१३९

५) दत्वा धान्यकणान् कृषिवल इमान् गृहणाति तन्मूलयजम्
दत्वा वारि च वारिजाय जलधि: गृहणाति तत्शुल्कजम्।
पश्यैष प्रकृते: क्रमो-अयं विहित: क्षेत्रोद्भवस्येदृश:
कस्मात्तेन पथेन नानुगमनं कार्यं सदा मानवै:।। १.१७,विषमपरिणय,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार ; पृ-१३९

६) चूतं वृक्षं परित्यज्य कोकिला कुत्र गछति।
जलाशयाध्धि नान्यत्र रमते नलिनी मन:।। २.५,विषमपरिणय,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार ;पृ.१३९

७) वह्निता दुर्विनीतेन केवल दह्यते जगत्।

अनेनैव विनीतेन पश्येदं धार्यते तथा।। २.९. विषमपरिणय,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ -१३९

८) नारीं नरं समं दृष्ट्वा शङ्का क क्रियते त्वया।
संत्यज्य सुदृढं वृक्षं कमन्यमाश्रयेल्ल्ता।। ३.४ विषमपरिणय,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ-१३९

९) सूत्रस्य ग्रथना विनापि हृदयं बध्धं सदा दृश्यते
संक्राम्येत न यच्च दर्पणतले दृश्यते तद्विम्बितम्।
यद्दिप्तं न विभास्यते हुतभुजा संदिप्यते तत्-स्वयं
स्थानं स्याद्विपणेः कथं नु विरलः स्नेहः स्वयंभूः सदा।। ३.७ विषमपरिणय,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ -१४०

१०) संसारमूलः स्नेहः नोत्पादनीयः, स तु स्वयंभूः। विषमपरिणय ३.७ बाद मे,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ-१३७

-क्रोधपूर्ण मनः सत्यं पन्थानं न हि पश्यति। विषमपरिणय ४.२,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ-१३८

११)सान्ध्यतेज वर्णन ४.५, विवाह-उत्सुक नारी -१.७,८ ; अग्निवर्णन १.९, वृध्ध्त्व वर्णन १.१०
विषमपरिणय- गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ -१३५

१२) न वयं पाणिन्यादि-व्याकरणस्य अध्येतारः। न वा अस्माकम्-आधुनिक रुढ्यनुसारेण कृत संस्कृतभाषाध्ययेन भाषासंस्कारः सुलभः।। गुजरात ना संस्कृत नाटककार- पृ.१३७

१३)वार्तैषा प्रसुता च भारतजने देशात्प्रदेशगता
शुल्कादिग्रहनं च तत्र विहितं कुर्यात्समूलंगतम्।
वृध्धानां च विवाहकार्यकारणं सर्वांशमून्मुलयेत
संसारं युवतीजनस्य कुशलं कुर्यात्व संस्कारिणं।। ५.३७ विषमपरिणय,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार- पृ. १३६

१४)अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोत्कृभिः।
नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके।। नाट्यशास्त्र १७.४८

१५)अर्थो हि कन्या पितुरेव जातः तस्य प्रदाने जनकः प्रमाणम्।
कस्मै प्रदेयं निजशुक्तिजातं रत्नाकरः पृच्छति प्रमाणं किं समुद्रम्।। १.१२

अलंकृत्य निजकन्या देयात् न गृह्णीयाद् धनं लेशंपि।
स्वकुलमप्यात्मना सह पातयति नरके न चोद्धरति।। १.१५ विषमपरिणय,
गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ-१३९

१६) सुलभकोपः प्राकृतमानवः सुविनितौस्तु संयति चितैर्भाव्यं। २.८, विषमपरिणय

-दैवं सर्वदा। अभिलषितं न संपादयति। कदाचित् तद्विपरीतसंपादने-अपि तस्य मनोरथः। २.१२ बाद मे विषमपरिणय, गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ-१३७

१७) स्पर्शं विनाग्नेर्न हि तत्स्वभावो ज्ञातः कथाभिः विधैः सुबोधै।
एवं विधे कस्य भवेन्नु शक्तिः जातुं दशां तां हृदयस्य गुप्तां।। २.४ विषमपरिणय, गुजरात ना संस्कृत नाटककार- पृ .१३९

१८) मुग्धा शक्रनयेन गौतमवधूः शैल्यैव भूता च सा
शक्रस्याप्यभवंस्तनौ दशशतं छिद्राणि शापादेशः।
य पास्यत्यमृतं स एव लभते मृत्योर्विमुक्तिं तथा
मृत्युं वा विषयो लभेत विषजं लब्ध्वा न कः-अन्योजनः।। ३.१२ विषमपरिणय
गुजरात ना संस्कृत नाटककार; पृ-१४०

१९) धर्म्यं यशस्यं आयुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नात्यमेतद् भविष्यति।। नाट्यशास्त्र १.११५

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:

1) गुजरात ना संस्कृत नाटककार (गुजराती)
लेखक- डॉ. वासुदेव वि. पाठक, प्रकाशन- युनिवर्सिटि ग्रन्थनिर्माण बोर्ड, गुजरात राज्य, अहमदाबाद , आ-प्रथम, १९९६

2)नाट्यशास्त्र, vol -१,२ प्रकाशन –G.O.S, Baroda. First edition,1934, 1956

3) A New History of Sanskritliterature
Author- Krishnachaitanya, Pub.- Asian publishing house, Bombay

Edi-1,- 1962

4) A History of Sanskrit literature, A .B .Keith
Pub.-Oxford University, London, Edi-1, 1928

5) Sanskrit Drama of the Twentieth Century
Author– Usha Satyavrat, Pub- Sole Distribution: Meharchand lachhmandas, Edi-1, 1971

6) Article -loan words in Twentieth Century Sanskritliterature Indological Studies (A.D.Pushalkar commemoration Volume-3,), Author- Dr.S.G.Kantawala, Pub- Journal of the Department of Sanskrit, Delhi University, December-1975

7) संस्कृत साहित्य का इतिहास, लेखक- श्री.बलदेव उपाध्याय
प्रकाशन- शारदा प्रकाशन, वाराणसी, आ-१,१९६५

8) संस्कृत साहित्य का इतिहास, लेखक- श्री वाचस्पति गैराला
प्रकाशन-चौखम्बा विद्यामंदिर, वाराणसी, आ-१, १९६०

९)गुजरात नी रंगभूमि (गुजराती), लेखक- श्री हीरालाल काजी
प्रकाशन-सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय, अमदावाद, आ.-१, १९५१

१०)संस्कृत नाटको नो परिचय, लेखक- डॉ.तपस्वी एस. नान्दी
प्रकाशन- युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड, अमदावाद, आ.-१,१९७१

संस्कृत भाषा: वैशिष्ट्य

डॉ उषा मिश्रा
सहायक आचार्य, संस्कृत
डॉ. भीमराव अम्बेडकर राजकीय, महाविद्यालय, अनौगी, कन्नौज

भाषासु मुख्या मधुरा दिव्या गीर्वाणभारती।
तत्रापि काव्यं मधुरं तस्मादपि सुभाषित।।

संस्कृतम् नाम् दैवी वागन्व्याख्याता महर्षिणि:।
भाषासु मुख्या मधुरा दिव्या गीर्वाणभारती।।

(आचार्य दाण्डी- काव्यादर्श)१

संस्कृत भाषा गुरुतर होने के साथ-साथ वैज्ञानिक तत्त्वों एवं संतान रूपी कला-संस्कृति और सभ्यता को आवरित किए हुए है। यही संस्कृत भाषा का सबसे बड़ा वैशिष्ठ है, जितना हम इस भाषा का अध्ययन करते हैं उतना ही संस्कृति की विशेषताओं का आवरण स्वत: दूर होता चला जाता है। उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि गीर्वाण भाषा दैवीय, अलौकिक विशेषताओं के कारण सामान्य जन के समझ से परे हैं। बस हमें आवश्यकता है इसे पढ़ने लिखने और रहस्यमयी भाषा में निहित वैज्ञानिक तत्त्वों को समझने की क्योंकि इस भाषा को समझना इतना आसान भी नहीं है कि कोई भी व्यक्ति क्रीड़ा-क्रीड़ा में समझ सके, इसी भाषा में वेद रचे गए हैं, जिनके बिना ब्रह्मा जी भी सृष्टि निर्माण में(किंकर्तव्यविमूढ़) असमर्थ थे।२

इसप्रकार वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा जी वेद के बिना सृष्टि सर्जन में अधूरे थे। यदि हम वेद का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि वेद में एकमात्र प्रकृति एवं उसी के एक-एक तत्त्वों

का वर्णन है। अर्थात् सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया उसे व्यवस्थित प्रकार से संचालित करने के नियम एवं संरक्षित करने के उपाय के साथ ही साथ सृष्टि के प्रलय अर्थात् विनाश की प्रक्रिया का नियम विद्यमान है।३

वर्तमान समय में संस्कृत भाषा सुख, शांति और अव्यवस्थित समाज और समाज के प्रत्येक अंग के लिए उतनी ही महत्वपूर्ण आज भी है, जितना की वैदिक काल में हुआ करती थी। संस्कृत भाषा ही वह भाषा है जिसमें धरातल से लेकर चांद पर पहुंचने की बात की गई है। इसी भाषा में बड़े-बड़े ग्रन्थों का क्रान्त द्रष्टा ऋषियों- आचार्य ने नीव धरी और आवरण तैयार किया। हम संस्कृत भाषा का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि आधुनिक कवि भी कहीं ना कहीं प्राचीन ग्रंथो को आधार बनाकर आलोचनात्मक, समीक्षात्मक, विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक अध्ययन करके ही अपना नवीन दृष्टिकोण कुछ परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ मानव एवं विश्व कल्याण की भावना के उद्देश्य से उसे काव्य के रूप में निरंतर प्रकाशित कर रहे हैं। आज आधुनिक समय में भी अत्यंत तीव्र गति से प्राचीन ग्रंथो पर अन्वेषण का कार्य जारी है। इसका कारण है कि संस्कृत भाषा विविध प्रकार के विशेषताओं से युक्त तकनीकी पूर्ण है। इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता संस्कृति है। जिससे प्राचीन समय में संपूर्ण समाज निर्वाध गति से संचालित हो रहा था। इसी विषय पर इस अध्याय में प्रकाश डाला जाएगा विशेषतया वैदिक कालीन वर्णाश्रम व्यवस्था की कार्यशैली, उद्देश्य, और महत्व। वर्तमान में उसकी दशा-दिशा एवं प्रासंगिकता।

संस्कृत भाषा एवं उसमें निहित तत्त्व अपने आप में इतने सशक्त हैं कि यह किसी भी समाज देश एवं व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की क्षमता रखती है। देववाणी कहीं जाने वाली वर्तमान में संगणक के लिए सर्वोपयुक्त श्रेष्ठ भाषा के रूप में विश्व विख्यात संस्कृत भाषा भारतवर्ष को ही नहीं बल्कि अखिल विश्व को विकास के मार्ग पर ले जाने वाली संस्कृति

का वाहन है। जिसे संस्कृत का प्राण भी कहा जाता है। संस्कृत भाषा विश्व की पुरातन भाषा है क्योंकि देव भाषा होने के कारण स्पष्ट है कि सृष्टि उत्पत्ति काल से ही यह भाषा विद्यमान थी। इस भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद संहिता को माना जाता है। इसी भाषा में महर्षि पाणिनि का स्पष्ट व्याकरण और वर्णमाला की वैज्ञानिकता के कारण सर्वश्रेष्ठता स्वत: प्रमाणित हो जाती है।४ संस्कृत भाषा मात्र स्वविकसित भाषा ही नहीं बल्कि यह परिमार्जित भाषा भी है। संस्कृत भाषा सभी भाषाओं में अकेली ऐसी भाषा है, जिसका नामकरण उसके बोलने वालों के नाम पर आधारित नहीं है। संस्कृत भाषा को संस्कारित करने वाला कोई साधारण भाषाविद नहीं अपितु महान व्याकरणाचार्य महर्षि पाणिनि ,आचार्य कात्यान एवं महर्षि पतंजलि जी है।५ इन तीन ऋषियों ने आपसी सहयोग एवं अपनी-अपनी कुशलता से योग क्रिया को भाषा में समाहित किया है, यह इस भाषा का रहस्य है। विश्व की सभी भाषाओं में एक शब्द का एक या कुछ ही रूप होते हैं, जबकि संस्कृत भाषा में ऐसा नहीं है संस्कृत में प्रत्येक शब्द के 21 रूप होते हैं। विश्व की सभी भाषाओं में एक वचन और बहुवचन का ही प्रयोग होता है जबकि संस्कृत भाषा में तीन वचन का प्रयोग होता है।६ संस्कृत भाषा को पढ़ने और मंत्रो का सस्वर उचित प्रकार से उच्चारण करने से स्मरण शक्ति में वृद्धि होती है तथा विविध रोगों से व्यक्ति को सुरक्षित रखती है। संस्कृत वाक्य में शब्दों को किसी भी क्रम में रखा जाए तो भी अर्थ का अनर्थ होने की संभावना जरा सा भी नहीं होती है क्योंकि सभी शब्द विभक्ति और वचन के अनुसार होते हैं। इसलिए क्रम परिवर्तन होने पर भी अर्थ सुरक्षित रहता है। संस्कृत भाषा एक ऐसा माध्यम है जिसे लिखने और पढ़ने से उंगलियों और जीभ में लचीलापन बना रहता है। संस्कृत मात्र भाषा ही नहीं बल्कि एक विचार है, एक सोच है, संस्कृत एक संस्कृति है, संस्कार है। संस्कृत में विश्व कल्याण की भावना है।

यदि हम ध्यान दें तो हिंदू, बौद्ध, जैन आदि धर्म के प्राचीन धार्मिक ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं। हिंदुओं, बौद्धों, जैनों के नाम भी संस्कृत भाषा पर आधारित होते हैं।७ हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं की वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली संस्कृत से निर्मित और साथ ही साथ भारतीय संविधान की बात करें तो भारतीय संविधान की धारा 343 धारा 348 तथा धारा 351 का सारांश यही है कि देवनागरी लिपि में लिखी और मूलत संस्कृत से अपनी पारिभाषिक शब्दावली लेने वाली हिंदी राज्य भाषा है।८

संस्कृत भाषा का प्राचीन साहित्य विशाल विविधता पूर्ण है संस्कृत भाषा आध्यात्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का आकर है। भारत के संविधान में संस्कृत आठवीं अनुसूची में सम्मिलित अन्य भाषाओं में विराजमान है त्रिभाषा में संस्कृत भाषा अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।९

यदि हम संस्कृत भाषा के वैशिष्ट्य की बात करें तो ऊपर्युक्त सभी विशेषताओं में संस्कृत सर्वश्रेष्ठ सर्वोपयुक्त है। यही संपूर्ण विश्व को एकता के सूत्र में बांधने का कार्य करती है । अब यह हमें देखना होगा की संस्कृति क्या है?

संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक√ कृ धातु सुड् तथा क्तिन् प्रत्यय से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है- "भली भांति विशुद्ध करना अथवा परिमार्जित करना चमकाना" आदि।१०

मानव के अंत: एवं बाह्य स्थितियों के परिष्कृत रूप को संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इन अन्तः एवं बाह्य परिस्थितियों में मानवीय विचार, भावनाएं, परंपराएं, भावी कल्पनाएं, वेश-भूषा, सामाजिक प्राकृतिक स्थितियां एवं आदर्श तत्त्व निहित है। वास्तव में संस्कार वंशानुगत तथा परंपरागत होने के कारण पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित होते रहते हैं, यही नहीं बल्कि देखा जाए तो संस्कृति व्यक्तिनिष्ठ ना होकर अनेकानेक व्यक्तियों द्वारा किया गया प्रयास होता है।११ किसी भी समाज

देश राष्ट्र के मानव, धर्म - दर्शन, ज्ञान - विज्ञान से संबंध क्रिया - कलाप तथा आदर्श सभ्यता संस्कार इन सभी का सामंजस्य ही संस्कृति है । वैदिक साहित्य में वर्णित संस्कृति व्यापक एवं शाश्वत है। इसकी प्राचीनता समाज में किसी से भी रहस्यमयी नहीं है--

"सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा"

वेदों में वर्णित भारतीय संस्कृति से संबंधित जितने भी तथ्य हैं, उनसे यही स्पष्ट होता है कि वैदिक कालीन जो भी सामाजिक व्यवस्थाएं (आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक, धार्मिक, नैतिक) तथा संस्कृतियां थी । उस समय के ऋषि मुनियों द्वारा तथा विद्वत समाज द्वारा स्वस्थ एवं पवित्र ऐसी सामाजिक व्यवस्था और ऐसी अध्यात्मवाद , आस्तिकता, त्यागभाव, कर्मवाद, आत्महनन, आत्मविश्वास, विश्व बंधुत्व की भावना साम्यवाद समन्वयवाद, सहिष्णुतावाद, आशा- वादिता, यम- नियमों का पालन, सम्मानभाव ऋणत्रय, आत्म दर्शन, पुनर्जन्मवाद ,धर्म परायणता, पुरुषार्थ चतुष्टय, वर्णाश्रम व्यवस्था) विशेषता वाली सामर्थ्यशाली संस्कृति का निर्माण किया गया था, जिसके रहते भूत, भविष्य, वर्तमान की सामाजिक व्यवस्थाएं सुचारू रूप से संचालित होती रहे। इन्हीं व्यवस्थाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था भी हुआ करती थी।

हम इस अध्याय में इसी बात की चर्चा करेंगे।

(1) वर्ण व्यवस्था

यदि भारतीय संस्कृति के स्थायित्व का सबसे स्थायी आधार खोजा जायें , तो हमारा ध्यान सर्वप्रथम वर्ण व्यवस्था की ओर जाता है । भारतीय मनीषियों ने सामाजिक व्यवस्था का व्यापक अध्ययन करके एक ऐसी व्यवस्था की संरचना की थी , जिसमें समाज और व्यक्ति को समान रूप से महत्व दिया गया था । मनीषियों का यह विश्वास समाजशास्त्रीय नियमों के पूर्णतया अनुकूल था कि समाज को संगठित किये बिना व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता और व्यक्ति को अपने विकास की

समुचित सुविधाएं दिये बिना सामाजिक व्यवस्था को स्थायी नहीं रखा जा सकता। उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हमारे समाज में जिन प्रमुख व्यवस्थाओं का निर्माण हुआ उनमें से एक "वर्ण व्यवस्था" है।

वर्ण यह शब्द "वृञ् वरणे धातु" से "घञ् प्रत्यय" से मिलकर निर्मित हुआ है। जिसका अर्थ है "वरण करना या चुनना" ।१३,

वर्तमान में सामान्यतया वर्ण और जाति दोनों शब्दों का प्रयोग समान अर्थों में ही कर लिया जाता है जबकि वर्ण - व्यवस्था एक व्यापक व्यवस्था है। जिसके माध्यम से सम्पूर्ण समाज को कार्यात्मक रूप से चार बड़े समूहों में विभाजित किया गया था, जबकि जाति व्यवस्था एक ऐसा संगठन है जिनका निर्माण हजारों जातियों संस्करण द्वारा हुआ है। वर्ण व्यवस्था के व्यापकता का अनुमान तो इसी बात से लगाया जा सकता है कि आज एक वर्ण के अन्तर्गत हजारों जातियों का निर्माण हो चुका है।

वर्ण का शाब्दिक अर्थ, वर्ण के शाब्दिक रुप से तीन सम्भावित अर्थ निकलते है-

1 - वर्ण करना

2 - रंग तथा

3 - वृत्ति के अनुरूप

ये तीन अर्थ निकलते हैं, किन्तु सामान्य रूप से वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रथम अर्थ वरण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। जो कि वर्ण या वरण यह शब्द वृञ् वरणे धातु और घञ् प्रत्यय से मिलकर निर्मित हुआ है जिसका अर्थ "चुनना अथवा व्यवसाय/कर्म/धर्म का अपने लिए चयन करना " ।

अतः इस प्रकार एक समान व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों के समूह को "एक वर्ण" कहा जा सकता है।

वैदिक कालीन समाज में व्यक्ति विद्या अध्ययन के उपरांत अपनी इच्छाशक्ति, स्वभाव, बल एवं गुण के आधार पर अपने लिए धर्म अथवा

कर्म का चयन करता था, तो उसे ही वर्ण कहा जाता था। तत्कालीन समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य, शूद्र ये चार वर्ण हुआ करतें थे।

ऋग्वेद में चारों वर्णों की उत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहु राजन्य: कृत:।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य:पदभ्यां शूद्रो अजायत्।।

(ऋग्वेद 10/90/12 मंत्र)१४

इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि यह भारतीय चातुर्य वर्ण व्यवस्था शाश्वत है। वर्णों के उत्पत्ति का प्रमाण ऋग्वेद के पश्चात यजुर्वेद के 31वें अध्याय के 11वें मंत्र में बतायी गई है।१५

यह वैदिक कालीन सामाजिक वर्ण व्यवस्था जन्मना ना होकर के कर्मणा थी। वेदों के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी शारीरिक क्षमता के आधार पर जो कार्य अपने लिए चुनता था उसी के आधार पर समाज में उसका वर्ण सुनिश्चित हो जाता था। अर्थात् व्यक्ति के गुण, स्वभाव, कर्म के आधार पर निर्धारित होता था-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणै।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 18/41 श्लोक)१६

अर्थात् श्री कृष्ण कहते हैं कि है अर्जुन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों के द्वारा विभक्ति किए गए हैं। वास्तविकता यह है कि वर्ण का अर्थ इसके शाब्दिक आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता यह एक लाक्षणिक शब्द है जो गुण और कर्म के माध्यम से सामाजिक स्तरीकरण को एक दृढ़ चरित्र प्रदान करता है। इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख "श्रीमद्भागवत गीता के चतुर्थ अध्याय" में प्राप्त होता है। जिसमें श्री कृष्ण ने कहा है कि-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टिं गुणकर्मविभागश:।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।।

(4/13)१८

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों का समूह गुण और कर्मों के विभाग पूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि रचना आदि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू अकर्ता ही समझ।

इसका तात्पर्य यह है कि सभी मानव जन्म के समय शूद्र होतें थे , किन्तु विद्याध्ययन के पश्चात् जो व्यक्ति जिस कार्य में अभिरुचि रखता था वह उसी वर्ण के अंतर्गत जाकर उसी के कार्य को संपादित करता था।

ब्राह्मण के स्वभाव ,गुण और धर्म:-

प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र पैदा होता है और वह अपने स्वभाव और गुण के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाता है। इस नियम के अनुसार जिन शूद्रों की रुचि अध्ययन-अध्यापन तथा तपश्चार्य योग साधन आदि के प्रति थी वे समाज में ब्राह्मण कह गए हैं-

अध्यापनमध्ययनं यज्ञनं याजनं तथा।
दानं प्रतिगृहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।।

(मनुस्मृति 1/88)१९

अर्थात् इस श्लोक में मनु ने ब्राह्मण के धर्म का वर्णन किया है कि वेद शास्त्र आदि समस्त विद्यायें एवं रोजगार परख ज्ञान पढ़ना पढ़ना यज्ञ करना एवं अन्य वर्णों को यज्ञ कराना स्वयं पात्र को दान देना और सुपात्र से दान लेना इस प्रकार जो इन उपर्युक्त कार्यों में अभिरुचि रखते थे, वे ब्राह्मण वर्ण के कहलाते थे श्रीमद्भागवत गीता में भी उल्लेख है-

शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभभावजम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 18/42)२०

अर्थात् अंत:करण का निग्रह करना, इंद्रियों का दमन करना, धर्म पालन के लिए कष्ट सहना, बाहर भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराध

को क्षमा करना, मन - इंद्रिय और शरीर को सरल करना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना। वेद शास्त्रों का अध्ययन - अध्यापन करना और परमात्मा के तत्वों का अनुभव करना यह सब के सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म कह गये हैं।

क्षत्रिय के स्वभाव, गुण और धर्म

वैदिक काल में जो लोग वीर, साहसी, तथा शारीरिक रूप से हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ होते थे, जिनकी रुचि युद्ध, प्रजारक्षण, शासन तथा युद्ध से पलायन न करना आदि कार्यों में होती थी वह क्षत्रिय वर्ण के कहे गये है--

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं मुद्दे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 18/43)२१

ठीक ऐसा ही वर्णन वायु पुराण के 8/169 में भी प्राप्त होता है।२२

वैश्य के स्वभाव, गुण और धर्म

इसके अतिरिक्त जिन शूद्रो की रुचि कृषि पशुपालन वाणिज्य आदि व्यवसायों में होती थी वह वैश्य वर्ण के कहलानें लगे ---

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(श्रीमदभगवदगीता 18/44)२३

यहां इस स्लोकांश में वैश्य के स्वाभाविक कर्म का वर्णन किया गया है । महाभारत में कहा गया है कि दान देना, अध्ययन करना, यज्ञ करना, तथा पवित्रता पूर्वक धन का संग्रह करना, वैश्यों का धर्म है।२४ वैश्य उद्योग में लीन रहकर अपने पिता के समान ही पशुओं का पालन करें क्योंकि प्रजापति ब्रह्मा ने पशुओं का भार वैश्यों को ही सोपा है। इस संदर्भ में महाभारत से ही यह भी स्पष्ट होता है कि वैश्य पशुओं से प्राप्त आय में से केवल उतना ही धन अपने पास रखें जितना आजीविका के लिए आवश्यक हो। मनुस्मृति में भगवान मनु ने भी वैश्यों के सात कर्तव्यों वर्णन किया है कि ---

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।

(मनुस्मृति 1/90)२५

शूद्र के स्वभाव, गुण और धर्मः-

इसके अतिरिक्त जो लोग उपर्युक्त स्वभाव गुण वाले नहीं थे या फिर उन कर्मों में रुचि नहीं रखते थे । वह सब समाज की सेवा सुश्रुवा करके जीवनयापन करने में रुचि रखते थे, वह शूद्र वर्ण के कह गए। श्रीमद्भगवत गीता में शूद्रों का स्वाभाविक कर्म बताया गया है कि-

परिचर्यात्मकं कर्मं शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।

(18/44)२६

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में क्रमशः-

तपसे शूद्रम् (यजुर्वेद 30/5)२७

तपो वै शूद्रः (शतपथ ब्राह्मण 13/6/2/19)२८

इन उपर्युक्त मंत्रांशो में शूद्रों के परिश्रमी होने का संकेत किया गया है।

वर्ण व्यवस्था प्राचीन काल से ही भारत देश में प्रचलित थी क्रांत द्रष्टा ऋषियों ने समाज के कार्यों को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिए गुण एवं कर्म के आधार पर ही इस व्यवस्था की स्थापना की थी। जिसके रहते किसी भी व्यक्ति में अपने कार्य को लेकर हीन भावना नहीं होती थी। इच्छा अनुसार कार्य का वरण किया जाने के कारण व्यक्ति हंसी खुशी कार्य को संपादित करता था और स्वस्थ रहता था।

इस प्रकार वेद - पुराणों में वर्णों की उत्पत्ति एवं उनके कार्यों का बंटवारा किया गया था, किंतु कुछ विद्वान वर्ण व्यवस्था का उद्गम रंग के आधार पर मानते हैं। इनका मानना है कि आर्य लोग गौरवर्ण के थे तथा अनार्य लोग श्याम वर्ण के थे किंतु ज्यादातर विद्वान इसको निराधार मानते

हैं। महाभारत क शांतिपर्व के 65 में अध्याय में एक उल्लेख प्राप्त होता है कि आर्यों के समान अनार्यो में भी चार वर्णों का विभाजन था।२9

वास्तव में हम देखें तो वर्ण व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का अभिन्न अंग हुआ करता थी। हम किसी भी समाज की व्यवस्था को तभी तक बनाए रख सकते हैं जब तत्कालीन समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के विभिन्न अंगों में कार्यों का उचित विभाजन तथा नियमन किया गया हो। वैदिक काल में वर्ण की उत्पत्ति उसकी स्वभाव और कर्म पर आधारित थी ना की जन्म पर।

वेदव्यास ने महाभारत के एक स्थल पर लिखा है कि ब्रह्मा ने विश्व के विभिन्न वर्णों का निर्माण व्यक्ति के कर्म विशेष पर ही किया है--

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।

(महाभारत 12 शान्तिपर्व - 186)३०

अर्थात वर्णों में कोई भेद नहीं, सभी ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण समान है। सभी मनुष्य ब्रह्म से सर्वप्रथम उत्पन्न हुए उसके बाद कर्मों से अलग-अलग वर्ण भाव को प्राप्त हुए।

प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था ऐच्छिक कर्मों पर आधारित होने के कारण सभी वर्णों में किसी भी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं हुआ करता था। समाज में सभी वर्णों का अपना-

अपना सामाजिक महत्व था। कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा अनुसार कर्म परिवर्तन के माध्यम से अपने वर्ण का परिवर्तन कर सकता था, जैसे - अपने कर्मों के द्वारा कोई भी क्षत्रिय व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त कर सकता था अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय वर्ण को, वैश्य क्षत्रिय वर्ण को धारण कर सकते थे, जैसे विश्वामित्र ने अपने तपोबल से क्षत्रिय वर्ण से ब्राह्मण वर्ण को धारण किया था ।इसी प्रकार सभी वर्णों को वर्ण परिवर्तन की स्वतंत्रता प्राप्त थी। मनुस्मृति में भी भगवान मनु ने भी यही लिखा है --

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।।

(मनुस्मृति 10/65)३१

आपस्तम्ब धर्मसूत्र भी कर्म को वर्ण का आधार मानता है ना कि जन्म को, यहां पर भी वर्ण परिवर्तन की चर्चा की गई है—

धर्मचर्यया जघन्यो -------जाति परिवृत्तौ।।३२

किंतु श्रीमदभागवत पुराण में कहा गया है कि निम्न वर्ण का पुरुष बिना आपातकाल के उत्तम वर्ण की वृत्तियों का अवलंबन ना करें, लेकिन आपात विपत्ति कालीन स्थिति में सभी वर्ण सभी प्रकार की वृत्तियों को स्वीकार कर सकते हैं।३३

महाभारत में वर्ण से संबंधित एक वर्णन प्राप्त होता है कि धर्मराज युधिष्ठिर से जल देवता ने एक प्रश्न पूछा था कि ब्राह्मण कौन है तब इस प्रश्न का उत्तर देते हुए धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा था कि जो सत्यवादी है, दानी है, दयालु है, क्षमाशील है, जो चरित्रवान है तथा जो दूसरों के प्रति सहानुभूति रखते हैं और जो तपस्वी है। उन्हीं को स्मृतियों में ब्राह्मण कहा गया है पुनः जल देवता ने पूछा यदि यह गुण व लक्षण किसी शूद्र व्यक्ति में पाए जाए तो वह शूद्र नहीं अपितु ब्राह्मण ही कहलायेगा और यदि किसी ब्राह्मण में इस गुण का अभाव हो तो वह ब्राह्मण नहीं अपितु शूद्र है। महाभारत के अनेक स्थलों पर वर्ण व्यवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। "शांति पर्व" में महर्षि भृगु ने अपने शिष्य भारद्वाज को उपदेश देते समय कहा है कि प्रारंभ में समाज में केवल एक ही वर्ण था किंतु बाद में यह वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र इन चार भागों में विभाजित हो गया था। ब्राह्मण का रंग श्वेत, क्षत्रियों का लोहित, वैश्यों का पीत और शूद्रों का श्याम है। रंगों के आधार पर वर्णों के विभाजन की क्लिष्टता का समाधान करते हुए भृगु ने पुन अपने शिष्य से कहा कि रंग वास्तव में वर्ण विभाजन का आधार नहीं है वास्तविक आधार तो व्यक्ति के गुण और कर्म ही है।

इस प्रकार आरंभ में यद्यपि ब्रह्मा ने सभी को एक समान उत्पन्न किया था, लेकिन कालांतर में जो व्यक्ति अपने धर्म से भिन्न विशेषताएं प्रदर्शित करने लगे उन्हें गुण कर्म के आधार पर ही भिन्न-भिन्न वर्ण प्राप्त हो गए, जो ब्राह्मण क्रोधी अभिमानी हो गए क्षत्रिय कहें जाने लगे, जो ब्राह्मण अपने धर्म के प्रति उदासीन होकर कृषि और पशुपालन में लग गये थे वैश्य कह गए, और जो ब्रह्मण असत्य का आचरण करते थे तथा जिसमें तामस तथा लोभ की प्रधानता हो गई उन्हें शुद्ध कहा जाने लगा। इसी प्रकार विभिन्न वर्णों के रंग, उनके गुण, धर्म की ओर संकेत करते हैं। इससे पता चलता है कि ब्राह्मण वर्ण का श्वेत रंग "पवित्रता" का सूचक, क्षत्रियों का लोहित रंग "क्रोध" और राजस गुण का प्रतीक है। वैश्यों का पीत रंग रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण को स्पष्ट करता है जबकि शूद्रों का काला रंग तमोगुण और अपवित्रता का सूचक है । ३४

इस प्रकार हम देखें तो जो पुराणों - स्मृतियों में कहा गया है कि "जन्मना जायते शूद्रः" जन्म से तो सभी मानव शूद्र पैदा होते हैं यही यथार्थ है। वर्ण तो व्यक्ति के स्वभाव, गुण और कर्म पर आधारित होते थे।

यदि हम दर्शनशास्त्र एवं प्राचीन परंपरा के अनुसार देखें तो सभी प्राणियों में तीन प्रकार के गुण पायें जाते हैं ३५ --

सत गुण

रज गुण

तुम गुण

साथ ही मनुस्मृति में भी कहा गया है कि किसी भी प्राणी का स्वभाव उसमें विद्यमान गुण की प्रबलता पर आधारित होता है----

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान्।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महानसर्वानशेषतः ।।

(मनुस्मृति 12/24)३६

आत्मा के सत्व,रज और तम तीन गुण है जिसे युक्त होकर यह संपूर्ण चराचर संसार में व्याप्त है।

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्।।

(मनुस्मृति 12/25)[३७] यद्यपि संपूर्ण सृष्टि ही इन तीनों गुणों से व्याप्त है फिर भी इनमें से सर्वाधिक प्रबल या अधिक मात्रा वाला गुण ही उसे देहधारी को स्वयं से युक्त कर देता है।

जैसें -- किसी भी प्राणी में तीनों गुण पायें जाते हैं, किन्तु तीनों गुणों में से किसी एक गुण तीव्रता होती है । यदि किसी व्यक्ति में सतगुण प्रबल हो तो वह सात्विक स्वभाव वाला ज्ञानी और यदि रज गुण की प्रबलता हो तो वह चंचल एवं रागद्वेषादि स्वभाव वाला, तथा तम गुण की प्रधानता हुई तो तमप्रवृत्ति अज्ञान वाला होगा यदि किसी मानव में सतगुण की प्रधानता हो तो वह ब्राह्मण, रज की हो तो क्षत्रिय वर्ण, तम मिश्रित रज गुण प्रधानता हो तो वैश्य और यदि रजमिश्रित तमो गुण प्रधान हो तो शूद्र स्वभाव वाला होगा।[३७]

भारतीय दर्शनशास्त्र के सृष्टि निर्माण प्रक्रिया में इस बात को सम्मिलित किया गया इससे भी यही स्पष्ट होता है कि संपूर्ण विश्व में चार प्रकार के स्वभाव, गुण, और कर्म वाले व्यक्ति होते हैं और इसी आधार पर वर्ण व्यवस्था को बनाया गया था और व्यक्ति के स्वभाव के अनुरूप ही उसे कार्य का दायित्व सौंपा जाता था।[३८]

अतः इस प्रकार हम प्रमाण पूर्वक कह सकते हैं कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति व्यक्ति के गुण, स्वभाव, कर्म पर ही आधारित थी ना की जन्म पर , किंतु कालांतर में वर्ण व्यवस्था कर्मणा ना होकर जन्मना कहीं जाने लगी वर्तमान में भी वर्ण व्यवस्था का आधार जन्मना ही शेष रह गया है चाहे व्यक्ति में वह गुण, स्वभाव, कर्म विद्यमान हो या फिर ना हो, यदि वह ब्राह्मण परिवार में पैदा हुआ तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय परिवार में जन्म

लिया तब क्षत्रिय, वैश्य कुल में जन्मा तो वैश्य, शूद्र परिवार में जन्मा तो वह शूद्र ही कहलाएगा।

हम दूसरे शब्दों में कहें तो समय परिवर्तन के साथ-साथ संवेदनशील मानव ने भी वर्ण व्यवस्था को जाति व्यवस्था की स्वरूप में परिवर्तित कर दिया है । जाति व्यवस्था का मूल 'वर्ण व्यवस्था' ही रही है, जब व्यक्ति के जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का निर्धारण किया जाने लगा। इसी समय से जाति व्यवस्था का उद्गम हुआ और जब एक ही वर्ण के अंतर्गत लोगों में विचारधाराओं मान्यताओं, एवं कार्य करने की प्रवृत्तियों का चलन होने लगा तभी से विभिन्न जातियों का उद्गम एवं विकास हुआ है। अध्ययन - अध्यापन यज्ञ आदि कार्य को करनें वाले ब्राह्मण वर्ण के लोग चारों वेदों का अध्ययन करने के कारण चतुर्वेदी,

तीन वेदों का पठन-पाठन करने वाले त्रिवेदी,तथा दो वेद का अध्ययन अध्यापन करने वाले द्विवेदी जाति के कहलानें लगें। इसी प्रकार कर्म एवं व्यवसाय के आधार पर अन्य वर्णों में भी अनेक जातियों एवं उपजातियों का जन्म हुआ और निरंतर उसका विकास होता चला गया।

इस प्रकार हम ध्यान दें तो पाते हैं कि वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था जो बिना भेदभाव के समाज के चहुंमुखी विकास एवं समाज के कार्यों को सुचारू और सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के उद्देश्य विकसित हुई थी । यह एक बहुत उच्च कोटि की व्यवस्था थी। वर्ण व्यवस्था तत्कालीन समाज में रह रहें किसी भी व्यक्ति को शिकायत का अवसर नहीं देती थी क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने इच्छा अनुरूप कार्य को चुनता हुआ वर्ण को निर्धारित करता था । वर्ण व्यवस्था के कारण किसी को भी निन्दा, शिकायत , अपराध बोध आदि का अवसर नहीं मिलता था। किंतु वर्तमान में वर्ण व्यवस्था के तहस - नहस अथवा स्वरूप परिवर्तित होकर जाति का रूप ले लेने के कारण चहुंओर हाय तौबा मची हुई है। इस प्रकार देश-काल परिस्थिति अनुसार विविध कारणों से जाति और

उपजातियां उद्भुद हो गई जो कि समाज के विकास में बाधा उत्पन्न करने लगी। वर्तमान समाज में यह व्यवस्था, जातिवाद, राजनीति का अखाड़ा बना हुआ है । सब एक दूसरे के प्रति खून के प्यासे हैं।

(2) आश्रम व्यवस्था

"वर्ण व्यवस्था" के पश्चात भारतीय संस्कृति की अगली विशेषता "आश्रम व्यवस्था" है। वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था का एक अद्भुत संबंध है। हम देखें तो बिना आश्रम के किसी भी वर्ण का व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता था। वर्णो के धर्म पालन के लिए "आश्रम व्यवस्था" अपरिहार्य मानी गई थी । भारतीय मनीषियों के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय) भारतीय संस्कृति के अंग है। पुरुषार्थ चतुष्टय में से मोक्ष को मानव जीवन का परम पुरुषार्थ माना गया है। आश्रम व्यवस्था परम पुरुषार्थ को पाने के लिए चार सीढ़ियां है जिसका क्रमशः पालन करते हुए व्यक्ति अपने "परम पुरुषार्थ मोक्ष" को प्राप्त कर लेता था। वैदिक कालीन आश्रम व्यवस्था ही ।एक ऐसी व्यवस्था थी जो कि मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करते हुए विकसित करती थी।

"आश्रम" शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक √श्रम् धातु से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न है। जिसका अर्थ " धर्मशाला, कुटिया, संन्यासियों का आवास या कक्ष , उद्योग करना अथवा परिश्रम करना"३९

"आ समन्तात श्रमो यंत्र सः आश्रम"४०

इस व्याख्या के अनुसार जहां सब प्रकार से श्रम किया जाता था, उसे आश्रम कहा जाता था । वैदिक कोश के अनुसार "आश्रम" का अर्थ विश्राम करनें का स्थान "४१

धर्मशास्त्र के अनुसार "आश्रम" शब्द 'श्रम' धातु से व्युत्पन्न ---

"आश्रमयन्ति अस्मिन् इति आश्रमः"४२

अर्थात "एक ऐसा जीवन स्तर जिसमें व्यक्ति आकर अधिकाधिक श्रम करता है"।

आश्रम से तात्पर्य " क्रिया स्थल " से है। शाब्दिक रुप से आश्रम का अर्थ 'रुकने' अथवा 'विश्राम करने के स्थान' से है अथवा हम इसप्रकार कह सकते है कि यह एक प्रकार का पड़ाव है, जहां व्यक्ति कुछ देर विश्राम करने के बाद वह अपनी आगामी यात्रा के लिए पुनः चल देता है। इसप्रकार आश्रम स्वयं एक लक्ष्य नहीं बल्कि यह लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता देने वाला एक साधन है।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आश्रम व्यवस्था का तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसमें व्यक्ति अनेक कार्यात्मक स्तरों पर विश्राम करता हुआ अपने अंतिम लक्ष्य मोक्ष की ओर बढ़ता है।

महाभारत में वेदव्यास ने कहा है कि जीवन के चार आश्रम व्यक्तित्व के विकास की चार सीढ़ियां हैं जिन पर क्रम से चलते हुए व्यक्ति ब्रह्म की प्राप्ति करता है (महाभारत शान्तिपर्व 242/15)।[४३]

वेदों में आश्रम व्यवस्था जैसे किसी शब्द का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है इससे यह स्पष्ट होता है कि यह एक उत्तर वैदिक कालीन व्यवस्था है आश्रम व्यवस्था के आरंभिक स्तर पर केवल तीन आश्रमों का ही उल्लेख हुआ है और इसमें भी वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम एक दूसरे से मिले - जुले थे जिन्हें बाद में पृथक कर दिया गया।

छान्दोयोपनिषद् में जीवन के तीन आश्रमों का ही उल्लेख हुआ है गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा ब्रह्मचर्य इससे यह पता चलता है कि इस समय ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन का पहला पड़ाव ना होकर यह अंतिम पड़ाव था (छान्दोग्योपनिषद् 2/23/1)[४४]

मनुस्मृति में भी केवल तीन आश्रमों का वर्णन हुआ है--

त एव ही त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः।।

(मनुस्मृति 2/230) [४५]

मनुस्मृति काल में ही तीन आश्रमों का विभाजन अधिक व्यवहारी और उपयोगी प्रतीत ना होने के कारण आश्रमों की संख्या चार कर दी गई और इनमें ब्रह्मचर्य को पहला आश्रम माना गया है। आश्रम व्यवस्था का निर्माण उत्तर वैदिक काल में अवश्यक हो गया था किंतु एक सुगठित रूप में इसकी व्याख्या सर्वप्रथम स्मृति काल में ही की गई है।

प्राचीन समय में व्यक्ति अपने 100 वर्ष के संपूर्ण जीवन में चार प्रकार से श्रम करता था-----

1- अध्यनात्मक

2-सर्जनात्मक

3-तपस्यात्मक

4-योगात्मक

जिनको क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, एवं संन्यास के नाम से जाना जाता था। प्रत्येक आश्रम का अलग-अलग उद्देश्य एवं कर्त्तव्य निर्धारित होता था। समाज के सुव्यवस्थित संचालन और संघटना के लिए ही आश्रम और पुरुषार्थ की ऋषि मुनियों के द्वारा एक सुन्दर परिकल्पना की गई थी। समाज की स्थिति मर्यादित एवं सुदृढ़ सशक्त बनी रहे। उसका क्रमिक विकास हो इसी उद्देश्य से आश्रम एवं पुरुषार्थ का नियमन किया गया था। इस व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति और समाज दोनों के नैतिक मूल्यों का अभिवर्धन, संरक्षण और चारित्रिक विकास ही स्पष्ट होता है।

आश्रम का आधार संस्कृति एवं व्यक्तिगत जीवन का संस्कार करना था क्योंकि व्यक्ति जन्म लेते ही ऋषि, देव, एवं पितृ ऋण से ऋणी हो जाता था। ब्रह्मचर्य का पालन करने से व्यक्ति ऋषि ऋण से, यज्ञ विधान करने से देव ऋण से तथा संतान उत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण से उऋण हो जाया करता था। प्रत्येक मनुष्य को तीनों प्रकार के ऋण से मुक्ति पाने के लिए आश्रम व्यवस्था का पालन करना आवश्यक माना गया था।

वेद और शास्त्रों में मनुष्यों को शतायु मानकर आश्रमों की व्यवस्था की गई थी। ऋषि मुनियों के द्वारा मनुष्य के लिए स्वस्थ रहकर 100 वर्षों तक जीवन जीने की कामना की गई है ---

"पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शतम्।"

(ऋग्वेद 7/66/6), ४६

(यजुर्वेद 36/24)४७

100 वर्षों के मानव जीवन की यात्रा को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए वैदिक कालीन ऋषि - मुनियों ने आश्रम को चार भागों में विभाजित करके प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्ष का समय निर्धारित किया था। पुरुषार्थ का तात्पर्य "जीव की अभिलाषा" धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि से मनुष्य जीवन को सफल बनाता था। मानव की यही चरितार्थता ही पुरुषार्थ सापेक्ष आश्रम व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य रहा है। आश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग रही है।

ब्रह्मचर्याश्रम (अध्यनात्मक)

ब्रह्मचर्य यह दो शब्दों ब्रह्म+चर्य से मिलकर बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ इसप्रकार है ---

ब्रह्म का अर्थ "महानता"

चर्य का अर्थ "चलना अथवा अनुसरण करना" अत: इसप्रकार "ब्रह्मचर्य" का तात्पर्य जीवन के उस स्तर से है जिसमें महानता के मार्ग पर चला जायें अथवा महान आत्माओं का अनुसरण किया जायें।४८

भगवान मनु के अनुसार मानव जीवन का महत्वपूर्ण एवं प्रथम भाग ब्रह्मचर्य कहलाता था। यह मानव जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रथम आश्रम है। जिसका आरम्भ उपनयन संस्कार से होकर समावर्तन संस्कार समाप्त होता था। उपनयन संस्कार को विद्यारंभ का प्रतीक माना जाता था।शास्त्रों में विभिन्न वर्णों के लिए जनेऊ संस्कार के लिए पृथक-

पृथक आयु निर्धारित की गई है। यही कारण है कि चारों वर्णों के लिए इस आश्रम में प्रवेश अलग अलग आयु में होता है।

ब्राह्मण का गर्भ 5,8 और 16वें वर्ष में अवश्य हो जाना चाहिए।

क्षत्रिय का गर्भ से 6, 11एवं 22वे वर्ष में

वैश्य का गर्भ से 8, 12 एवं 24वें वर्ष में अवश्य हो जाना चाहिए। (मनुस्मृति 2/37,38)४९

यज्ञोपवीत के तीन धागे तीन ऋणों (ऋषि, देव और पितृ ऋण) के प्रतीक होते थे। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि मनुष्य पर यह तीन ऋण जन्म से ही होते हैं ---

जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान जायते।

ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य: प्रज्ञा पितृभ्या एस वा अनृण:।

(तैत्तिरीय संहिता 6/3/10/5)५०

सामान्यत: ब्रह्मचर्य का अर्थ यौनिक संयम से समझा जाता है किंतु यौनिक संयम ब्रह्मचर्य का सबसे महत्वपूर्ण आधार अवश्य है लेकिन यही एकमात्र आधार नहीं है । इस आश्रम में सभी प्रकार के संयम जैसे अनुशासन, पवित्रता, सेवा, कर्तव्य - परायणता नैतिकता आचरण की शुद्धता और ज्ञान के संचयन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वास्तव में यह वही संयम है जो चरित्र का निर्माण करके उसे कर्म क्षेत्र में जाने के लिए तैयार करते हैं । इस प्रकार हम देखें तो ब्रह्मचर्य आश्रम कर्मक्षेत्र का पहला प्रशिक्षण स्थल है।

ब्रह्मचर्य जीवन में ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर माता - पिता से पृथक रहकर व्यक्ति गुरुकुल में विद्याध्ययन करते हुए व्यतीत करता था ----

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विज:।

(मनुस्मृति 4/1)५१

ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्मचारी की जीवनचर्या के विषय में बताता है कि विद्यार्थी बालक उपनयन संस्कार के उपरांत ब्रह्मचारी होकर गुरु के समीप जाता था और गुरु अपनी छत्रछाया में लेकर आशीर्वाद देते देते थे----

त्वं जीव शरद: शतं वर्धमान।
आयुष्यमान तेजस्वी वर्चस्वी भूया:।। ५२

अर्थात ब्रह्मचारी तुम वृद्धि को प्राप्त होते हुए 100 वर्षों तक जीवन धारण करो, तुम तेजस्वी होते हुए पूर्ण आयु को प्राप्त करो, आयुष्मान हो। गुरु के आश्रम में विद्यार्थी विद्याध्ययन करते हुए सादा सरल जीवन यापन करता था। महाभारत में ब्रह्मचारी के कर्तव्य- अकर्तव्य का उल्लेख किया गया है। श्रद्धा पूर्वक गुरु की सेवा करना और नतमस्तक होकर गुरु की आज्ञा का पालन करना गुरु के सो जाने के उपरांत सोना , गुरु के जागने के पूर्व शय्या त्याग देना ब्रह्मचारी का धर्म था। ५३

श्रीमद् भागवत पुराण में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का उल्लेख किस प्रकार से किया गया है---

ब्रह्मचारी गुरुकुले बसन्दान्तो गुरोर्हितम्।
आचरन्दासवन्नीचो गुरौ सुदृढ़सौह्द:।।

(श्रीमदभागवदपुराण 7/12/1) ५४

अर्थात गुरुकुल में निवास करते हुए ब्रह्मचारी को अपनी इंद्रियों को बस में रखकर दास के समान अपने आप को छोटा समझ गुरुदेव के चरणों में सशक्त अनुराग रखें और सदा उनके प्रति हित का कार्य करता रहे । गुरुकुल में भोजन की व्यवस्था ब्रह्मचारी को भिक्षाटन के द्वारा करनी पड़ती थी --

भवत्पूर्वे चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तम:।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्।।
मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्।।

(मनुस्मृति 2/49-50 ,पेज नं. 36, सम्पादक हरिशंकरशास्त्री)५५

इसके अतिरिक्त भिक्षा याचना करतें समय अलग - अलग वर्ण के ब्रह्मचारियों को भिन्न भिन्न प्रकार से भिक्षा की याचना करनी होती थी । जैसे --

ब्राह्मण - " भवति भिक्षां देहि "

क्षत्रिय - " भिक्षा भवति देहि "

वैश्य। - " भिक्षां देहि भवति " ५६

ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम भिक्षा याचना माता से करनी होती थी यदि माता उपस्थित नहीं है तो माता की बहन से भिक्षा मांगनी पड़ती थी।

ब्रह्मचारियों को मनुस्मृति के अनुसार प्रातः काल और सायंकाल में ही भोजन करने की अनुमति प्राप्त थी उसके मध्य एवं पहले और बाद में भोजन नहीं कर सकते थे। (मनुस्मृति 2/56)५७

ब्रह्मचारी नियमित पलाश दंड, मृग चर्म, मेखला, कमंडल, आदि वस्तुओं को सदैव अपने वेशभूषा के अंतर्गत धारण करते थे अथवा अपने पास रखते थे। इन सभी बातों का मनुस्मृति द्वितीय अध्याय में विस्तार पूर्वक उल्लेख प्राप्त होता है मनुस्मृति में किस वर्ण का व्यक्ति किसी वस्तु की बनी कौन सी चीज धारण करेगा इसका भी उल्लेख प्राप्त होता है ब्रह्मचारी का जीवन अत्यधिक अनुशासित होने के कारण इनके जीवन में नृत्य, संगीत, वाद्ययंत्र, इत्र, गंध, मल, उपानत, छत्र, अंज्जन आदि का निषेध किया गया था। गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी को मन, वाणी और कर्म से संयमी होने का नियम था और गुरु के अनुशासन में रहकर वेदांग आदि की शिक्षा ग्रहण करनी होती थी।

मनुस्मृति के अनुसार स्त्रियों के भी वो सभी संस्कार किए जाते थे जो पुरुष वर्ग के लिए किए जाते थे अंतर मात्र इतना था कि इनका संस्कार बिना मंत्रों का होता था -----

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थे शरीरस्य यथाकालं यथा क्रमम्।।

(मनु. 2/66)५८

वैवाहिक विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।।

(मनु. 2/67)५९

अर्थात स्त्रियों का विवाह संस्कार ही यज्ञोपवीत, पति और उसके परिवार सेवा ही अग्नि होत्र कर्म कहा गया है। जबकि तैत्तिरीय संहिता कहां गया है कि बालकों की भांति बालिकाओं का भी यज्ञोपवीत संस्कार होता था,यह भी मेखला पहनती थी--

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
पत्न्यै व्रतोपनयनम् ।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/3/3/2)६०

अथर्ववेद में कहा गया है कि बालिकाओं को गृह कार्य और ललित कलाओं की शिक्षा देकर सुयोग्य ग्रहणी बनाया जाता था जिस प्रकार विवाह से पहले बालकों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता था उसी प्रकार बालिकाएं भी ब्रह्मचारिणी रहती थी--

ब्रह्मचर्येण कन्यायुवानं विदन्ते पतिम्।

अथर्ववेद (11/5/8)६१

प्राचीन काल में ब्रह्मचारी के दो प्रकार होते थे--

1 - उपकुर्वाण- उपकुर्वाण ब्रह्मचारी उसे कहा जाता था जो कुछ वर्षों तक (25 वर्ष) गुरुकुल में वेदाध्ययन के बाद गुरु से गुरु की आज्ञा लेकर समावर्तन संस्कार के तदोपरांत गृहस्थमें प्रवेश करता था।

2 - नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह होते थे जो गुरुकुल में रहकर आजीवन गुरु से वेद अध्ययन तथा अन्य विषयों की भी शिक्षा ग्रहण करते थे अपने इंद्रियों पर नियमन करते थे।

इस आश्रम में ब्रह्मचारियों के सभी कर्तव्यों के निर्धारण के साथ ही साथ इस आश्रम के तीन उद्देश्य थे कि ब्रह्मचारी का---

शारीरिक

मानसिक

आध्यात्मिक विकास

बिना किसी बाधा के हो सके।

शारीरिक विकास इस आश्रम का प्रथम उद्देश्य है शारीरिक विकास के लिए ब्रह्मचारी पर केवल यौनिक नियंत्रण की नहीं लगाए गए हैं बल्कि उन्हें उन वस्तुओं से भी दूर रहने का निर्देश दिया गया जो उन में काम भावना को उद्दीप्त करती है इसके अनुसार एक ब्रह्मचारी पर मांस, पुष्प सुगंध, रस, अंजन, नाच - गाना और इसी प्रकार की सभी वस्तुओं के सेवन पर नियंत्रण लगाया जाता था।

दूसरा उद्देश्य विद्यार्थी का मानसिक विकास करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निर्देश दिया जाता था कि वह सत्य बोले, पवित्रता का आचरण करें, सत्य की खोज करें, और गहन अध्ययन में रुचि ले। भिक्षा मांग कर जीवन निर्वाह करना भी मानसिक गुणों की विकास के लिए ही था।

इस आश्रम का तीसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य ब्रह्मचारी का आध्यात्मिक विकास करना था मनु का कथन है कि आध्यात्मिक विकास के लिए अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, संतोष और पवित्रता आवश्यक गुण है इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी की दिनचर्या इस प्रकार से निर्धारित की गई थी कि जिससे वह वेदाध्ययन के द्वारा एक संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण कर सके।f

ब्रह्मचर्य आश्रम के दायित्वों का निर्वहन कर लेने के बाद ब्रह्मचारी को प्रतीक के रूप में स्नान करना होता था जिसके पश्चात ब्रह्मचारी को "स्नातक" कहा जाता था । इस स्नान के बाद ब्रह्मचारी एक विशेष संस्कार

के द्वारा गुरु का आशीर्वाद लेकर अपने घर जाता था । इस संस्कार को "समावर्तन संस्कार" कहा जाता था । इस संस्कार के बाद इस आश्रम का कार्यकाल पूरा हो जाता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्त्व ---

ब्रह्मचर्य एक ऐसा आश्रम है जिसमें किसी भी बालक को विद्यार्थी के रूप में उस समय प्रवेश करा दिया जाता है। जब उसके मन में विभिन्न प्रकार की जिज्ञासाएं इच्छाएं एवं महत्वा- कांक्षाएं उत्पन्न होती हैं जिसका सही समय पर समाधान न होने पर वह पथ भ्रष्ट हो जाता है और वह वो सब कुछ कर गुजरता है जो उसे नहीं करना चाहिए क्योंकि वह उसके स्वयं के और समाज के विकास के लिए रूकावट उत्पन्न करता है । 5 वर्ष से लेकर 25 वर्ष की आयु ऐसी ही होती है।

समाजशास्त्री श्री कपाड़िया का कथन है कि छात्रत्व जीवन का ऐसा समय होता है जिसमें वेग रहता है । यह समय तूफान और तनाव, आतुरता, शारीरिक शक्ति वर्धन, भावात्मक स्थिरता या यौनिक उत्तेजना और आत्म प्रदर्शन का समय होता है। इसीलिए कांत द्रष्टा ऋषियों ने विद्यार्थी जीवन को ब्रह्मचर्य के माध्यम से नियंत्रित करने का प्रयास किया है।६२ जिसमें रहकर विद्यार्थी अपनी सभी जिज्ञासाओं, इच्छाओं का समाधान गुरु के माध्यम से करता है जो कि समाज के लिए हितकर होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम ही वह आश्रम है, जिसमें रहते हुए बालक अध्ययन के साथ शारीरिक, सामाजिक, आध्यात्मिक एवं जीवन के समुचित विकास बिना किसी बाधा के करता है। यह आश्रम नियंत्रित व्यवहारों का एक अपूर्व समन्वय है। ब्रह्मचर्य आश्रम में भारतीय संस्कृति को स्थिर बनाने में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारत में सांस्कृतिक परंपराओं का हस्तांतरण सदैव मौखिक रूप से होता था। ऐसी स्थिति में समाज के एक वर्ग का कार्य इस संस्कृति का अध्ययन, संवर्धन और प्रसार के द्वारा जीवित रखना होता था। गुरुओं की अटूट श्रृंखला में बंधे हुए उनके शिष्य तथा

शिष्यों के शिष्य सब सामूहिक रूप से समाज का निर्माण करते थे। इस आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संस्कृति सामाजिक मूल्य, परंपराओं और जीवन दर्शन को सीखने का पर्याप्त अवसर दिया जाता था। शिक्षक और छात्रवृत्ति से संबंधित उन सभी समस्याओं का समाधान कर दिया जाता था । जिसका सामना आज हमें करना पड़ रहा है किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वभाव अभिन्न अंग है ब्रह्मचर्य के अंतर्गत ब्रह्मचारी की इंद्रियों पर नियंत्रण रखकर उनके स्वभाव को नियंत्रित करने का सर्वोत्तम माध्यम था। अतः इस प्रकार हम देखें तो मानव जीवन का जो प्रथम पड़ाव ब्रह्मचर्य आश्रम है व्यक्ति के उचित विकास और समाज के कल्याण के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

गृहस्थाश्रम (सर्जनात्मक)

ब्रह्मचर्य के पश्चात सामाजिक व्यवस्था का दूसरा गृहस्थाश्रम है। गृहस्थ का अर्थ शब्दकोश में बताया गया है कि " गृह में पत्नी के साथ रहनें वाला"। अनेकों शास्त्रकारों ने पत्नी को ही गृह कहा है। ऋग्वेद में कहा गया है कि - **" जायेदस्तम् "** ।

अर्थात जाया - पत्नी, इत - ही, अस्तम् - घर है। (ऋग्वेद 3/53/4)६३

इस ही को संस्कृत में कहा गया है --

" न गृहों गृहम् इत्याहुः, गृहिणी गृहमुच्यते " अर्थात घर को घर नहीं अपितु ग्रहणी को ही घर कहते हैं।६४

गुरुकुल में समावर्तन या दीक्षांत समारोह सम्पन्न होने के उपरांत ब्रह्मचारी गुरुकुल से अपने पैतृक गृह में प्रवेश करता है। ऋषि-मुनियों ने गृहस्थाश्रम के कुछ उद्देश्य निर्धारित किये थे। जैसें --- रति-सुख,सन्तति-सुख, सामाजिक उत्तरदायित्व आदि का निर्वहनादि करना। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में गृहस्थाश्रम के कार्यों की और संकेत किया गया है--

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढवः सुपुत्रा सुभगासति।।

(ऋग्वेद 10/85/25)६५

अर्थात है कन्ये! इस पितृकुल से आपको मुक्त करते हैं लेकिन पति कुल से आपको भली प्रकार सम्बद्ध करते हैं। हे कामना वर्षक इंद्रदेव यह वधू सुसन्तति युक्त और सौभाग्यवती हो । यहां पर सविता द्वारा सूर्या को, पिता द्वारा पुत्री को जो सेवा कार्य सौंपे जाते हैं उन्हें उनके उन उत्तरदायित्वों से उसे विवाह के समय मुक्त कर दिया जाता है। इस प्रकार हम देखें तो ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 85वें सूक्त के 20वें मंत्र से लेकर 47 मंत्र तक लौकिक विवाह का वर्णन कर गृहस्थ आश्रम की ओर संकेत किया गया है। संतान उत्पत्ति करना गृहस्थ का प्रमुख धर्म माना गया है। भगवान मनु का कथन है कि जिस प्रकार वायु से सभी प्राणी जीवन धारण करते हैं ठीक उसी प्रकार मानव गृहस्थ आश्रम जन्य ज्ञान द्वारा अन्य आश्रमों को जीवित रखना है, सभी आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों को गृहस्थ से ही पवित्र ज्ञान और भजन प्राप्त होता है इसलिए गृहस्थ आश्रम है सर्वोपरि आश्रम है । (मनुस्मृति 3/77, 78)६६

जिस प्रकार सभी छोटी और बड़ी नदियां अंत में समुद्र में ही स्थाई विश्राम पाती हैं । इस प्रकार सभी आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ के हाथों में ही सुरक्षा तथा स्थायित्व को प्राप्त करते हैं। गृहस्थ के लिए पांच प्रकार के यज्ञों का विधान किया गया था--

"ब्रह्मयज्ञ, देव यज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ"

जो गृहस्थ उपर्युक्त पांच यज्ञों को नहीं करता था उसका परलोक बिगड़ जाता था। महाभारत में भी -

पंच यज्ञास्तुयो मोहन करोति गृहस्थी ।
सत्य नायं न च परो लोकों भवति धर्मतः।।

(महाभारत शान्तिपर्व 146/7)६७

इसी आश्रम में व्यक्ति रहकर कार्यों को करते हुए ऋणत्रय से मुक्त हो जाता था । धार्मिक ग्रंथो का अध्ययन- अध्यापन करके ऋषि ऋण से, सपत्नीक यज्ञादि करके देव ऋण से , तथा संतानोत्पत्ति, श्राद्धकर्म, पितरो को पिण्ड वा तर्पण करके पितृ ऋण से उऋण हो जाता था।

गृहस्थ आश्रम का महत्व -----

महर्षि वशिष्ठ ने गृहस्थ आश्रम के महत्व के विषय में कहा है कि जिस प्रकार समुद्र, नाले, नदी, जलाशय आदि जल का एकमात्र साधन होता है। ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचारी हो या वानप्रस्थी या फिर संयासी सभी भोजनाच्छादन आदि अथवा जीवन यापन हेतु इसी आश्रम पर निर्भर करते हैं। प्राचीन काल में तीनों ऋणों की मुक्ति तथा पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि इसी आश्रम पर निर्भर करती थी।

वर्तमान के समान प्राचीन काल में गृहस्थ आश्रम मात्र भोग वासना का हेतु नहीं था, बल्कि दान पंच महायज्ञ त्याग, नैतिक आचरण एवं विभिन्न प्रकार के श्रम का आश्रय स्थल था। पति पत्नी मिलकर गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों का पालन करते थे।

गृहस्थ अपने धर्म, अर्थ और काम की त्रिवेणी है। गृहस्थ के सभी दायित्वों को देखते हुए ऐसा लगता है कि गीता के "निष्काम कर्मयोग" का सर्वोत्तम स्थल गृहस्थ आश्रम ही है।

चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को ही महत्वपूर्ण आश्रम क्यों कहा गया है इस पर चर्चा करें तो देखते हैं कि---

उपनिषदों, महाभारत तथा स्मृतियों में इस विषय पर किसी भी प्रकार का कोई मतभेद नहीं है कि गृहस्थ आश्रम के बिना मोक्ष की प्राप्ति उसी प्रकार संभव नहीं है जिस प्रकार वायु के बिना जीवन की संभावना नहीं की जा सकती है। गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों में महत्व देने का सर्वप्रथम कारण यह है कि-

यह आश्रम सार्वजनिक जीवन से संबंधित एक गृहस्थ ही अन्य तीन आश्रमों के व्यक्तियों की प्रत्यक्ष रूप से सहायता करता है।

***पुरूषार्थो की पूर्ति**

गृहस्थाश्रम ही एकमात्र ऐसा आश्रम है जिसमें चारों पुरुषार्थों की प्रतिपूर्ति की जा सकती है ब्रह्मचर्य आश्रम में केवल धर्म ही एक ऐसा पुरुषार्थ है जिसे प्राप्त किया जा सकता है । वानप्रस्थ आश्रम में धर्म और मोक्ष ही जीवन के प्रमुख पुरुषार्थ होते हैं । जबकि सन्यासाश्रम के अंतर्गत केवल मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ रह जाता है। गृहस्थ आश्रम सभी पुरुषार्थों का समन्वय केंद्र है जहां धर्म, अर्थ, काम के द्वारा मोक्ष का मार्ग प्राप्त किया जाता है ।

***विभिन्न यज्ञों का निर्वाह**

हिंदू जीवन में सभी प्रकार के ऋणों से उऋण होने के लिए यज्ञों का संपादन आवश्यक माना गया है। शास्त्रों मे पांच यज्ञ बतायें गये है जो कि मोक्ष प्राप्ति के लिए यह सभी यज्ञ एक साधन है । जिनका भली-भांति निर्वहन गृहस्थाश्रम में ही संभव है। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी देवताओं ऋषियों माता-पिता अतिथियों और बहुत से सामान्य जीवधारियों का ऋणी हो जाता है इस समय उसका एकमात्र कर्तव्य स्वयं को गुरु के लिए समर्पित करके आत्म नियंत्रण तथा बौद्धिक विकास की साधना करना होता है। मात्र गृहस्थ आश्रम ही एक ऐसा आश्रम है जिन में रहकर सभी ऋणों से उऋण होने के लिए पांचो महायज्ञों (देव यज्ञ, ऋषि यज्ञ , पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ और जीव यज्ञ) पूरे किए जा सकते हैं।

गृहस्थ आश्रम की महत्त्व को देखते हुए स्पष्ट होता है कि गृहस्थ आश्रम व्यतीत किए बिना स्वर्ग अथवा मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है क्योंकि अन्य सभी आश्रम किसी न किसी रूप में व्यक्ति कल्याण से ही सम्बन्धित है, जबकि गृहस्थ आश्रम मात्र समिष्टवादी है।

इसी आधार पर यह कहा गया है कि गृहस्थाश्रम ही वह आश्रम है, जिस पर संपूर्ण आश्रम व्यवस्था का अस्तित्व बना हुआ है।

अतः इस प्रकार भारतीय संस्कृति में सामाजिक आर्थिक धार्मिक तथा नैतिक सभी दृष्टिकोण से गृहस्थ आश्रम का अत्यधिक महत्व हुआ करता था । गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा गया है।

वानप्रस्थ (तपस्यात्मक)

आश्रम व्यवस्था की श्रृंखला के अंतर्गत वानप्रस्थ आश्रम तीसरे नंबर पर आता है । वानप्रस्थ का अभिप्राय है "वन में रहकर जीवन यापन करना या वन की ओर प्रस्थान करना"इससे स्पष्ट होता है कि वानप्रस्थ वह आश्रम है, जिसमें व्यक्ति अपने परिवार और कुल को छोड़कर निर्लिप्त भाव से संपूर्ण समाज को अपना कुटुंब समझकर उसकी सेवा करता है।

कोई भी व्यक्ति 25 वर्ष तक गृहस्थ आश्रम में कर्मार्जन तथा धर्मार्जन, (लोकैषणा तथा वित्तैषणा) के पश्चात सपत्नीक अथवा पत्नी के बिना ही परमात्मा के चिंतन मनन एवं तपस्या हेतु वानप्रस्थ में प्रवेश करता था। इस आश्रम की अवधि 25 वर्ष की मानी गई थी। (अर्थात 51 से लेकर 75 वर्ष)

भगवान मनु ने वानप्रस्थ आश्रम के विषय में लिखा है कि---

गृहस्थत्तु यदा ---------- वलीपलितमात्मनः।।

अपत्यस्यैव ---------- समाश्रेत ।। (मनु. 4/1)६८

अर्थात जब गृहस्थ जीवन का समय पूर्ण हो जाए, तब वानप्रस्थ का आश्रय लेना चाहिए। मनु का कथन है कि गृहस्थ देख लें कि उसकी त्वचा ढीली पड़ गई, बाल सफेद हो गयें , संतान के भी संतान हो गई तब वह सभी को छोड़कर वन की ओर प्रस्थान करें

गृहस्थतु यदा पश्चेद् वलीपलितमात्मनः।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रेत्।।

(मनुस्मृति 6/2)६९

वानप्रसथ आश्रम में व्यक्ति विभिन्न धर्मशास्त्रों आदि का अध्ययन - अध्यापन करता हुआ संयमित जीवन व्यतीत करता था । इसी आश्रम में तत्वदर्शी वानप्रस्थियों ने उपनिषद् दर्शनादि ज्ञान का आविर्भाव किया था । मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि--

तप:श्रद्धे येह्युपवसन्तयरणे,
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्त:।
सूर्यद्वारेण ते विरजा: प्रयान्ति,
यत्रामृत: सपुरूषो ह्यव्ययमात्मा।।

(मुण्डकोपनिषद् 2/11)७०

अर्थात भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर जो विद्वान शांत स्वभाव से अरण्य में निवास करते हुए तपस्या और श्रद्धा का सेवन करते थे वह पाप मुक्त होकर उत्तरायण पाठ का अमृत अथवा ब्रह्मलोक में जाते थे। इस आश्रम में वानप्रस्थी व्यक्ति के लिए दिन में एक बार भोजन करने का विधान किया गया, साथ ही वानप्रस्थी का भोजन अन्न का न होकर केवल कंदमूल एवं फलों पर ही आधारित था । वानप्रस्थ शरीर रक्षा के लिए बिना सिले वस्त्र या वल्कल वस्त्र धारण करते हुए भूमि पर शयन करना तथा समय-समय पर ग्राम नगरों में जाकर प्रवचन देना, इनका धर्म होता था। इसके अतिरिक्त गृहस्थ आश्रम के समान वानप्रस्थ आश्रम में भी गौ सेवा अतिथि सत्कार, अग्निहोम करना वानप्रथियों के लिए आवश्यक था । इस आश्रम का उद्देश्य तपस्या द्वारा पारलौकिक जीवन को सुधारना था क्योंकि अरण्य के एकांत में ही आध्यात्मिक एवं प्राण विद्या की साधना भक्ति कर सकता था । व्यक्ति वानप्रस्थ में प्रवेश करके मोह रूप का पूर्ण तैयार त्याग कर इंद्रियां निग्रह के अभ्यास द्वारा जनहित चिंतन में पवृत्त रहते हुए धार्मिक ग्रंथो का अध्ययन - अध्यापन करता था और संचित ज्ञान को समाज में लोगों को प्रदान करता था।

वानप्रस्थाश्रम का महत्व --

सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए इसका विशेष महत्व था क्योंकि वृद्धजनों द्वारा सामाजिक कार्य क्षेत्रों को युवा पीढ़ी पर छोड़ देने से समाज का संतुलन बना रहता था। संस्कृत साहित्य में आरण्यक ग्रंथ इन्हीं वानप्रस्थियों की देन है। इस प्रकार स्पष्ट होता है की वानप्रस्थ आश्रम अध्ययन, चिंतन, संयम, दान, धर्म और जीवों के प्रति दया का जीवन है।

संन्यास आश्रम (योगात्मक)

यह आश्रम मानव जीवन के अंतिम अवस्था का अंतिम आश्रम है इसमें व्यक्ति वानप्रस्थ के उपरांत प्रवेश करता था। सन्यास शब्द का व्युत्पत्ति ---

सम् + नि उपसर्ग पूर्वक √अस् प्रत्यय

से मिलकर हुई है। जिसका अर्थ है ---

"छोड़ना अथवा त्याग करना"७१

अर्थात सांसारिक विषयों तथा मोह - माया और अनुरागों से पूर्ण वैराग्य। इस आश्रम में व्यक्ति के लिए केवल एक पुरुषार्थ का पालन करना ही शेष रह जाता है, और वह पुरुषार्थ है" मोक्ष" इसकी प्राप्ति के लिए सन्यासी को सब कुछ त्याग देना होता है । इस आश्रम में सन्यासी ना किसी विशेष स्थान पर रहता है और ना ही वह अपने पास कोई वस्तु रखता है बल्कि वह भिक्षा मांगते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करता रहता है। इस आश्रम में एक सन्यासी का कर्तव्य होता है कि वह भिक्षा पर निर्भर रहे, अधिक भिक्षा ना मांगे जो कुछ मिले उसी में पूर्ण संतोष का अनुभव करें। मोटे वस्त्र पहने वृक्ष की छाया में सोये किसी का अनादर न करें। आत्मज्ञान की साधना करें, किसी जीव से घृणा ना करें, न मोह करें, भोजन केवल प्राण रक्षा के लिए ही करें। प्राणायाम के द्वारा

इंद्रियों का हनन कर दे और सुख-दुख का अनुभव न करें यही सन्यासी के लक्षण है श्रीमद् भागवत गीता में भी कहा गया है कि--

सुखेदु:खे समे कृत्वा लाभालाभो जयाजयौ ।
तत्वों युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 2/38)७२

आयु के इस अंतिम पड़ाव में मनुष्य सर्ववेदस यज्ञ में अपना सब कुछ दान करके सभी प्रकार से वैराग्य धारण करके मनसा, वाचा, कर्मणा निष्कलंक होकर, सन्यास आश्रम में प्रवेश करता था । संपूर्ण कार्यों एवं इच्छाओं का परित्याग कर देने के कारण ही इस आश्रम का नाम सन्यास आश्रम रखा गया था। इस आश्रम में प्रवेश करके व्यक्ति राग - द्वेष, माया-मोह, स्वार्थ, मत्सर आदि का पूर्णतया परित्याग करके अध्यात्म चेतना द्वारा ज्ञानार्जन में सन्यासी व्यक्ति प्रवृत्त रहता था। सन्यास अवधि में व्यक्ति शरीर धारण मात्र के लिए ही भोजन ग्रहण करते हुए संसार से विमुख हो जाता था ।सन्यासी के लिये नैतिक कर्तव्य आवश्यक नहीं था । इस आश्रम का भी समय 25 वर्ष निर्धारित था।

वास्तव में सन्यास एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति का सामाजिक अथवा सांसारिक जीवन बिल्कुल समाप्त हो चुका होता है। इसका तात्पर्य है कि सन्यासी की लौकिक दृष्टिकोण से मृत्यु हो जाती है। इसलिए सन्यास आश्रम में जाने के बाद संबंधी लोग उसकी अंत्येष्टि क्रिया कर देते हैं और स्वयं सन्यासी भी एक दूसरे नाम से पृथ्वी पर विचरण करता है, जिससे कि पहले के जीवन से उसका कोई नाता ही ना रह जाए।

किंतु मनु याज्ञवलक्य और जाबालि का मानना है कि यदि व्यक्ति ने गृहस्थ आश्रम में ही अपनी इंद्रियों को पूर्णतया नियंत्रित कर लिया हो क्षंतो वानप्रस्थ आश्रम के बिना वह सीधे सन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है।

संन्यास आश्रम का महत्व ---

कुछ विद्वानों का विचार है कि संन्यास आश्रम आत्मिक विकास के क्षेत्र में अवश्य ही महत्वपूर्ण है किंतु संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए यह बिल्कुल भी उपयोगी नहीं है, अन्य आश्रमों में रहते हुए व्यक्ति समाज की कुछ ना कुछ सेवा अवश्य करता है।

किंतु सन्यास आश्रम में व्यक्ति का समाज के लिए कोई भी योगदान नहीं रह जाता है लेकिन वास्तव में हमारी सांसारिक विशेषताओं के संदर्भ में यह आलोचना जरा सा भी उचित प्रतीत नहीं होती है भारतीय संस्कृति हमेशा से ही आध्यात्मिकता को सर्वोच्च स्थान देती आई है और मानवतावादी विचारधारा इसकी सबसे अमूल्य निधि रही है सन्यास आश्रम इस विशेषता का प्रतिनिधित्व करता है। जिसमें "वसुधैव कुटुंबकम्" के महान लक्ष्य की पूर्ति होती है यदि मनुष्य अपने संपूर्ण जीवन भर विषय - भोग और स्वार्थ में लीन रहे तब मनुष्य और पशु में कोई फर्क नहीं रह जाता है। सन्यास आश्रम इस संकुचित सीमाओं के अत्यंत ऊपर है कुछ विद्वानों का कथन है कि सन्यास आश्रम केवल पलायनवाद की प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। सभ्यता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति समाज में रहकर ही अपने अनुभवों से दूसरों को लाभान्वित करें भले ही वह भौतिक सुखों को त्याग दें।

आश्रम व्यवस्था के सिद्धांत

आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न आश्रमों की चर्चा कर लेने के पश्चात मानव मस्तिष्क में एक प्रश्न उठ सकता है कि वह कौन-कौन से आधारभूत सिद्धांत थे ?

जिनको देखते हुए इस महत्वपूर्ण "आश्रम व्यवस्था" का निर्माण किया गया होगा। तो वास्तव में प्रत्येक समाज के विभिन्न व्यवस्थाएं उस समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और जीवन दर्शन से प्रभावित होती हैं।

इस प्रकार हम देखें तो आश्रम व्यवस्था का निर्माण जिन सिद्धांतों की दृष्टिगत किया गया है वह इस प्रकार है----

*पंच ऋण-- देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, अतिथि ऋण, जीवन ऋण।

*पंच महायज्ञ-- देव यज्ञ, ऋषि यज्ञ , पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ, जीव यज्ञ।

*पुरूषार्थ -- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष,

*संस्कार -- 42 संस्कार और उसमें अत्यधिक महत्वपूर्ण 16 संस्कार

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि भारतीय जीवन दर्शन में ऋणों, पंचमहायज्ञों, पुरुषार्थों और संस्कारों का अत्यधिक महत्व होने के कारण ही "आश्रम व्यवस्था" जैसी एक समन्वित योजना का निर्माण किया गया। जिससे इन सभी उद्देश्यों को व्यवस्थित रूप से पूरा करके व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के अधिकतम अवसर प्रदान किया जा सके।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से आश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता --

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से आश्रम व्यवस्था के महत्व पर दृष्टि डालें तो हम देखते हैं की इस व्यवस्था के अंतर्गत

*मानव जीवन का समुचित विकास होता है।

*सामान्य कल्याण को प्रोत्साहन मिलता है।

मानसिक स्थिरता में यह व्यवस्था सहायक होती है ।

*व्यक्ति और समूह की पारस्परिक निर्भरता में सहयोगी है। समाजशास्त्री प्रभु का कथन है कि व्यक्ति और समूह के बीच पारस्परिक निर्भरता बढ़ाने तथा उसमें समन्वय करने के क्षेत्र में आश्रम व्यवस्था का महत्व सर्वोपरि है।

*बौद्धिक विकास का सर्वोत्तम आधार आश्रम व्यवस्था है ।

*आश्रम व्यवस्था एक व्यवहारिक व्यवस्था है। यह मानवतावादी समाज की स्थापना करने में भी आश्रम व्यवस्था के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है।

*मानवीय गुणों का विकास इस व्यवस्था के अंतर्गत उचित प्रकार से होता है।

इसके अतिरिक्त यदि हम सामान्य सरल भाषा में बात करें तो आयु क्रम के अनुसार ही मानव की आंतरिक प्रवृत्तियां जन्म लेती है। इसी को ध्यान में रखते हुए हमारे ऋषि- मुनियों ने मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त करके विविध प्रकार के कार्यों का संपादन करने का अवसर प्रदान किया था।

बाल्यावस्था में सांसारिक वस्तुओं के प्रति उत्सुकता की भावना जन्म लेती है, और इस उत्सुकता की भावना का समाधान ब्रह्मचर्य आश्रम में ज्ञानार्जन द्वारा ही संभव था। इसलिए सर्वप्रथम बालक को इस आश्रम में प्रवेश कराया जाता था।

युवावस्था प्राप्ति होने पर मानव मन सांसारिक भोग विलासों की ओर आकर्षित होता था तब उसे समय विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर कर इस समस्या का समाधान किया जाता था।

50 वर्ष के पश्चात मानव की इंद्रियां शिथिल होने लगती थी और उसका मन संसारिक भोग- विलासों से भर जाता था तो उसका मन में परलोक की चिंता जागृत हो जाती थी । इस समस्या का समाधान करने के लिए गृहस्थ वातावरण को त्याग कर अरण्य में निवास का विधान किया गया था ।

25 वर्ष का समय वानप्रस्थ में व्यतीत करने के पश्चात मानव ब्रह्म साक्षात्कार हेतु योग साधना में प्रवृत्त होकर मोक्ष प्राप्ति हेतु सचेत होता था तब वह संन्यास में चला जाता था।

अतः इस प्रकार एक व्यक्ति को जिस समय जिस वस्तु के आवश्यकता हुई, जिज्ञासाएं उत्पन्न , इच्छाएं उत्पन्न हुई उन सभी की संपूर्ति एक-एक आश्रम में प्रवेश कराकर कराकर उत्तरदायित्व सौंप करके समाज में विविध प्रकार के अपराधों को रोका गया और उनके व्यक्तित्व का

विकास करने का उचित अवसर प्रदान किया गया था। जिससे सम्पूर्ण समाज निर्बाध गति से चलता रहें।

अत: इसप्रकार उपर्युक्त वर्णाश्रम व्यवस्था की कार्यशैली को देखकर समझ कर यही स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में अथवा वैदिक कालीन वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है, क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था अत्यंत सामाजिक एवं वैज्ञानिक व्यवस्था थी। वैदिक कालीन समाज में व्यष्टि एवं समष्टि के बीच सामंजस्य बनाए रखने के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था के रूप में एक श्रेष्ठ जीवन क्रम को तैयार किया गया था। जिससे समाज में अव्यवस्था न फैलने पायें।वर्णों के माध्यम से समाज को व्यवस्थित करके सभी वर्णों का क्रम निर्धारण किया गया था जिससे कार्य को लेकर लोगों के मध्य किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं होता था, साथ ही प्राचीन काल में विख्यात जीवन शैली में वर्ण व्यवस्था के माध्यम से सभी के कार्यों को क्रम से विभाजित किए गए था। किस आयु में व्यक्ति किस कार्य का संपादन करेगा, इसके लिए आश्रम व्यवस्था निर्मित की गई थी। वर्णाश्रम व्यवस्था यह दोनों ही समाज की सुदृढ़ व्यवस्था थी। भारत का सामाजिक संगठन वर्णाश्रम के सुदृढ़ मूलाधार पर स्थित होने के कारण यह भारतीय संस्कृति के मेरुदंड थे। भारतीय मनीषियों के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय में से मोक्ष को मानव जीवन का परमलक्ष्य माना गया था। आश्रम व्यवस्था इस लक्ष्य को पाने की क्रमिक सीढी थी।

यदि हम वैदिक कालीन सामाजिक स्थिति और वर्तमान कालीन सामाजिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि प्राचीन कालीन वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर तत्कालीन समाज पूर्ण रूपेण सुव्यवस्थित था। इसकारण उस समय में अधिकांशत: समाज में असंतोष, असंतुलन तथा संघर्ष नहीं था, किंतु कालांतर में जैसे-जैसे आश्रम व्यवस्था निष्क्रिय होती गई वैसे-वैसे समाज में अशांति एवं संघर्ष जन्म लेने लगी।

वर्तमान समय में वर्णाश्रम व्यवस्था पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो चुकी है। वर्ण - आश्रम व्यवस्था का प्राचीन रूप बिल्कुल बदल चुका है। यही कारण है कि भौतिक समृद्धि इस अव्यवस्था को बढ़ाने में और अधिक योगदान दिया है। उसी का दुष्परिणाम है कि आज वर्तमान में सर्वत्र अशांति संघर्ष और अराजकता का बोलबाला हो गया है। देखा जाए तो आज के युग में सामाजिक जीवन में समरसता लाने के लिए पुनः समाज में प्राचीन व्यवस्था को मान्यता दी जानी चाहिए।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-

1. काव्यादर्श
2. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ कपिलदेव द्विवेदी निदेशक विश्व भारतीय अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर भदोही, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पोस्ट बाक्स नं. 1149, विशालाक्षी भवन चौक वाराणसी- 221001
3. वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ पारसनाथ द्विवेदी, प्रकाशक- चौखम्भा सुभारती प्रकाशन के. 37/117, गोपाल मन्दिर लेन वाराणसी 221001
4. ऋग्वेद संहिता, सायणाचार्यकृत भाष्यसंवलिता सदैव हिन्दी भाषा नुवादसमन्विता, अनुवादक पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रकाशक- चौखम्भा विद्याभवन
5. अष्टाध्यायीसूत्रपाठ महर्षि पाणिनि प्रणीत, वृत्तिकार श्रीनारायण मिश्र काशी विश्वविद्यालय, प्रकाशक- गोकुल भवन के. ,37/109, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी - 221001
6. भाषा विज्ञान, डॉ कर्ण सिंह अध्यक्ष संस्कृत विभाग, मेरठ कालेज मेरठ, साहित्य भण्डार शिक्षा साहित्य प्रकाशक सुभाष बाजार मेरठ, 250002
7. धम्मपदं
8. भारतीय संविधान
9. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पद्म भूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय भूतपूर्व निर्देशक, अनुसंधान संस्थान संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, प्रकाशक शारदा निकेतन, 5बी, कस्तूरबा नगर, सिंगरा वाराणसी-

221010

10. संस्कृत-हिन्दी कोश - वामन शिव-राम आप्टे, नाग पब्लिशर्स, 11ए/यूं.ए. जवाहर नगर, दिल्ली 110007
11. संस्कृत साहित्य का इतिहास लेखक वाचस्पति गैरोला, प्रकाशक चौखम्भा विद्या
12. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, युवराज पब्लिकेशंस,42, लताकुंज, मथुरा रोड, आगरा-282002
13. संस्कृत- शब्दार्थ - कौस्तुभ, सम्पादक- स्व.चतुर्वेदी द्वारका- प्रसाद शर्मा एवं पं.तारिणी झा व्याकरणाचार्य, प्रकाशक श्री राम नारायणलाल बेनी प्रसाद, प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता इलाहाबाद - 211002
14. यजुर्वेद संहिता, श्रीमद्वाजसनेयि-माध्यन्दिन शुक्ल, व्याख्याकार पंडित ईश्वरचन्द्र, प्रकाशक - परि-मल पब्लिकेशन्स, 27/28, शक्ति नगर, दिल्ली - 110007
15. श्रीमद्भगवदगीता तत्त्वविवेचनी हिन्दी टीकाकार जयदयाल गोय-न्दका, प्रकाशक- गोबिंदभवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर 273005
16. मनुस्मृति , सम्पादक पंडित हरिशंकर शास्त्री, साक्षी प्रकाशन एस- 16, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032
17. वायु पुराण
18. महाभारत शांतिपर्व
19. आपस्तम्ब धर्मसूत्र
20. भारतीय दर्शन, लेखक-सम्पादक डॉ श्रीकान्त पाण्डेय, प्रकाशक रतिराम शास्त्री अध्यक्ष साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ-
21. संख्यिकारिका,ईश्वरकृष्णविरचित राजकिशोर सिंह, आगरा कालेज आगरा
22. वेदांतसार, श्रीसदानन्दविरचित, सम्पादक- पं. श्री रामगोविन्द शुक्ल, नव्य-न्याय-व्याकरण- साहित्याचार्य, विद्याभारती प्रकाशक, पोस्ट बाक्स नम्बर 1108, कचौड़ी गली वाराणसी 1, यू.बी.बग्लो रोड, जवाहर नगर दिल्ली-110007
23. वैदिक कोष

24. छान्दोग्योपनिषद, सानुवाद शाङ्-रभाष्य,मुद्रक तथा प्रकाशक, घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस गोरखपुर
25. तैत्तिरीय संहिता
26. श्रीमद्भागवत पुराण
27. तैत्तिरीय ब्राह्मण
28. अथर्ववेद संहिता, सम्पादक वेद-मूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशक - ब्रह्मवर्चस शान्तिकुंज, हरिद्वार (उत्तरांचल) अथर्ववेद संहिता - सायणाचार्य- कृत- भाष्यसंवलिता सदैव हिन्दीभाषानुवाद समन्विता, व्याकार: सम्पादकश्च पंडित राम-स्वरूप गौड़, प्रकाशक- चौखम्भा विद्याभवन, चौक बैट आफ बड़ो-दा भवन के पीछे, वाराणसी - 221001
29. भारतीय सामाजिक संस्थाएं, लेखक जी. के अग्रवाल, समाजशास्त्र विभाग, कुमाऊं विश्वविद्यालय, नैनीताल, प्रकाशक आगरा बुक स्टोर: आगरा
30. ईशादि नौ उपनिषद् , व्याख्याकार हरिकृष्णदास गोयन्दका, मुद्रक एवं प्रकाशक- घनश्यामदास जालान , गीताप्रेस गोरखपुर मुण्डकोपनिषद्
31. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ जय किशनप्रसाद खण्डेलवाल, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, राजा बलवंतसिंह कालेज, आगरा, साहित्य भण्डार, शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक, सुभाषबाजार, मेरठ 250002

Sanskrit is a Boon for Human Life

Dr. Anagha Ghodke Jain

The Sanskrit word deh देह– means the body in its growing phase and sharer शरीर refers to the body in deteriorating phase. This shows the richness of Sanskrit in the sense that how a language creates awareness about one self. The healing power of language has been experience by many people.

Sanskrit was developed in the Vedic period. Four Vedas are written entirely in the Sanskrit language which records the knowledge of the Vedic period.

Scientifically, Sanskrit language is from Bharopiy (भारोपिय) family Latin, English, Rusi ,Greek, Farsi, Speni are languages with the same family. In India, Hindi, Marathi, Gujrathi, Oddiya, Telgu, Kannadi all languages related with the sanskrit.

- Pāṇini describes grammar and makes Sanskrit easy to learn and understand .
- **Sanskrit is a boon for human life, how** –

Being to be health:-

- **Def .of health:-** Health is a state of complete physical, mental and social well being.
- सत्वं रजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयोः गुणाः।

  तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥
- समदोषः समाग्नि च सर्वधातु मलक्रियः।

  प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधियते ॥

- **For Physical Health:-**

Sanskrit is essential to know the Ayurved. Sanskrit is the key To Ayurveda. Ayurveda is Upaveda of Atharva Veda.

- **ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमतिग्रहात्।** अ.हृ. १ /३

According to this lines, Ayurveda is a come from god **अ** and sanskrit is also god language .

The ancient Ayurvedic philosophy, medicines, herbal treatments, treatment techniques, life style modification procedure, and all medical guidelines were first written in Sanskrit. To know Ayurveda well, to know the Sanskrit is essential.

Both Ayurveda and Sanskrit are inter related to each other. A Sloka or Sutra is in the poetic form used in the Ayurvedic texts, enabling to really learn the source of nourishment and fullness of life through relation to Ayurveda through Sanskrit

Sanskrit word " स्वस्थ" referring to health, in its root sense signifies

"one who is settled in oneself" To remain healthy is to remain steady, immobile, and settled within.

Other sanskrit word chikitsa "चिकित्सा"- root sound kit(कित्) to be aware in its root sense means the aspiration to get the state of awareness of the sense within and the चिकित्सक" means spiritual healer, a master, a guide who could facilitate the process of the inner awareness for one who is in the fallen state of consciousness.

All the life in the universe, mobile, or immobile has a consciousness in it .And the purpose of sadhana is to awaken that devine consciousness to live a meaningful life.

Sanskrit alphabet (varnmala) constitute all the fundamental sounds of human body. Language is the manifestation of inner sound. So even by reciting the Sanskrit varnas causes healing like practicing anusvar (.) used as the dot above theletter. It is

pure nasal sound. and when used with vowel is equivalent to doing brahmari pranayam.

Similarly the sound of visarga (:) has the hissing sound when used with the vowel .The sound is produced by releasing the air which results in the activation the flow of prana . when articulated rightly it has the benefit of kapalbhati kriya.

Mantra yoga or the repeated practice of chanting mantras with complete faith, will inner harmony and devotionleads to the invocation and connect with the higher consciousness. The sound of om if chanted properly leads to immense harmony, higher connect and well being. Mantra has the power of "Jivanmukti" which means freeing oneself from the limited, narrow consciousness and ascending to higher devine consciousness. Chanting,"Om Shanti Shanti Shanti" consciously before the meal, while preparing the meal and after the meal, helps in peaceful digestion of food. It's important to eat in peace and offer the food as food is a mode for strengthening our physical instrument for the devine consciousness.

Sanskrit has also been shown to be beneficial in the treatment of speech disorders. According to research, learning a language enhances brain functioning and individual's academic performance, they score higher in areas such as Mathematics and science, which some people find challenging because Sanskrit improves memory and attension.

Congnitive neuroscience research at the university of Trento(Italy) shows his work that people who memorizelong Sanskrit texts have brains that literally expand and become better with sharper memory and cognitive skills.

Sanskrit mantras chanting improves immunity and helps to calm the mind.when you chant specific mantras,you apply pressure on your. Tongue, vocal cords, lips, palate and other bodily connecting points. It is in charge of numerous bodily processes, including immunity and the production of some happy harmones. Your immunity will greater if you are happy.

The mantras specific vibrating tones assist to stimulate harmones that soothe the mind and promote relaxation. It also aid concentration and so acts as a calming agent for mind.

One of the finest languages for artificial intelligence is Sanskrit.

There are number of discipline where saint employed Sanskrit including astronomy and medicine as well as maths and astrology to name a few. Due to its tight grammatical rules, it is regarded as the finest language for natural language processing. Sanskrit phrases, on the other hand, are never out of place or context a particular theme.

Sanskrit, according to a number of research centres and researchers, is the finest language for enhancing Artificial intelligence and may be used as a guide to proceed Refer to this NASA article, which claims that knowing Sanskrit will help a person better comprehend AI.

Some Sanskrit unique shloka as follows- this shlok has only all vyanjana (व्यंजन) in sequence but it is meaningful:-

कःखगीघा ङ् चिच्छौजाझाञ्ञोऽटौठीडढणः।

तथोदधीन पफ़र्बोभीर्मयोऽरिल्वाशिषां सह ॥

अर्थ– पक्षियों से प्रेम ,शुद्ध बुद्धि का, दुसरे का अपहरण करने पारंगत, शत्रु संहार को में अग्रणी, मन से निश्चल तथा निडर, महासागर के सर्जन ....कौन ...राजा मय,! जिसको शत्रुओं के भी आशीर्वाद मिले है।

Conclusion:- Sanskrit language is beneficial in health, physicaly, mentally and socially . So we can say Sanskrit is a boon for human life.

नाट्यशास्त्र परंपरा में भाषा और संस्कृति

डॉ. केवल रावल
पूर्व उपनिदेशक
ई.एस.आई हैल्थ केयर, हरियाणा

नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति ब्रह्मा जी के आदेश से हुई, जिसको पंचम वेद भी कहा जाता है। भरतमुनि की नाट्यशास्त्र परंपरा में भाषा और संस्कृति की अहम् भूमिका है।

भरतमुनि की दृष्टि में नाटक एक समन्वित कला है। उन्होंने अभिनेता की कला को वाचिक, आंगिक, आहार्य़ और सात्विक के अनुसार चतुर्मुखी योजना में प्रस्तुत किया। इन चारों में से किसी का ज्यादा और किसी का कम प्रयोग करते हुए अनेक प्रदर्शन शैलियों का सृजन किया। उन्होंने अभिनेता के दो प्रकार के मंच व्यवहारों को निर्धारित किए- यथार्थवादी और नाट्यधर्मी। अन्त में उन्होंने अपनी सर्वोपरि सौन्दर्यशास्त्रीय संकल्पना ' रस ' को प्रस्तुत किया। ' रस 'वास्तव में संप्रेषण का सिद्धांत है।(1) नाट्यशास्त्र में नौ रसों (रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद) का समावेश है। यह नौ रस आधुनिक युग में भी नाटक प्रस्तुति और हमारे जीवन में अपनी-अपनी भाषा और संस्कृति के अनुसार प्रासंगिक हैं।

नाटक में नौ रस, अपनी भाषा और संस्कृति के साथ, लिपिबद्ध कथानक अनुसार किसी के निर्देशन में अभिनेता अपनी भाव भंगिमाओं से एक मंच या खुले स्थान पर प्रभावशाली प्रस्तुति करते हैं, जिससे अगर किसी दर्शक को उस भाषा और संस्कृति का ज्ञान नहीं है, तो भी वो उस नाटक को अपनी भाषा और संस्कृति अनुसार अनुवादित कथानक पाने के लिए आतुर हो जाएगा। जैसे कालिदास के संस्कृत नाटकों का संसार की

कई भाषाओं में अनुवाद और अपनी-अपनी संस्कृति अनुसार प्रस्तुतीकरण हुआ है। ऐसे ही शेक्सपीयर के अंग्रेजी भाषा के नाटकों के साथ भी हुआ है। ऐसे और कई उदाहरण हैं, जैसे रामायण, महाभारत इत्यादि जिनका प्रस्तुतीकरण संसार की कई भाषाओं में हुआ है। किसी भाषा और संस्कृति का नाट्यशास्त्र परंपरा में यही महत्त्व है कि संसार की कोई भी सीमारेखा इनके प्रचार प्रसार को रोक नहीं सकती, अगर इनकी प्रस्तुति प्रभावशाली हो। रामायण और महाभारत की या इनके अंशों की आधुनिक युग के संदर्भ में, हमारी भाषा और संस्कृति की प्रस्तुति युवाओं को आज भी प्रभावित करती है। 'उत्तररामचरितम्' महाकवि भवभूति का संस्कृत नाटक है, जिसके सात अंकों में राम के उत्तर जीवन की कथा है। उत्तररामचरितम् में उन्होने ऐसे नायक से संबंधित इतिवृत का चयन किया है, जो भारतीय संस्कृति की आत्मा है। इसमें करुण रस है। महाभारत के अंश से प्रेरित एक नाटक है, 'आज का जरासन्ध', जिसमें आम जनता की भलाई के लिए, राजनीतिज्ञ और कारपोरेटर्स को, महाभारत के जरासंध की तरह, दो हिस्सों में अलग करने का सुझाव दिया गया है।

महाभारत से ही प्रेरित धर्मवीर भारती का नाटक है 'अन्धायुग', जिसमें राजनीति, युद्ध की विभीषका, अमानवीयता आदि को चित्रित किया है, जो कि वर्तमान में इजराइल और फिलिस्तीन (हमास) के युद्ध पर भी सटीक बैठता है। इसी युद्ध में एक अस्पताल में इलाज करवा के जीवनदान पाने आए आम नागरिकों की बम विस्फोट में मृत्यु हो गई। ये कितना भयावह लगता है। इन हालात में भी हमारे भारत का मानवीय संवेदना को प्राथमिकता देते हुए, फिलिस्तीन को मैडिकल और आपदा राहत सामग्री भेजना, हमारी उच्च संस्कृति की परंपरा को दर्शाता है। इस विषय पर कुछ कहना चाहूँगा कि :-

मेरे भारत देश का, सुनहरा इक इतिहास है,

सबसे पुरानी सभ्यता इसकी, सबको यह अहसास है।
ऋषि मुनियों की इस धरती पर, वेद हैं वेदांत हैं,
ऊँची हमारी संस्कृति, ऊँचे ही सिद्धांत हैं।
ऊँचे ही सिद्धांत हैं। ऊँचे ही सिद्धांत हैं।

हमारे देश में भाषा और संस्कृति की विविधता है, जो अलग-अलग प्रदेश के नागरिकों के जीवन की नाट्यशास्त्र परंपरा में सम्मिलित है और दूसरे प्रदेशों और देशों को प्रभावित करती है।

कोरोना काल में जब इस बीमारी में, छूने को भी संक्रमण का कारण माना गया तो इससे बचाव का एक तरीका 'नमस्ते' से अभिवादन करना बन गया, जो कि हमारे भारत देश की भाषा और संस्कृति का अभिन्न अंग है, और हमारे जीवन की नाट्यशास्त्र परंपरा का सदियों से एक हिस्सा रहा है।

हमारा जीवन भी नाटक की तरह ही है, जिसमें नाट्यशास्त्र परंपरा अनुसार हम अपनी भाषा और संस्कृति के साथ जीवनयापन करते हैं। इसमें भी नौ रस होते हैं, लेकिन कोई लिपिबद्ध कथानक नहीं होता। हमारी क्रिया प्रतिक्रिया हमारे अपने हालात के अनुसार होती है और उसी अनुसार हम अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं और यहीं हमारी संस्कृति का प्रदर्शन भी होता है। इसलिए हर परिस्थिति में हमें और हमारे देश के प्रतिनिधियों को अपने आप को संयत रखते हुए व्यवहार करना चाहिए। अपने आप को संयत रखने के लिए उपनिषद्, पुराण, श्रीमद्भगवद्गीता और अन्य ग्रन्थों के उपदेशों को अपने व्यवहार में लाना चाहिए ताकि जीवन की उच्च परंपरा से, सबकी भाषा और संस्कृति के उत्थान के साथ, संसार में शांति हो ताकि सब का जीवन सुखमय हो।

संदर्भ :- (1) भारत में प्रदर्शन परंपरा (लेखक : डॉ. सुरेश अवस्थी)

अथर्ववेद में भाषा और संस्कृति

डॉ. चमन कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
श्री ब्रज बिहारी महाविद्यालय, कोसीकलां, मथुरा-281403

अथर्ववेद कृष्णद्वैपायान व्यास द्वारा संकलित चार संहिताओं मे से सबसे अर्वाचीन एवं पश्चवर्ती है। इसे अथर्वाङ्गिरसवेद क्षत्रवेद भृग्वङ्गिरसवेद ब्रह्मवेद भिषग्वेद आदि नामों से भी जाना जाता है।[1] अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख मिलता है:- 1 पैप्पलाद 2 तौद 3 मौद 4 शौनकीय 5 जाजल 6 जलद 7 ब्रह्मवद 8 देवदर्श 9 चारणवैद्य।[2] इनमें से वर्तमान में केवल 2 शाखाएँ ही उपलब्ध हैं शौनकीय और पैप्पलाद।[3] वर्तमान में अथर्ववेद संहिता के नाम से प्रचलित शाखा शौनकीय शाखा है। इसको काण्डों में विभाजित किया गया है। इसमें 20 काण्ड है। इन काण्डों में 731 सूक्त है।[4] जिनमें वैदिक विषयों के साथ-साथ लौकिक विषयों से भी सम्बन्धित सूक्त हैं। जिन्हें अभिचार कर्म कहा जाता है इस प्रकार अथर्ववेद का विषय समाज के साधारण जन समुदाय के जीवन से सम्बन्धित है।[5] जन समुदाय के जीवन से जुडा एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है संस्कृति।

---

[1] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996, पृ. 331-338।

[2] वैदिक साहित्य एव संस्कृति, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 2000, पृ. -98।

[3] वही, पृ.-99।

[4] प्राचीन भारतीय संस्कृति, वेद-वेदांग, एम. विंटरनित्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1961, पृ.-97

[5] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996, पृ.-351

संस्कृति से तात्पर्य जीवन जीने की विधि से है। संस्कृति में भौतिक अर्थात् बाह्य पक्ष एवं गैर भौतिक अर्थात् आन्तरिक पक्ष शामिल होते हैं। संस्कृति के भौतिक पक्ष में संसार की सभी भौतिक वस्तु शामिल होती है जैसे रोटी कपडा मकान आदि और संस्कृति के गैर भौतिक पक्ष में विचार, चिन्तन आदि। इस प्रकार संस्कृति की रचना के लिए भौतिक व सामाजिक पर्यावरण के प्रभाव के साथ साथ वैचारिक चेतना का प्रभाव होता है।[1]

संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से भी है संस्कार व्यक्ति और जाति दोनों के होते है वस्तुतः ये जातीय संस्कार ही संस्कृति कहलाते है। रहन सहन की विधि, विचार-परम्परा आदि जाति के संस्कार है। जिनको व्यक्ति पीढी दर पीढी वहन करता है। ये स्थान परिवर्तन के साथ न्यूनाधिक परिवर्तित भी होते है।[2] उदाहरणस्वरूप जिसे वैदिक संस्कृति कहा जाता है वह वैदिक और पूर्व वैदिक संस्कृतियों के मिलन से उत्पन्न हुए बदलावों का परिणाम है।[3]

विंटरनित्स के अनुसार ऋग्वेद का प्रायः 1/7 भाग अथर्ववेद का अंग है। इसका तात्पर्य है कि ऋग्वैदिक काल की संस्कृति का प्रभाव अथर्ववैदिक संस्कृति पर है। अथर्ववेद के काल तक आर्य लोग दक्षिण पूर्व की ओर गंगा के क्षेत्र तक पहुँच चुके थे क्योंकि चीते और शेर का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है परन्तु अथर्ववेद में है और इसके साथ साथ राज्याभिषेक के समय चीते की खाल का प्रयोग, चार वर्णो का स्पष्ट उल्लेख, ब्राह्मणों

---

[1] भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, एस. आबिद हुसैन, अनुवादक- दुर्गा शंकर शुक्ल, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 1997, पृ.-90

[2] भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, श्री गुलाबराय, साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर, सम्वत् 2009 पृ.-1

[3] संस्कृति के चार अध्याय-रामधारी सिहं दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.-58

के विशिष्टाधिकारों विशद् होना इत्यादि।[1] अथर्ववेदीय संस्कृति के कुछ निदर्शन है ब्राह्मणों व पुरोंहितो के लिए, *भू-देव*, नई संज्ञा का प्रवर्तन होना संस्कृति में भाषा का योगदान है।[2]

हालाकि बलदेव आचार्य के अनुसार आर्य एक उपाधि है न कि जाति और न ही ये कोई विदेशी थे इनको विदेशी बनाने का आधार भाषा की समानता वैदिक और इरानी अवेस्ता बताई जाती है तथा इनको एक संस्कृति का माना जाता है जबकि यह कुतर्क है क्योंकि अंग्रेजी भी अनेक देशों मे बोली जाती है जो कि बिल्कुल अलग संस्कृति के है।[3] ऋग्वेद के ऋत्विज् होता, यजुर्वेद के अध्वर्यु तथा सामवेद के उद्गाता के कार्यों का निरीक्षण ब्रह्मा ऋत्विज् करता है वह यज्ञ का अध्यक्ष है इसलिए ब्रह्मा चारों वेदों का ज्ञाता होता है। एक प्रसिद्ध धारणा है यज्ञों की दृष्टि से सभी वेदों को संकलित किया गया होगा और अथर्ववेद का संकलन बाद में हुआ होगा और इसे वेदत्व बाद मे प्राप्त हुआ होगा। किन्तु यह विचार निराधार है क्योंकि संकलन से पूर्व मन्त्रकाल में सभी मन्त्र स्वतन्त्र रूप से प्रचलित थे जिस समय ऋग्वेदादि तीन संहिताओं का संकलन हुआ उसी समय अथर्ववेद भी संकलित किया गया। वस्तुतः अथर्ववेदीय मन्त्र भी ऋक् मन्त्र ही थे इसलिए ये परम्परा में साथ-साथ चलते रहे लेकिन भेद होने का कारण अथर्ववेदीय मंत्रों की शान्तिक एवं पौष्टिक कर्मों इत्यादि के रूप में प्रयोग होना था। ऋग्वेद का यज्ञों में विनियोग होना था चूकि ब्रह्मा ऋत्विज् को यज्ञ का अध्यक्ष होने के नाते तीन वेदों के पूर्ण ज्ञान के साथ रक्षा सम्बन्धी मन्त्रों का भी ज्ञान आवश्यक था इसलिए अथर्ववेद में रक्षा

---

[1] प्राचीन भारतीय संस्कृति, वेद वेदांग, एम. विंटरनित्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1961, पृ.-97-98।

[2] -वहीं- पृ.-98।

[3] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लख., 1996, पृ. -4-5।

सम्बन्धित कर्म शान्तिक, पौष्टिक, भैषज्य आदि कर्मों से सम्बन्धित जितने मंत्र थे उनका संकलन ब्रह्मा के लिए किया गया इसी कारण अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहते है।[1] वैदिक संस्कृति प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है जिसकी उद्घोषणा स्वयं वेद कर रहे है:- सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा।[2]

एस. आबिद हुसैन के अनुसार भारतीय सांस्कृतिक इतिहास को तीन कालखण्ड में बाँटा जा सकता है:- प्रथम ईसा के लगभग 5000 वर्ष पूर्व से 10 वीं शताब्दी के अन्त तक, मध्यकाल 18वीं शताब्दी तक आधुनिक केवल पौने तीन शताब्दी मात्र पुराना है। प्राचीन काल के लगभग 1000 वर्ष बाद भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति की स्थापना हुई थी जिसे वैदिक हिन्दू संस्कृति भी कहा गया वस्तुतः यह संस्कृति आर्य एवं पूर्व आर्य संस्कृतियों के प्रभाव का परिणाम था।[3] मध्यकाल में हिन्दुस्तानी संस्कृति का उदय अकबर के समय में हिन्दू-मुस्लिम के एक साथ आने के कारण हुआ जो मुगलों की देन थी, और जिसका पतन औरंगजेब के समय में होने लगा[4] परन्तु वर्तमान में यह भारत की वास्तविकता है।

भाषा संस्कृति के भौतिक व गैर भौतिक दोनों घटकों को प्रभावित, नियमित एवं प्रदर्शित करती है। विंटरनित्स के अनुसार वैदिक सूक्तो, मन्त्रों की भाषा प्राचीन भारतीय भाषा है। किन्तु उसका यह नामकरण भारतीय भाषा को संकुचित कर देता है यद्यपि इस भारतीय भाषा का आधार कोई

---

[1] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लख., 1996, पृ. -46-47।

[2] वैदिक धर्म की निरन्तरता, सम्पा.- डॉ. झिनकु यादव, राष्ट्रिय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी, 2008, पृ.-87।

[3] भारत की राष्टीय संस्कृति, एस. आबिद हुसैन, अनुवादक- दुर्गा शंकर शुक्ल, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 1997, पृ.-22।

[4] भारत की राष्टीय संस्कृति, एस. आबिद हुसैन, अनुवादक- दुर्गा शंकर शुक्ल, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 1997, पृ.-90।

बोलचाल की भाषा थी, किन्तु यह बोलचाल की भाषा नही थी। संस्कृत वैदिक में उच्चारण के साथ व्याकरण की दृष्टि से भी भेद है- जैसे *लेट् लकार* का होना *तुमुनार्थी* प्रत्ययों का प्रयोग तथा *नामिक तथा आख्यातिक* विभक्तियाँ भी संस्कृत की अपेक्षा प्राचीन भारतीय भाषा में अधिक हैं। इस भारतीय भाषा का अर्वाचीन रूप ऋग्वेद मे दसवें मण्डल में, अथर्ववेद के कुछ भागों में और यजुर्वेद संहिता में स्पष्ट प्रयोग में आना शुरू हो चुका है।[1] जबकि श्री गुलाब राय के अनुसार वैदिक भाषा बोलचाल की भाषा के कुछ अधिक निकट थी क्योंकि उसमें तरलता अर्थात् एक विभक्ति के अनेक रूप थे किन्तु लौकिक संस्कृत में तरलता का अभाव हो गया है।[2] शोध-पत्र में आए शब्द अथर्ववेद, भाषा और संस्कृति का अवलोकन वैदिक सन्दर्भ में करने के बाद शोध-पत्र के मुख्य विषय ***अथर्ववेद में भाषा और संस्कृति*** का अध्ययन करना अभीष्ट है किन्तु विषय की व्यापकता को देखते हुए आर्य-जीवन पर प्रभाव डालने वाले कुछ तत्त्वों का ही विवेचन किया जायेगा:-

अथर्ववेद में भाषा और संस्कृति का भौतिक पक्ष:-

अथर्ववेद के अध्ययन से हमें अथर्ववेद में भाषा और संस्कृति के भौतिक तत्त्वों की जानकारी प्राप्त होती है। अथर्ववेद में समुद्रों की संख्या दो[3], तीन[4], चार[5], *सप्तसिन्धव*[6], और नदियों *सरस्वती*[1], *अंशुमती* [2] अनेक

---

[1] प्राचीन भारतीय संस्कृति, वेद वेदांग, एम. विंट्रनित्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1961, पृ.-32-33।

[2] भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, श्री गुलाबराय, साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर, सम्वत्-2009, पृ.-32।

[3] *....उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी.....*।. अथर्व. 4/16/3।

[4] *....समुद्रांस्त्रीन्...*। अथर्व. 19/27/4।

[5] अथर्व. 19/27/3।

[6] अथर्व. 4/6/2।

बार *सिन्धु* नदी का उल्लेख है।[3] हिमालय का *हिमवत्* नाम से उल्लेख है जो औषधियों के लिए प्रसिद्ध है।[4] प्रार्थना की गई की यहाँ से निकलने वाली नदियों का जल सुखद हो। हिमवत् पर्वत के अतिरिक्त *त्रिककुद्* पर्वत का उल्लेख अथर्ववेद में है।[5] ऋग्वेद में *मूजवत* पर्वत का उल्लेख है।[6] जबकि अथर्ववेद में *मूजवत्* शब्द का प्रयोग मूजवत् के निवासी लोगो के लिए किया गया है।[7] एक अन्य जलाभाव वाली भू आकृति रेगिस्तान को *धन्वन्* कहा गया है।[8]

आर्य आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर थे। कृषिकर्म की प्रधानता थी अथर्ववेद का 3/17 सूक्त कृषि-सूक्त के नाम से जाना जाता है। हल से भूमि जोती जाती थी। हल जोतने वाले के लिए *कीनाश* शब्द का प्रयोग मिलता है। जमीन की उर्वरता बढाने के लिए खाद के लिए *करीष* शब्द का प्रयोग मिलता है, एक स्त्री के द्वारा खेत में गोबर डालने का भी उल्लेख है।[9]

कृषि के साथ साथ आर्यों की आजीविका का अन्य साधन पशु-धन था। अथर्ववेद के 5/31/3 मन्त्र में गर्दभ को *उभयदत्* तथा भेड के लिए भी *उभयदत्* विशेषण प्रयुक्त है। गाय को आर्थिक व धार्मिक दोनों दृष्टि सें

---

[1] अथर्व. 6/30/1।

[2] अथर्व. 20/137/7-9।

[3] *यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो...*। अथर्व. 12/1/3, 06/24/01 इत्यादि।

[4] *हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ...हृद्द्योतभेषजम्...*। अथर्व. 6/24/1, 4/9/9,।

[5] वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ.कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृ. -249।

[6] *...सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो...*। ऋग्वेद 10/34/1।

[7] *....गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्यो....मगधेभ्यः...*। अथर्व. 5/22/14, 7-8,।

[8] अथर्व. 5/13/1, 6/100/2।

[9] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लख. , 1996, पृ.- 590-592।

सबसे उपयोगी माना जाता था। सफेद गाय को *ककी,* प्रथम बार ब्याने वाली को *गृष्टि*, दुधारू गाय को *धेना* कहा जाता था। *धेनुका* शब्द का प्रयोग भी मिलता है। कभी न ब्याने वाली बांझ गाय को *वशा* कहते थे। गाय की तरह बैल भी समृद्ध का द्योतक था किसान दो से अधिक बैल रखते थे, काले कान वाले श्वेतवर्ण के अश्व को बहुमूल्य माना जाता था।[1] अथर्ववेद में पशुपालन से सम्बद्ध सूक्त उपलब्ध है।[2] जिनमें गो तथा पशुओ के *गोष्ठ* अर्थात् बैठने के स्थान एवं गो-धन के संवर्धन के लिए मंत्र है।

वैदिककाल में कृषिप्रधान समाज होने के कारण अधिकांश लोग गांवों मे रहते थे।[3] ग्राम के लोग हिंसा-कार्य नहीं जानते थे।[4] अथर्ववेद काल के भवनों में यज्ञशाला, स्त्रियों का निवास-स्थान, सामान्य कमरे, उपासना-स्थल होते थे।[5] भवनों में खाद्य पदार्थ जैसे दूध, दही आदि घरेलु पशुओं से रक्षा के लिए खूंटी से बांधकर लटकाने के लिए *शिक्य* अर्थात शिकहर होता था।[6] अनेक पात्र मिटटी के बने थे भोजन पकाकर रखने के लिए पात्र का नाम *स्थाली* था।[7] दही को मथकर नवनीत निकाला जाता था जलमिश्रित दही को *आमिक्षा* कहते थे।[8] घरों में बैठने के लिए

---

[1] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लख., 1996, पृ.- 593-595, 597

[2] अथर्व. 2/26, 3/14।

[3] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लख., 1996, पृ.- 575-576

[4] *यं ग्राममाविशत इदमुग्रं.....*। अथर्व. 4/36/8।

[5] *हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदः.....*। अथर्व. 9/3/7।

[6] अथर्व. 9/3/6।

[7] अथर्व. 8/6/17।

[8] *.....आमिक्षां दुहतां दात्रे क्षीरं...* / अथर्व. 10/9/13-24।

चटाईया होती थी जिन्हें *कशिपु* कहा जाता था जिसे स्त्रियाँ बनाती थी।[1] पेय पदार्थ के रूप में *परिस्रुत*[2] का उल्लेख है। लोग *सुरा*[3]भी पीते थे।

वस्त्र को *वासस्* कहा जाता था *नीवी* नामक अधोवस्त्र का प्रयोग प्रमुखतया स्त्रियाँ करती थी।[4] व्रात्य लोग उष्णीष अर्थात् पगडी बांधते थे ।[5] *निष्क* आभूषण के तौर पर प्रसिद्ध था जिसे गले मे धारण करते थे।[6]

अथर्ववेद में भाषा और संस्कृति का गैर भौतिक पक्ष:-

आर्यां ने सम्पूर्ण समाज को चार वर्णों में विभक्त किया जिसे वर्णव्यवस्था कहा गया- ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय, और शूद्र वर्णव्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के *पुरूष सूक्त* में मिलता है।[7] अथर्ववेद में ब्राह्मण को *श्रम, तप्, सत्य, श्री, यश, श्रद्धा, दीक्षा,* और *यज्ञनिष्ठा* [8] में होने के साथ साथ *विप्रराज्य* अर्थात् ब्राह्मणराज्य का उल्लेख है जिसमें यज्ञ आदि कर्म किये जाते थे।[9] आवश्यकता होने पर ब्राह्मण शस्त्रास्त्र चलाने का भी अधिकार था।[10] सभी के शूद्रों व आर्यों अर्थात् चारों वर्णां के साथ साथ सभी देखने वालों के प्रति एक समान भाव से प्रिय होने की कामना की गई है- *प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये*।[11] अथर्ववेद में समानता पर

---

[1] *यथा नडं कशिपुने स्त्रियो...* । अथर्व. 6/138/5।

[2] अथर्व. 3/12/7 व 20/127/9।

[3] *यथा मासं यथा सुरा...*। अथर्व. 6/70/1।

[4] *यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्...*। अथर्व. 8/2/16।

[5] अथर्व. 15/2/1।

[6] *नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः....*। अथर्व. 5/17/14।

[7] ऋग्वेद-10/90/12।

[8] अथर्व. 12/5/1-3।

[9] *....शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये।* अथर्व. 20/104/2।

[10] *तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा....*। अथर्व. 5/18/9।

[11] अथर्व. 19/62/1।

बल दिया गया है।[1]

सभी आर्य *विश्* कहलाते थे जिसका अर्थ है- लोग या जनता। बाद के काल में राजा के लिए *विशां पति-* जनों का स्वामी प्रयुक्त होने लगा। इस विश् में समाज के लोग आते थे लेकिन राजा और पुरोहित को विश् में नहीं गिना जाता था। क्योंकि ये राजा और पुरोहित अपनी शक्ति और विद्या के कारण बनते थे। यद्यपि आर्यों में राजा वंशपरमपरागत था किन्तु यदि राजा शासन से अलग हो जाए या योग्य न होने पर उसे प्रजा द्वारा पद से हटा दिया जाए तो वह सामान्य विश् में गिना जाता था तथा कोई भी आर्य राजपरिवार का न होते हुए प्रजा के द्वारा भी राजा चुन लिया जाता था तो क्षत्रिय कहलाता था। अथर्ववेद में राजा को पांच देवियों द्वारा प्रजा के लिए चुनने की बात कही गई है तथा राजा का खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने का वर्णन है इसी प्रकार कोई भी आर्य ब्राह्मणवृत्ति धारण कर ब्राह्मण बन सकता था।[2]

राजा को राष्ट्र में प्रजा का रंजन करने वाला बताया गया है अतः वह *राजन्य* है।[3] राज्यकार्य निष्पादन में राजा की सहायता के लिए विशों की दो संस्थाए होती थी *सभा और समिति* [4] ये राजा को नियन्त्रित करती थी अथर्ववेद के अनुसार इनको प्रजापति की जुडवां पुत्रियाँ कहा गया है।[5]

अथर्ववेद के सूक्त 3.4 में राजा के निर्वासन के समय एक प्रार्थना है जिसमें वरूण स्वयं उपस्थित होकर राजा का चुनाव करते हैं। क्योंकि *वरूण*

---

[1] *समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्...*। अथर्व. 6/64/2।

[2] संस्कृत वाड.मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश
संस्कृत संस्थान लख., 1996, पृ.- 552-553, 546-547।

[3] अथर्व. 15/8/10।

[4] अथर्व. 8/10/9-11।

[5] *सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेदुहितरौ...*। अथर्व. 7/13/1, 2-4।

का सम्बन्ध वृ धातु से है जिसका अर्थ है वरण करना तथा अथर्ववेद के सूक्त 3.3 में निर्वासित राजा को पुनः पद प्रतिष्ठित करने के लिए उपायों का वर्णन है। इसके साथ साथ क्षत्रियों को युद्ध में प्रेरित करने के लिए भी युद्धगीतों का वर्णन है।[1] परन्तु सामाजिक धार्मिक अवसरों पर *संगीत, नृत्य, दुन्दुभि* महत्त्वपूर्ण मनोरंजन के साधन थे।[2]

आर्यों के संयुक्त परिवार थे घर का मालिक पिता होता था जिसे *गृहपति* कहते थे। अतः समाज पितृप्रधान था। पिता के भाई के पुत्रों के लिए *भ्रातृव्य* शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है किन्तु बाद में यह शब्द शत्रु वाचक बन गया सम्पत्ति का बटवारा होने के कारण।[3] पुत्र को पिता का *अनुव्रत* अर्थात् पिता के अनुकूल कर्म करने वाला, माता के साथ समान मन वाला, पति-पत्नी, भाई-भाई आदि के सम्बन्ध परस्पर मधुर, परिवार जनों में द्वेषाभाव वाले बतलाए गए हैं।[4] युवावस्था तक कन्या का पिता के घर रहती थी उसके बाद विवाह किया जाता था।[5] पुत्रवधू *स्नूषा* कहलाती थी अपने आप को श्वशूर से छिपा लेती या पर्दा करती थी।[6] जो श्वशूर के प्रति एक प्रकार का सम्मान का भाव था। अथर्ववेद के 5/17/8 मंत्र में एक स्त्री के 10 पतियों का वर्णन है जिसका अर्थ एक पति मरने के बाद 10 अब्राह्मण पतियों तक पुनः विवाह का वर्णन है किन्तु ब्राह्मण पति

---

[1] प्राचीन भारतीय संस्कृति, वेद वेदांग, एम. विंट्रनित्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1961, पृ.-120।

[2] अथर्व. 12/1/41।

[3] संस्कृत वाड.मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लख., 1996, पृ.-560।

[4] अथर्व. 3/30/1-3

[5] अथर्व. 1/14/1-4

[6] *ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि...*। अथर्व0 8/6/24

के मरने के बाद विवाह नही कर सकती।[1] अथर्ववेद के 14/1-2 सूक्तों में विवाह से सम्बन्धित मन्त्र हैं। ग्रहस्थाश्रम को सुखी बनाने के लिए ग्रहस्थी को निरन्तर सत्कर्म करने [2] का उपदेश दिया गया है।

विन्टरनित्स के अनुसार अथर्ववेद का 14वां काण्ड नवविवाहिता के प्रति आशीर्वाद, गर्भिणी के गर्भ की रक्षा, अजात एवं नवजात की अभिरक्षा, पुंसवन की अभिलाषा से इत्यादि विषयों सें पूर्ण है जो समाज का निदर्शन कराता है।[3] अथर्ववेद के अनुसार नारी पति के साथ यज्ञों में भाग लेती थी।[4] नारी के विधवा विवाह का समर्थन है।[5]

वैदिक काल में शिक्षा के लिए आश्रम बने होते थे जिनमें *आचार्य* ज्ञान देते थे।[6] आचार्य आचार ग्रहण कराने वाला और बुद्धि का चयन कराने वाला होता था[7] शिक्षार्थी के लिए *ब्रह्मचारी* शब्द का प्रचलन था। अथर्ववेद का 11/7 सूक्त ब्रह्मचारी और *ब्रह्मचर्य* के लिए समर्पित है। ब्रह्मचर्य का समाज पर बहुत प्रभाव था जिसके कारण पुत्रों के समान कन्या के लिए भी ब्रह्मचर्य का उल्लेख है अर्थात् ब्रह्मचर्य के द्वारा कन्या युवा पति को प्राप्त करती थी।[8] आचार्य शिष्य दोनों के जीवन में संयम एवं चरित्र को महत्वपूर्ण माना गया था।[9] अथर्ववेद में अनेक वनस्पतियां, कृमि

---

[1] अथर्व. 5/17/8

[2] अथर्व. 6/122/3

[3] प्राचीन भारतीय संस्कृति, वेद वेदांग, एम. विंटूनित्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1961, पृ.- 110

[4] अथर्व. 20/126/10

[5] *समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः...*। अथर्व. 9/5/28।

[6] अथर्व. 11/7/1, 3, 8, 14

[7] निरुक्त-यास्काचार्य, प्रो. उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1961, पृ. 7

[8] *ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्...*। अथर्व. 11/7/18

[9] अथर्व. 11/7/16-17

सम्बन्धी जानकारियां, शैल्य चिकित्सा एवं प्रसूत विज्ञान, मानव शरीर की महिमा एवं अंग प्रत्यंगो के साथ उनमें होने वाले रोगों का वर्णन है।[1]

अथर्ववेद के *पृथिवी सूक्त* 12/1 में मातृभूमि के लिए स्वयं को पुत्र पृथ्वी को माता कहकर वात्सल्य रस की उद्भावना कर सत्य के प्रकाश का उद्गम पृथ्वी के हृदय में बताया गया है। पृथ्वी धर्म के बल पर टिकी है।[2] सत्य, दीक्षा, तप आदि गुण पृथ्वी को धारण करते हैं- *सत्यं बृहद्दतमुग्रं दीक्षा तपो यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।*[3]

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची:-

- अथर्ववेद, सम्पा.- डॉ. गंगा सहाय शर्मा, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
- अथर्ववेद संहिता, सम्पा.- श्रीराम शर्मा आचार्य, ब्रह्मवर्चस् शान्तिकुंज हरिद्वार, 2002
- अथर्ववेद संहिता, सम्पा.- श्रीपाद शर्मा, श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकर भारतमुद्रणालय, औन्धनगर, सताराप्रदेश, मुंबई प्रान्त, विक्रमीसम्वत्- 1995
- ऋग्वेद, सम्पा.- डॉ. गंगा सहाय शर्मा, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
- निरुक्त- यास्काचार्य, प्रो. उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1961

---

[1] वैदिक धर्म की निरन्तरता, सम्पा.- डॉ. झिनकु यादव, राष्ट्रिय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी
2008, पृ.- 148-150

[2] भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, श्री गुलाबराय, साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर, सम्वत्- 2009, पृ.- 45-48।=

[3] अथर्व. 12/1/1

- प्राचीन भारतीय संस्कृति, वेद-वेदांग, एम. विंटरनित्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1961
- भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, एस. आबिद हुसैन, अनुवादक- दुर्गा शंकर शुक्ल, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 1997
- भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, श्री गुलाबराय, साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर, सम्वत्-2009
- वैदिक धर्म की निरन्तरता, सम्पा.- डॉ. झिनकु यादव, राष्ट्रिय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी, 2008
- संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिहं दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 2000
- संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड-वेद, सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ, 1996

आर्ष महाकाव्यो में भाषा और संस्कृति

सौ गौरी मंगेश दुद्दलवार
मातोश्री प्रशासकीय सेवा महाविदयालय उमरेड
सहाय्यक प्राध्यापक संस्कृत विभाग
पत्ता सपना ले आऊट उमरेड जि. नागपूर
मो. क्र. 9423149689/9689694353
Email:- gmas6duddalwar@gmail.com

प्रस्तावना:-

आर्ष शब्द का अर्थ है। ऋषियों से संबधित अर्थात् जो ऋषियों की वाणी से मुखरित होकर उत्पन्न हुआ हो जो ऋषियों द्वारा किया गया हो वह आर्ष कहलाता है। चूंकि वेद ऋषियों द्वारा कही गई मौखिक रचनाएं है। अतः वेद अपौरुषेय कहे गए है। रामायण और महाभारत ऋषियों द्वारा लिखित रूप में रची गई संसार की सर्वप्रथम रचनाएं हैं। अतः इन्हे आर्ष महाकाव्य कहा गया है। वाल्मीकि रामायण सबसे प्राचीन मानी जाती है। हिन्दू धर्म में दो महाकाव्य महत्वपूर्ण है। इन दोनों महाकव्य में अलग-अलग तरीके के जीवन में आनेवाले संकट से कैसे सामना करें साथ ही रिश्तों के कर्तव्य को समझाया गया है। रामायण और महाभारत ये दोनों आर्ष महाकाव्य है। यह महाकाव्य भारतीय संस्कृति के दो शाश्वत आधार स्तंभ है। सांस्कृतिक जीवन में आज ही मार्गदर्शन करने वाले दीपस्तंभ है।

रामायण का मूल अर्थ राम का अयन मतलब राम की यात्राएं पथ मूल रूप से यह श्रीराम के दो विजय यात्रा पर आधारीत है। जिसमें पहली यात्रा प्रेम, सहयोग, हास, परीहास और आनंद उल्लास से परिपूर्ण है। दूसरी यात्रा दु:ख, वियोग, तकलीफ, व्याकुलता और वेदना से युक्त है।

रामायण जीवन जीने का मार्गदर्शन करने वाला महाकाव्य है। मर्यादा, प्यार, अपनापन, संस्कार, बलिदान, प्रचंड इच्छा शक्ति, असीम धीरता, पराक्रम इनका उत्तम संगम मतलब रामायण अलग-अलग प्रकार से गिनने पर रामायण तीन सौ से लेकर एक हजार तक की संख्या में मिलती है। इनमें से संस्कृत में रचित वाल्मीकि रामायण सबसे प्राचीन मानी जाती है। रामायण महाकाव्य में एक आदर्श पुत्र, आदर्श पत्नी, आदर्श पिता, आदर्श भाई, आदर्श मित्र और आदर्श राजा के बारे में दिखाया गया है। ये सब आदर्श क्यों है? और हम उन्हे आदर्श क्यों माने ?ये रामायण में दिखाया गया है।

1) रामायण की रचना:-

रामायण कि रचना महर्षी वाल्मीकी जी ने अनुष्टुपछंद में की। रामायण का विभाजन सात काण्डो में किया गया है। बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड, और उत्तरकाण्ड। प्रत्येक काण्ड को सर्ग में विभाजित किया गया है। रामायण के आधार पर कालिदास, भारवि, माघ, भट्टी, कुमारदास, तुलसीदास ने काव्य और नाटक की रचना की। रामायण में चौबीस हजार श्लोक है।

रामायण के अभी तीन संस्करण उपलब्ध है। जो भारत के विभिन्न क्षेत्रो में प्रचलित है। रामायण के रचनाकाल के विषय में विद्वानों ने बहुत विवेचन किया है। रामायण की रचना महाभारत के पूर्व हुई है। क्योंकि महाभारत में रामायण की पूरी कथा वर्णित है। और श्रीराम के जीवन से संबंधित कुछ स्थलों को वहाँ तीर्थ के रूप में देखा गया है।

2) रामायण का सांस्कृतिक मूल्य:-

यह महाकाव्य भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण आयामों को प्रतिम्बित करने वाला होने से साहित्यक रूप में अक्षय निधि है। वाल्मीकि रामायण

आर्ष महाकाव्य की श्रेणी में आता है। इसका विभिन्न दृष्टीकाण से अध्ययन किया जा सकता है जो यह सिद्ध करते है कि रामायण एक आर्ष महाकाव्य है। वाल्मीकि रामायण में जिस आस्तिकता, धार्मिकता, प्रभूभक्ति, उदात्त एवं दिव्य भावनाओं और उच्च नैतिक आदर्शो का वर्णन मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

वाल्मीकि रामायण प्राचीन आर्य सभ्यता और संस्कृति का दर्पण है। श्रीराम की सत्यवादिता, न्यायवादिता और मातृपितृ भक्ति की सर्वोच्च पराकाष्टा वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होती है। अन्याय पर न्याय की विजय। इसी प्रकार सीता के आदर्श गौरवपूर्ण पत्नी रूप को भी वाल्मीकि ने स्थापित किया है। राम का भ्रातृप्रेम रामायण में अत्यंत सरल एवं भावपूर्ण शब्दो में व्यक्त किया गया है।

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।

तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सदोहर।।

3) आदर्शनायकः-

शिवपुराण में कहा गया है कि दयालु, मनुष्य, अभिमानशून्य, व्यक्ति परोपकारी और जितेंद्रीय ये चार पवित्र स्तंभ है, जो इस पृथ्वी को धारण किये हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि- ये चारों गुण एक साथ मर्यादा पुरूषोत्तम राम के चरित्र में समाहित होकर पृथ्वी को धारण करने की शक्ति बन गए है। श्रीराम के इन्ही वैयक्तिक सद्गुणों को उच्चतम आदर्श समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना वाल्मीकि रामायण का प्रमुख उददेश्य है। एक वचनी, एक पत्नि जैसे व्रतों का निष्ठापूर्वक पालन करनेवाले राम का चरित्र अहिंसा, दया, अध्ययन, सुस्वभाव, इंद्रिय दमन, मनोनिग्रह जैसे सद्गुणों से युक्त आदर्श चरित्र की स्थापना रामकथा का मुख्य प्रयोजन है।

श्रीराम का चरित्र इतना उदार और ऊंचा है कि वे रावण के मृत्यु के बाद विभीषण को उसके शरीर संस्कार का उपदेश देते है। वे कहते हैं विभीषण शत्रु की मृत्यु से वैर का अंत हा जाता है। हमारी शत्रुता भी समाप्त हो गई। अब तो रावण का शरीर मेरे लिए भी वैसा ही है जैसा तुम्हारे लिए-

मरणान्तानि वैराणि निवृत्त नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।।

भरत की राज्यपद के प्रति अनासक्ति, लक्ष्मण की भ्रातृसेवा एवं हनुमान कि स्वामी भक्ती ये तीनों जीवन के सर्वोच्च आदर्श रामायण में उपलब्ध होते है। काव्य का उद्देश्य– मधुरभाव से उपदेश देना। उसमें वाल्मीकि को पूरी तरह सफलता मिली है।

4) आर्ष महाकाव्य महाभारत:-

इसका संकलन महर्षि वेदव्यास ने किया परंतु यह अंतिम रूप से 400 ईसवी के आसपास पुर्ण हुआ। प्रांरभ में केवल 8800 श्लोक थे। तब इसे जय संहिता कहा गया है। बाद में श्लोकों की संख्या बढकर 24000 हो गई तब इसे भारत कहा गया क्योंकि इसमें प्राचीनतम वैदिक जन भारत के वंशजों की कथा है। अतः इसमें एक लाख श्लोक हो गए और तब यह शतसाहस्त्री संहिता या महाभारत कहलाने लगा।

महाभारत में कुल अठराह पर्व है। इसमें भीष्म पर्व का भाग गीता है गीता में भगवान कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश है। गीता कर्म, भक्ति और ज्ञान की त्रिवेणी है। श्रीमद्भवतगीता में भक्तों का विस्तृत विवरण मिलता है और अवतारवाद का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। दाराशिकोह ने इसका फारसी भाषा में अनुवाद किया। गीता में कर्म के महत्व को प्रतिपादित किया गया है। भक्ति का महत्व बताते हुए श्रीकृष्ण

स्वयं यह कहते है की सभी धर्म को छोड़कर केवल मेरी ही शरण में आओ। मैं तुम्हे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत करो।

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। 18/66

5) महाभारत का सांस्कृतिक महत्व:-

महाभारत का महत्व सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत अधिक है। यह अपने आप से महत्वपूर्ण साहित्य है। इसके शान्ति पर्व में राजनीति के विषयों का व्यापक एवं गंभीर प्रतिपादन है। इसके पात्र को व्यास ने उपदेश का आधार बनाया है। जिससे लोग कर्तव्य की शिक्षा ले सकें। यह एक ऐसा धार्मिक ग्रंथ है जिसमें प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने अभ्युदय की सामग्री प्राप्त कर सकता है। बाणभटट ने व्यासमुनि को कवियों के निर्माता कहा है क्योंकि महाभारत से कवियों को काव्यसृष्टि के लिए प्रेरणा मिलती रहती है। मानव जीवन को धर्म, अर्थ, काम के द्वार मोक्ष की ओर ले जाने की प्रक्रिया महाभारत में अच्छी तरह बताई गई है। इसलिए धर्म, राजनीति, दर्शन आदि सभी विषयों का यह अक्षय कोष है।

6) भगवद्गीता उपदेश:-

भगवद्गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय है। महाभारत में व्यास ने कहा है कि धर्म श्वाश्वत है। अतः इसका परित्याग किसी भी दशा में भय या लोभ से नहीं करना चाहीए। शान्ति पर्व में कहा गया है कि राजधर्म के बिगडने पर राज्य तथा समाज का सर्वनाश हो जाता है। गीता के अध्यायों को योग कहा गया है। गीता में योग का अर्थ समदृष्टि (समत्वं योग उच्यते) अथवा कुशलतापूर्वक कर्म करना (कर्मसु कौशलम्) जिसमें बंधन न हो। गीता में मुख्य रूप से तीन योगों का

प्रतिपादन किया गया है। कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। ये तीनों परस्पर सम्बद्ध तथा पूरक है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है। फल तुम्हारे वश में नहीं है। भक्तियोग परमात्मा को ही सर्वस्व समर्पण का नाम है। इसे योग दर्शन में ईश्वर प्रणिधान कहते है।

7) महाभारत एवं आधुनिक समाजः-

महाभारत की सबसे बड़ी विशेषता यह है की वह एक शाश्वत धर्म व्यवस्था का विधान करता है। यह शाश्वत धर्म व्यवस्था अनेक दृष्टिंयों से भिन्न होते हुए भी अभिन्न रूपवाली है। इस तथ्य को इस रूप में समझा जा सकता है कि महाभारतकार धर्म को रूढ व्यवस्था नहीं मानते। वह उसे बदलते समाज एवं काल के साथ परिवर्तनीय स्वीकार करते है।

मनुस्मृति एवं रामायण आदि में प्रतिपादित धर्म प्रायः रूढ है। जिनका उल्लंघन करने पर मनुष्य पाप का भागीदार बनता है। परन्तु महाभारतकार व्यास मुनि का कहना है कि धर्म का निर्णय देश, काल तथा व्यक्ति के अनुसार होता है। इस प्रकार महाभारत आज के समाज को धर्मभीरू नहि, प्रत्युत धर्म के प्रति आश्वस्त बनता है।

निष्कर्षः-

आर्ष का तात्पर्य है प्रथम आरंभ के काव्य जो ऋषियों द्वारा कहे गये है। रामायण और महाभारत आर्ष महाकाव्यों के श्रेणी में आते है। क्योंकि ये ऋषियों की कृति है। ये घटनाए पहले पूर्वकाल में घटित हो चुकी थी। जिन्हे बाद में रचा गया। यह दोनों महाकाव्य अलग-अलग युगों के महान युगपुरूषों की जीवन गाथा है। उन महान पुरूषों की युग गाथा जीवन चरित्र है। जिन्होंने भगवान के अंश रूप में विद्यमान रहते हुए इस मृत्यू

लोक में जन्म लिया और बुराईयों पर हमेशा अच्छाई की जीत होगी, इस सत्य का प्रतिपादन किया। सतयुग में ही यह भविष्यवाणी हो गई थी कि जब कलयुग आयेगा तब सब और भोग विलासिता का बाहुल्य हो जायेगा और मनुष्य विवेकशील ना रहकर विवेकहीन हो जायेगा इसलिए ऐसे समय में प्रायश्चित स्वरूप जो व्यक्ति आदिकाव्य रामायण का पाठ करेगा तथा श्रीराम के चरित्र को स्तुतिगान करेगा वह अपने पापों से मुक्ति पायेगा इसी जनकल्याण भावना को ध्यान में रखते हुए रामायण और महाभारत महाकाव्यों की रचना हुई। चुंकि लिखित रूप में ये संसार की पहली रचनाए है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची:-

1) वाल्मीक, वाल्मीकि रामायण, 1923 गीताप्रेस गोरखपूर
2) महर्षि कम्बन, रामायण 1980, परिमल प्रकाशन, राजकोट
3) अध्यात्म रामायण, महर्षि व्यास, गीता प्रेस
4) महर्षि वाल्मीकि, आंनद रामायण, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी
5) गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, 1631 गीताप्रेस प्रकाशन
6) संत एकनाथ महाराज, भावार्थ रामायण, 1995 से 1999 यशवंत प्रकाशन
7) वेद व्यास, महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर जनवरी 2020

अग्निपुराण में निहित काव्यशास्त्रीय तत्त्व

डॉ॰ गुड़िया कुमारी
अतिथि व्याख्याता, संस्कृत
एस॰ एम॰ कॉलेज, भागलपुर
ति॰माँ॰भा॰ वि॰वि॰ भागलपुर (बिहार)

भारतीय साहित्य में पुराण का अपना विशिष्ट स्थान है। यह इतिहास का अमूल्य कोष है। भारतीय संस्कृति और परम्परा को सरल भाषा में जन साधारण तक पहुँचाने का श्रेय इसी साहित्य को है। पुराणों की संख्या अट्ठारह है, जिसमें अग्निपुराण की भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने 'भारतीय ज्ञानकोष' की संज्ञा से विभूषित किया है।

इसके लगभग ग्यारह अध्यायों में काव्य शास्त्रीय परम्परा में अग्निपुराण की देन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थों के मध्य एक श्रृंखला का कार्य करता है। 'भोजदेव' द्वारा प्रस्तुत कतिपय भेदोपभेद अग्निपुराण से लिए गयें हैं एसा प्रतीत होता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कुछ उद्धृत किया है- अग्निपुराण से परवर्ती न केवल संस्कृत के अपितु भारत की अन्य भाषाओं के भी काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों की वर्ण्य-सामग्री स्त्रोत निर्देश करने में अग्निपुराण की सहायता लेने को बाध्य हो जाते हैं। 'डॉ॰ विण्टर-नित्ज' के अनुसार अग्निपुराण एक विश्व-कोष है अर्थात् भारतीय वाङ्मय में व्याप्त प्रत्येक विषय का समावेश इस पुराण में है जैसे- व्याकरण, सुश्रुत का औषधज्ञान, शब्दकोष, काव्यशास्त्र, ज्योतिष आदि सामग्री संग्रहीत है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्यदर्शः, काव्यलंकार, सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि प्रमुख माने जाते हैं। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर अग्निपुराण का प्रभाव दिखता है सम्भवतः यहीं से प्रेरणा लेकर भोज ने गुणों के वर्गीकरण को अपनाया है-

यः काव्ये महती छायामनुगृहलात्यसौ गुणः।

संभवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा।।

अ० प०अ० - 346/3

दण्डी, भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों के ग्रन्थ में जहाँ, ध्वनि के संबंध संकेत मात्र मिलते हैं तथा मम्मट आदि आचार्यों ने जिसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है पर अग्निपुराण में शब्दालंकार प्रकरण में श्रुति अलंकार के भेदोपभेद के अन्तर्गत ध्वनि का संकेत मात्र ही है-

स आक्षेपे ध्वनिः स्याच्य ध्वनिना व्यज्यते यतः।

अ०पु०अ० - 345/14

एषामेकतमस्यैव समाख्या ध्वनिरित्यतः।।

अ०पु०अ० 345/18

विषय प्रवेशः-

अग्नि पुराण भारतीय विद्या का महाकोश है जिसमें शताब्दियों से प्रवाहित भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान का सार संग्रहित किया गया है। यह आर्य साहित्य के भव्यप्रसाद का आधार स्तंभ है। 'आत्मा पुराणं वेदानाम्' पुराणों में ही वेद की प्रतिष्ठा निहित है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के बाद अग्नि-पुराण ही ऐसा ग्रन्थ है जिससे हमको साहित्य-विषयक सबसे प्रथम साहित्यिक नियमों का निरूपण मिलता है। साहित्य का विषय भी अग्नि पुराण के 337 से 347 तक 11 अध्यायों में निरूपित है। यह निरूपण विवेचनात्मक एवं व्याख्यात्मक न होकर संग्रहात्मक है। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में अग्नि पुराण की देन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ प्राचीन और अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के मध्य श्रृंखला का कार्य करता है। वैज्ञानिक अनुसंधान के वर्त्तमान युग में भी अग्निपुराण

के काव्यशास्त्रीय भाग की महत्ता इस तथ्य में सन्निहित है कि अनुसन्धाता के समक्ष भारतीय काव्यशास्त्रीयों की सूक्ष्मपर्यवेक्षण शक्ति, वर्णन प्रियता, वर्ण्य सामग्री के स्रोत निर्देश में सहायक है।

'आग्नेय हि पुराणोऽस्मिन् प्रदर्शिताः'।[2]

अग्निपुराण में समस्त विद्याएँ प्रदर्शित की गई हैं। 337वें अध्याय में काव्य का लक्षण, काव्यभेद, गद्यकाव्य एवं उसके भेदोपभेद तथा महाकाव्य का विवेचन है। इसमें ध्वनि, वर्ण, पद एवं वाक्य को वाङ्मय कहकर शास्त्र, काव्य और इतिहास तीनों को वाङ्मय के अन्तर्गत माना है।

ध्वनिवर्णाः पदं वाक्यमिव्येतद् वाङ्मयं मतम्।[3]

शास्त्र में शब्द प्रधान होता है, इतिहास और कथा ग्रन्थों में इतिवृत्त का महत्व होता है, तथा काव्य में अभिधाशक्ति की प्रधानता के कारण काव्यशास्त्र और इतिहास से पृथक हो जाता है।

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लया।

कवित्वं दुर्लभं लोके विद्यातत्र सुदुर्लया।।[4]

व्युत्पत्ति दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः।

एर्व शास्त्रमविद्वद्भिर्मृग्यभाणं न सिध्यति।।[5]

संसार में मनुष्य जन्म की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है। मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी उसमें विद्या की उपलब्धि और भी कठिन है तथा कविता करने की शक्ति तो और भी दुष्प्राय है, ये सब मिल जाने पर भी लोक, शास्त्र, काव्य इतिहासादि के अध्ययन द्वारा प्राप्त होनेवाली निपुणता और दुर्लभ है। यह सब तत्त्व वेत्ताओं द्वारा ही संभव है क्योंकि अतत्त्व वेताओं के द्वारा अन्वेषित शास्त्र किसी भी प्रकार से सफल सिद्ध नहीं होता-

काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।

योग निर्वेदश्च लोकश्च सिद्धमर्यादयोनिजय्।।[6]

जिस वाक्य समूह में अलंकार स्पष्ट रूप से दिखाई दे तथा गुणों से युक्त और दोषों से मुक्त हो उसे काव्य कहते हैं।

काव्य के भेद गद्यकाव्य एवं उसके भेदोपभेद तथा महाकाव्य का विशद विवेचन अग्निपुराण में वर्णित है। काव्य या नाटक में संस्कृत भाषा का प्रयोग देवताओं के मुख से कराना चाहिए जबकि मनुष्य के मुख से तीन प्रकार की प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी, माग्धी) का प्रयोग कराना चाहिए। काव्य तीन प्रकार का कहा गया है, गद्य, पद्य, चम्पू-

अपदः संत पदसंतानो गद्यं तदपि गद्यते।

चूर्ण कोत्कलिकावृत्तसंधिभेदात् त्रिरूपकम्।।[7]

पद (चरण) रहित पद समूह गद्य कहलाता है। चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगंधि ये तीन रूप कहे गये है। आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा, कथानिका, गद्यकाव्य के पाँच प्रकार है। कथा एवं आख्यायिका के लक्षणों का निरूपण, सम्यक रूपेण अग्निपुराण में है।

महाकाव्य कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक मुक्तक और कोष ये पद्य के भेद है। सरविन्धो महाकाव्यमारव्धं संस्कृतेनयत्।[8]

अग्निपुराण के 338वें अध्याय में रूपक विवेचन है।[9] जिसमें रूपक के भेद अर्थप्रकृति, नाटकीय संधि[10] तथा नाटक के श्रेष्ठ गुणों की चर्चा है। देश और काल के बिना कोई भी कथानक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है-

देशेषु भारतं वर्षकाले कृतयुगत्रयम्।

नर्ते ताभ्यां प्राणभृतां सुखदुःखोदयः क्वचित्।।....1[11]

पुनः अग्निपुराण(339) में श्रृंगारादि रसों का निरूपण है। रसों के

सभी अंग स्थायी संचारी विभाव अनुभाव के पश्चात् नायिका भेद का वर्णन है। इसमें ब्रह्म की अभिव्यक्ति को चैतन्य चमत्कार या रस कहा गया है। ब्रह्म के आदिम विहार को कहकर कहते है जिससे अभिमान का उदय होता है। अभिमान से ही रति की उत्पत्ति होती है।[12] और रति, व्यभिचारी आदि भावों से परिपुष्ट होकर श्रृंगार रस के रूप में परिणत हो जाती है। श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करूण, वीर से अद्भुत और विभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।[13]

अग्निपुराण अधिकांशतः संकलन पर आधृत होते हुए भी कुछ नवीन एवं असाधारण मान्यतायें प्रस्तुत करता है।

1. मूलतः रस चार है: श्रृंगार, वीर, करूण तथा रौद्र
2. श्रृंगार - सम्बन्धी नवीन मान्यता

   अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनं अजं विभूम्।

   वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।।

   आनन्दः सहजस्तस्य ब्यजयते स कदाचन।

   व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्कारसाह्व।।

   आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽऽहंकार इति स्मृतः।

   ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्।।

   अभिचार्यादि सामान्याच्छृंगार इति गीयते।।[14]

3. आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य को व्यंग्य-प्रधान माना है, पर इस ग्रन्थकार ने शास्त्र में शब्द की प्रधानता, इतिहास (पुराणादि) में आस्था की प्रधानता कहकर काव्य को अभिधा प्रधान माना है।[15]

4. अग्निपुराण में हास्य रस के चार भेद किये गये हैं परन्तु भरत, विश्वनाथ आदि के ग्रन्थों में छः भेदों का उल्लेख है। इसी प्रकार वीभत्स के दो भेद, करूण और रौद्र के तीन भेद अन्य प्रचलित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

5. अर्थालंकारों के वर्गीकरण में भी नवीनता द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ स्वरूप, सादृश्य उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध और हेतु के उल्लेख के बाद स्वरूप अलंकार के निज और आगन्तुक भेदों की कल्पना भी लेखक के नवीन दृष्टिकोण की परिचायिका है।

6. यद्यपि ग्रन्थकार ने रसवादी आचार्यों की परिपाटी को नहीं अपनाया तो भी काव्य में रस की स्वीकृति इन्हें अभीष्ठ अवश्य थी। उदाहरणार्थ- महाकाव्य के लक्षण में इनका यह मत उदाहरणीय हैं -

वाग्वैदग्ध्यप्रधानोऽपि रस एवात्र जीवितुम्।

पृथक् प्रयत्नं निर्वर्त्यं वाग्विक्रमणि रसाद्वपुः।।[16]

''डॉ॰ सुशील कुमार डे का अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग के विषय में मन्तव्य है कि- अग्नि पुराण में वर्णित अलंकार भाग एक ऐसे मार्ग का अनुसरण करता है जो अनेक रूपों में प्राचीन प्रणाली से पृथक हो जाता है। बाद के साहित्य में अग्नि-पुराण की परम्परा का विकास महाराज भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में किया।''

निःसंदेह डे की धारणा अधिकांशतः सम्मान्य है। अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग में कतिपय प्रसंग नितान्त नूतन है -

(क). इस प्रकरण में गुण प्रकरण प्राचीन परिपाटी से पृथक रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसमें गुणों की संख्या उन्नीस मानी गई है। गुणों का वर्गीकरण भी प्रचलित पद्धति से सर्वथा नवीन है, शब्दगुण अर्थगुण सात प्रकार का है अर्थ तथा शब्दार्थ गुण क्रमशः छः-छः प्रकार के

हैं।

(ख) इसी प्रकार दोष के वर्गीकरण में भी कुछ नवीनता दर्शनीय है। यथा वक्तृदोष, वाचकदोष तथा वाच्यदोष पुनः इन वर्गों के विविध उपवर्ग है। इसी प्रकरण में कवि समय-ख्याति के सामान्य लक्षण के अनन्तर इसके जो विविध प्रकार दिये गये है, वे भी सर्वथा नवीन है।

(ग) इसी प्रकार श्रृंगार रस को अभिमान एवं अहंकार से उत्पन्न स्वीकृत करना भी नूतन कल्पना है। यही धारणा भोजदेव ने भी अपने दोनों ग्रन्थों 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'श्रृगंकारप्रकाश' में पर्याप्त विस्तार के साथ प्रस्तुत की है। यदि अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग भोजदेव के उक्त दोनों ग्रन्थों से पूर्व माना जाए तो श्रृंगार रस सम्बन्धी इस उद्भावना का श्रेय अग्निपुराण को ही मिलेगा।

अग्निपुराण का अलंकार प्रकरण प्रत्येक दृष्टि से नवीन है यथा शब्दालंकारो के नौ भेद है:-

छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फनन, वाकोवाक्य, अनुप्रास चित्र, दुष्कर आगे इन अलंकारों के उपभेद इस प्रकार है:-

1. छाया के चार उपभेद है:- लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्थकोक्ति और मतोक्ति।

2. उक्ति अलंकार के छः भेद होते हैं:- विधि, निषेध, नियम, अनियम, विकल्प और परिसंख्या।

3. युक्ति अलंकार के दो भेद है:- ऋजु वाकोवाक्य और वाकोवाक्य।

4. वाकोवाक्य अलंकार के दो भेद है:- ऋजुवाकोवाक्य और वक्रवाकोवाक्य।

5. गुम्फन अलंकार के तीन भेद होते हैं:- शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थगत।

6. अनुप्रास के प्रमुख तीन भेद है:- वर्णगत(छेकानुप्रास) और (वृत्यानुप्रास) पदगत(यमक) और वाक्यगत(लाटानुप्रास)

7. वृत्यानुप्रास का विभाजन भी उपभेदों के अन्तर्गत है:- मधुरावृत्ति, ललितावृत्ति, प्रौढ़ावृत्ति, भद्रावृत्ति और परूषांवृत्ति। इस परूषा के भी फिर स्थान भेद में भेदोपभेद प्रस्तुत किये गये हैं।

8. पदगत(यमक) अलंकार के भी व्यपदेशी और अव्यपदेशी और तदनन्तर स्थान और पाद के भेदोपभेदों के बाद पादादि मध्यान्त के विभेद से इसके 10 और भेद प्रदर्शित किये गये हैं।

9. चित्र अलंकार के भेदोपभेद इस प्रकार है:- प्रश्न, प्रहेलिका(शाब्दी और आर्थी) गुप्तपद, च्युतपद्(स्वर, च्युत, व्यञ्जन, च्युत बिन्दु, चयुत विसर्ग) दत्तपद और समस्या तथा बंध।

10. दुष्कर के अन्तर्गत विदर्भ और नियम तथा बंध का भी उल्लेख बांधो की आठ संख्या इस प्रकार है:- गोमुत्रिका बंध, अर्ध-भ्रमण बन्ध, सर्वतोभप्र, अम्बुज, चक्र, चक्राब्ध दण्ड और मुरज।

11. मुद्रा के भेदोपभेद नहीं हैं।

शब्दालंकारों के प्रधान भेद नौ हैं उपभेद 34 और गौण भेद 38 हैं।

अग्निपुराण के 340 अध्याय में रीति निरूपण है।[18] अग्नि देवता ने कहा कि वाग्विद्या का पूर्ण ज्ञान कराने में रीति का स्थान निर्विवाद है। इसके पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी (लाटजा) चार भेद हैं।

पांचाल रीति में छोटे-छोटे विग्रह होने चाहिए और वह कोमल तथा अलंकृत भाषा से संयुक्त हो।[19] 341वें अध्याय में नृत्यादि का निरूपण[20]

तथा 342वें में अभिनय का विवेचन है। नाटक की वर्ण्य वस्तु को दर्शकों के समक्ष लानेवाला अभिनय ही होता है। यह अभिनय चार प्रकार का होता है। सत्वाश्रय, वागाश्रय, अंगश्रय, आहरणाक्षय।[21]

अग्निपुराण की गुणधारणा सर्वथा नवीन है। गुण को काव्य में कान्ति का आधान करने वाला धर्म कहा गया है और सामान्य तथा वैशेषिक, इन दो मुख्य वर्गों में उसका विभाजन किया। सामान्य गुण वर्ग के तीन उपवर्ग की कल्पना की गई है:- शब्दगत गुण वर्ग, अर्थगत गुण-वर्ग एवं उभयगत गुणवर्ग स्थिति विशेष में काव्य शोभाधायक गुण बन जाने वाले काव्यदोषों को वैशेषिक गुणवर्ग में रखा गया है और दोष प्रकरण में उसपर विचार किया गया है। सामान्य तथा वैशेषिक वर्ग में भोज ने भी काव्यगुणों कवि भोज की गुणधारणा एवं अग्निपुराण की गुणधारणा में बहुत समता पाया जाता है। डॉ. वी. राघवन की मान्यता है।[22]

डॉ. सुशील कुमार डे[23] इस मत से सहमत नहीं। वे अग्नि पुराण के लेखक भोज से पूर्ववर्त्ती होने का अनुमान कर भोज पर भी उसका पुष्कल प्रभाव मानते हैं। अग्निपुराण में काव्यगुण को भावनात्मक सत्ता है। सामान्य गुण उन्नीस है[24] सात शब्दगत, छह अर्थगत एवं छह शब्दार्थोभयगत। अग्निपुराण की गुणधारणा के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भरत, दण्डी और वामन के गुणों में से अधिकांश नाम स्वीकार करने पर भी अग्निपुराकार ने उनके सभी लक्षणों को स्वीकार नहीं किया है। कुछ गुण अग्निपुराण में सर्वथा स्वतन्त्र भाव से कल्पित है।

निष्कर्षतः- अग्निपुराण (अध्याय 336-346) में काव्यविषय पर लेखक ने उद्हरणात्मक ढ़ंग अपनाया है किन्तु विवरण अधिक व्याप्त और व्यवस्थित है। इसका अलंकार संबन्धी खण्ड मुख्यतः संग्रह ही है। फिर भी संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में अग्निपुराण की देन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। अग्निपुराण में विविध तथा परस्पर भिन्न विषयों का समावेश

है, जो इस धारणा को मानने को बाध्य करता है कि सम्पूर्ण सामग्री विभिन्न समयों में विभिन्न लेखकों के द्वारा समय-समय पर रचित परिवर्तित तथा परिवर्द्धित होती रही इसीलिए इस रचना को विश्वकोष कहा गया है। भामह, दंडी, महाराज भोज ओर ध्वनिकार आदि प्रसिद्ध प्राचीनाचार्यों द्वारा अग्निपुराण के विषय का उपयोग पर्याप्त किया गया है। लोचन व्याख्याकार अभिनवगुप्त आचार्य ने अग्निपुराण के श्लोक को ध्वन्यालोक में उद्धृत किया है।

अभिधेयेन सारूप्याव्सामीत्यात्समवायतः।

वैपरीत्यात्क्रिया योगाल्लक्षणा पञ्चधा मता।।[25]

यही क्यों महाराज भोज जैसे विद्यारसिक और साहित्यमर्मज्ञ विद्वान ने अग्निपुराण में संक्षिप्त निरूपित साहित्य विषय को अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में उदाहरण सहित स्पष्ट किया है। सच तो यह है कि अग्निपुराण में वर्णित विषय एक प्रकार से सूत्र रूप में है उसकी व्याख्या यदि ''सरस्वतीकण्ठाभरण'' में विस्तृत न की जाती तो वह विषय समझना एक बड़ी विकट समस्या हो जाती। निश्चय ही अग्निपुराण गौरवान्वित और प्रतिष्ठित पौराणिक आर्षग्रन्थ है।

कूट शब्दः- काव्य, नाट्यतत्त्व, रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, दोष।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचीः-

1. स्कन्दपुराण- प्रभास 2.90
वेदवन्निष्चलं मन्ये पुराणार्थ द्विजोत्तमाः।
वेदाः प्रतिष्ठिता सर्वे पुराणे नात्र संषायः।।
2. अग्निपुराण- (333.52)
3. अग्निपुराण- (1.1)
4. अग्निपुराण- 337.3
5. अग्निपुराण- 337.4
6. अग्निपुराण- 337.7

7. अग्निपुराण- 337.9
8. अग्निपुराण- 337.24
9. अग्निपुराण- 338.1, 338.2, 338.3

नाटकं सप्रकरणं- ..... सप्रविंषतिधैवतत्।।

10. अ.पु. - 338.21

मुखं प्रतिमुखं गर्भो ..... क्रमात्पञ्चैक संधयः।।

11. अ.पु.- 338.27
12. अ.पु. - 339.4

अभिमानाद्तिः - ..... इति गीयते।।

13. अ.पु. - 339.6

सत्वादिगुणः - ..... भूर्वीभत्स इष्यते।।

14. अग्निपुराण- 339.1, 339.2, 339.3, 339.4
15. अग्निपुराण- 337.2

शास्त्रे शब्दप्रधान - ..... ताभ्यां विभिद्यते।।

16. अग्निपुराण- 337.33
17. सुषील कुमार डे- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ.- 92
18. अग्निपुराण- 340.1

वाग्विद्यसंप्रति ..... लाटजा तथा।।

19. अग्निपुराण- 341.1

चेष्टाविषेषमत्यङग्प्रत्यङो ..... बलाश्रयः।।

20. अग्निपुराण- 342.1

अभिमुख्यं ..... हराणाश्रयः।।

21. अग्निपुराण- 346.3

यः काव्येमहतीं ..... इति द्विधा।

22. डॉ. वी राघवन - 329
23. डॉ. सुषील कुमार डे- संस्कृत साहित्य का इतिहास 204
24. अ.पु.- 346.6

श्लेषोलालित्य ..... शब्दरतस्य सत्रधा।।

25. अ.पु.- 345.11,12

वैदिक साहित्य में भाषा और संस्कृति

कुशुम (शोधच्छात्रा)
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, हरियाणा

संस्कृत साहित्य के विशाल प्रांगण में वैदिक साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। यह साहित्य अत्यंत प्राचीन होते हुए भी अपना अनुपम वैशिष्टय रखता है। यह भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्राण है। वेद ज्ञान के वे सागर हैं जिनमें डुबकी लगाकर मनुष्य एहिक और आमुष्मिक कल्याण प्राप्त कर सकता है। वैदिक साहित्य का महत्व केवल भारतवर्ष में ही नहीं रहा अपितु अनेक देशों के विद्वान वेदों में निहित ज्ञान एवं उसके गुणों से प्रभावित हुए। संपूर्ण विश्व साहित्य में वेदों का स्थान बिना किसी विवाद के अग्रगण्य और गौरवास्पद है। वैदिक साहित्य में चारों वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के साथ अन्य का भी समावेश होता है। वेदों के उपवेद, ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद्, षड्वेदांग, अनुक्रमणिका आदि का ग्रहण भी वैदिक साहित्य के अंतर्गत होता है। भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनतम बहुमुखी उपयोगिता तथा व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक साहित्य का अपना अद्वितीय स्थान है।

वैदिक साहित्य को आधार मानकर अधिकांश परवर्ती साहित्य का सृजन हुआ है। प्रत्येक युग की भाषा का अपना अलग-अलग महात्म्य होता है। भाषा हमारे जीवन का महत्वपूर्ण साधन है। जिसके माध्यम से हम अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो पाते हैं। किसी भी काल की संस्कृति को विशेष रूप से भाषा के माध्यम से ही प्रकट किया जा सकता है। भाषा संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग होती है और संस्कृति के माध्यम से ही हम अपने इतिहास को जान सकते हैं।

भारत में आर्य भाषा के आरंभ के बारे में निश्चित सूचना देना थोड़ा भी संभव प्रतीत नहीं होता है तथापि विद्वानों ने इसका निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया कि 1500 ई. पूर्व के आस-पास भारतीय आर्य भाषा का काल है। तब से लेकर आज तक भारतीय आर्य भाषा की यात्रा लगभग 3500 वर्षों की हो चुकी है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के विकास क्रम का अध्ययन करते समय हम समग्र विकास को तीन युगों में विभक्त करते हैं:–

1. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा युग 1500 ई. पूर्व से 500 ई. पूर्व तक।
2. मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा युग 500 ई.पूर्व से 1000 ई. पूर्व तक।
3. आधुनिक भारतीय आर्य भाषा युग 1000 ई.पूर्व से अब तक।[1]

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा युग की भाषा का प्रत्यक्षीकरण हम ऋग्वेद की भाषा में करते हैं। इस काल की भाषा का विकास यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा सूत्र ग्रंथो तक हुआ है। इसे ही वैदिक संस्कृत के नाम से अभिहित किया जाता है। इस काल में भाषा के विकास को दो वर्गों में विभाजित किया गया है- वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत।[2]

वैदिक संस्कृत:-

वेदों की भाषा का नाम वैदिक संस्कृत है। इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में देखा जा सकता है। वैदिक संस्कृत को ही प्राचीन संस्कृत, छान्दस संस्कृत अथवा वैदिकी के नाम से जाना जाता है। सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि वैदिक संस्कृत वेदों, ब्राह्मण ग्रंथो, आरण्यकों, उपनिषदों की भाषा का नाम है। वेदों की 1130 शाखाएं मानी गई है परंतु वर्तमान में इन शाखाओं के 6 प्रातिशाख्य ग्रंथ ही उपलब्ध होते हैं यथा:-

1. शौनक कृत ऋक्प्रातिशाख्य।

2. कात्यायन कृत शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य।

3. तैत्तिरीय संहिता का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य।

4. मैत्रायणी संहिता का मैत्रायणी प्रातिशाख्य।

5. सामवेद का पूष्य सूत्र।

6. अथर्ववेद का अथर्व प्रातिशाख्य।

मन्त्रों के अर्थों को सुरक्षित रखने हेतु संहिता के प्रत्येक पद को संधि रहित अवस्था में अलग-अलग करके पद-पाठ बनाया गया तथा पदपाठ से संहिता पाठ बनाने के लिए नियम निर्दिष्ट किए गए और इस प्रकार वेद की विभिन्न शाखाओं के प्रातिशाख्यों की रचना हुई। इन प्रातिशाख्यों में अपनी-अपनी शाखा से संबंधित वर्ण-विचार, उच्चारण, पद-पाठ आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

विश्व की प्रत्येक भाषा की अपनी कुछ विशेषताएं होती हैं, जो उसे विश्व की अन्य भाषाओं से अलग और विशेष बनाती है। वैदिक संस्कृत भी इसी प्रकार अपनी कुछ विशेषताएं अपनाएं हुए है। जो इस प्रकार हैं:-

वैदिक संस्कृत में कुल 52 ध्वनियां हैं।[3] जिनका भाषा शास्त्रीय वर्गीकरण इस प्रकार है:-

वैदिक स्वर :-

मूल स्वर- ह्रस्व - अ, इ, उ, ऋ, लृ

दीर्घ - आ, ई, ऊ, ॠ

संयुक्त स्वर - ए, ओ, ऐ, औ

वैदिक व्यंजनः-

स्पर्श व्यंजन कंठस्थ- क् ख् ग् घ् ङ्

तालव्य- च् छ् ज् झ्

मूर्धन्य- ट् ठ् ड् ळ ढ् ळह् ण्

दन्त्य- त् थ् द् ध् न्

ओष्ठय- प् फ् ब् भ् म्

अन्तस्थ- य् र् ल् व्

ऊष्म- श ष् स्

महाप्राण- ह

शुद्ध नासिक्य- अं

अघोष संघर्षी- विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय

इस प्रकार वैदिक संस्कृत की ध्वनियां:- स्वर एवं व्यंजन दो भागों में विभक्त हैं। जहां स्वर दो वर्गों में विभक्त हैं:- मूल तथा सयुंक्त स्वर वही व्यंजन अनेक वर्गों में विभक्त हैं।

- वैदिक संस्कृत श्लिष्ट योगात्मक है।
- वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनों ही स्वराघात उपलब्ध हैं।
- वैदिक संस्कृत में आठ विभक्तियों (कर्ता, संबोधन, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण) का प्रयोग मिलता है।
- वैदिक संस्कृत में धातुओं के रूप आत्मने एवं परस्मै दो पदों में मिलते थे।
- वैदिक संस्कृत में काल एवं भाव मिलकर 10 लकारों का प्रयोग मिलता है।
- वैदिक संस्कृत में रेफ का अधिक प्रयोग होता था परंतु बाद में

रेफ के स्थान पर लकार का प्रयोग होने लगा।

- वैदिक संस्कृत में संधि के लिए कठोर नियम नहीं है।

लौकिक संस्कृत:-

लौकिक संस्कृत 'प्राचीन-भारतीय-आर्य भाषा' का वह रूप है जिसका पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में विवेचन किया गया है, वह लौकिक संस्कृत कहलाती है। वैदिक संस्कृति की चार ध्वनियां ळ, ळह्, जिह्वामूलीय, और उपध्मानीय के लुप्त होने से लौकिक संस्कृत की 48 ध्वनियाँ शेष रह गई हैं।

वैदिक भाषा का संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात अब वैदिक संस्कृति पर दृष्टि डालते हैं क्योंकि किसी भी काल की संस्कृति के माध्यम से ही उसके इतिहास को जाना जा सकता है।

वैदिक संस्कृति:-

विश्व के इतिहास पर दृष्टि डालने पर हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी संदेह के पहुंचते हैं कि विश्व में प्राप्त होने वाली समस्त संस्कृतियों में यदि कोई प्राचीनतम संस्कृति है तो वह वैदिक संस्कृति ही है। संसार के अन्य राष्ट्र जब अज्ञान अंधकार में निमग्न थे, उस समय वैदिक आर्य संपूर्ण कला-कौशलों के विशेषज्ञ थे1 आज भी भारतीय संस्कृति वस्तुतः वैदिक संस्कृति के बहुमुखी व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव को लेकर जीवन यात्रा कर रही है। इसके तत्त्व इतने पुण्य है कि वह विशाल जीवन यात्रा में कभी पथभ्रष्ट नहीं हुई है। इस संस्कृति के तत्त्व प्राचीनतम वैदिक संस्कृति के तत्त्व है, जो कि विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। उस संस्कृति की प्राचीनता की घोषणा विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेद स्वयं कर रहे है-

"सा प्रथमा संस्कृति: विश्ववारा"[4]

विश्व के द्वारा वरणीय अर्थात आनंद दायिनी संस्कृति वैदिक संस्कृति

ही है।

किसी समाज, देश या राष्ट्र के मानवों के धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान से सम्बद्ध क्रियाकलाप तथा आदर्श, सभ्यता, संस्कार- इन सभी का जो सामंजस्य है वही संस्कृति है अथवा स्थूल रूप से संस्कारों का नाम ही संस्कृति है जो कि दुर्गुण, दुर्व्यसन, पाप तथा दुर्भावनाओं को हृदय से निकालकर निष्पाप तथा शुभ गुणों से युक्त करती है। अब हम वैदिक संस्कृति के कुछ मूलाधार तत्वों का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

अध्यात्मवाद:-

वैदिक संस्कृति की प्रथम विशेषता या मूलाधार ऋत और सत्य की भावना है। समस्त संसार प्राकृतिक शक्तियों के अधीन नियमों के अनुकूल चलायमान है। इन नियमों में कहीं वैषम्य नहीं है। इसी विषमता के अभाव को ऋत कहा जाता है। मानव जीवन के प्रेरक नैतिक तत्वों का नाम सत्य है। यह आध्यात्मवाद हमें भोगवाद से दूर कर ईश्वर विषयक ज्ञान की ओर ले जाता है ईशावास्योपनिषद् के आरंभ में जगत् तत्त्व की खोज में लीन ऋषियों ने अपनी विचारधारा को क्या आध्यात्मिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक तथा क्या ही शारीरिक-सभी क्षेत्रों के मानवीय कर्तव्यों को सूत्र रूप में निबद्ध किया है-

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।"[5]

इस प्रकार ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना ही आस्तिकता है। ईश्वर सर्वव्यापक है अर्थात् पांचो तत्त्वों पर एक महान शक्ति का शासन है। यह आस्तिकवाद का सिद्धांत कि ईश्वर सर्वव्यापक है, आज भी विश्व के मनुष्यों को अनुप्राणित कर रहा है।

विश्वबंधुत्वः-

विश्वबंधुत्व की भावना का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। इसी आधार पर **'वसुधैव कुटुंबकम्'** की भावना परवर्ती काल में पल्लवित हुई। जिसका परिणाम राजा एवं रंक में स्नेह भावना का संचार करता है। विश्वशांति और विश्वबंधुत्व की उदात्त कमनीय भावना का निदर्शन यजुर्वेद के इस मंत्र में प्राप्त होता है-

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" ।[6]

अर्थात् हमें विश्व के सभी प्राणी मित्र दृष्टि से देखें और सभी प्राणियों को हम भी मित्र दृष्टि से देखें। इसी प्रकार वैदिक साम्यवाद की उदात्त भावना ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त में इस प्रकार मिलती है-

"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथापूर्वे सञ्जानानाम्उपासते।।"[7]

अर्थात् हे भगवान! हम सभी समान भाव से विश्व में गति करें, श्रेष्ठ भाषण करें, हमारे हृदय भी कल्याणकारी विचार वाले हो। जिस प्रकार प्राचीन काल में देव कल्याणकारी विचारों की उपासना करते थे ऐसे ही हम भी बने। यही नहीं विश्व कल्याण की कामना ही वैदिक संस्कृति का मूल मंत्र है, जैसा की बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है-

ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्।।[8]

अर्थात्

'विश्व के प्राणी मात्र सुखी हों, प्राणी मात्र निरोग हों, सभी मंगलदर्शी हों और किसी को भी दुःख का भागी न बनना पड़े।'

इस प्रकार की उदार घोषणाएं वैदिक संस्कृति की हैं। विश्व की अन्य

संस्कृतियों में इसका अभाव ही है। अतः यह मानना ही पड़ेगा की वैदिक संस्कृति विश्व को सुपथ का मार्ग अपनाने का ही उपदेश देती है।

सामाजिक स्थिति:-

वैदिक कालीन सामाजिक स्थिति उन्नत दशा में थी। आर्य-अनार्य संघर्ष के पश्चात् आर्यों के समाज की जो रूपरेखा तैयार हुई यही उनकी विकसित सामाजिक व्यवस्था थी। आर्यों के सामाजिक जीवन एवं संगठन पर सर्वाधिक प्रभाव आर्य-अनार्य संपर्क का ही पड़ा है। वैदिक सभ्यता के प्रारम्भिक काल में मानव मात्र दो वर्णों में विभक्त था- आर्य एवं अनार्य। आर्य पहले छोटे-छोटे कबीलों में रहते थे, कबीले छोटी-छोटी इकाइयों में बंटे थे जिन्हें ग्राम कहते थे। प्रत्येक ग्राम में कई परिवार बसते थे। इस समय संयुक्त परिवार हुआ करते थे एवं परिवार का सबसे वृद्ध व्यक्ति मुखिया हुआ करता था। समाज मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित था- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र। यह वर्गीकरण लोगों के कार्यों पर आधारित था न कि जन्म पर।

वैदिक कालीन सामाजिक स्थिति का अध्ययन कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि युगानुकूल आर्यों की सामाजिक स्थिति अच्छी थी, नैतिक स्तर उन्नत था, मनुष्य सदाचारी थे, समाज में सुख शांति थी।

आर्थिक स्थिति:-

वैदिक आर्यों के समग्र जीवन पर दृष्टि डालने पर हम कह सकते हैं कि वे राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में पर्याप्त विकास कर चुके थे। उनका जीवन सुव्यवस्थित था इसलिए वैदिक आर्यों को हम सुसंस्कृत एवं सभ्य जातियों के समान ही आर्थिक जीवन के विकास के लिए पशुपालन, कृषि, गृह-उद्योग, धंधे तथा व्यापार करते हुए ही प्राप्त करते हैं। आर्यों की आर्थिक अवस्था का मूलाधार पशुपालन ही था। सांड एवं बैलों से कृषि की जाती थी। अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है कि 'छः बैलों वाले

हल से कृषि करता है' ।[9]

यह पशु अन्न एवं अन्य भोज्य पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का भी कार्य करते थे। आर्यों का जीवन कृषक जीवन था। पशुपालन के अतिरिक्त उनकी जीविका का साधन कृषि थी। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि 'मनु को अश्विन देवताओं ने बीज बोना सिखाया और हल की सहायता से आर्यों को कृषि करना सिखाया' ।[10]

धर्म और दर्शन:-

ऋग्वेद कालीन मनुष्य प्रकृति की शक्ति दर्शाने वाले बहुत देवताओं की पूजा करते थे जैसे- अग्नि, सूर्य, वायु, आकाश और वृक्ष इनकी पूजा आज भी होती है। अग्नि, वायु और सूर्य से समाज की रक्षा के लिए प्रार्थना की जाती थी। इंद्र, अग्नि और वरुण सबसे अधिक मान्य देवता थे। यज्ञ एक जाना-माना धार्मिक कृत्य था। उत्तर वैदिक काल में कर्मकांड और यज्ञ के साथ-साथ ज्ञान मार्ग को महत्व दिया गया। भारतीय दर्शन का उदय भी ऋग्वेद के दशम मंडल में दृष्टिगोचर होता है असत् से सत् के उत्पन्न होने की बात कही गई है। अनेक ऐसे मंत्र प्राप्त होते हैं जिनमें सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया की ओर संकेत किया गया है। पुरुष सूक्त में पुरुष के यज्ञ से विश्व की उत्पत्ति बतलाई गई है।[11] वैदिक साहित्य में उपनिषद् भारतीय दर्शनशास्त्र के प्रमुख ग्रंथ हैं इन्हें वेदों के अंग माना जाता है।

नैतिक आदर्श:-

वैदिक साहित्य में नैतिक आदर्शों पर बल दिया गया है। नैतिक आदर्शों पर ही धर्म की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित थी। ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि देवता- मित्र और वरुण अमृत को जीतकर ऋत का पालन करते हैं। ईशावास्योपनिषद् में दूसरों के धन के लिए लालच का निषेध किया गया है-

"मागृधः कस्यस्विद्धनम्" ।[12]

उपनिषदों में आचार्य, शिष्य को जो उपदेश देते हैं वह नैतिकता की चरम सीमा का उपदेश है। तैत्तिरीयोपनिषद् में गुरु के द्वारा शिष्य को कहा गया है कि 'सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में आलस्य मत करो, सत्य से विचलित नहीं होना चाहिए, धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए अर्थात् सत्य और धर्म के पालन में प्रमाद नहीं करना चाहिए।[13] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक काल में सदाचार की प्रधानता थी। प्राचीन आर्यों में अतिथि सत्कार का महत्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में अग्नि को अतिथि कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार अग्नि पवित्र और उपास्य है उसी प्रकार अतिथि भी उपास्य, पूज्य एवं पवित्र है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक युग की भाषा एवं साहित्य उस युग की सामाजिक परिस्थितियों के दर्पण होते हैं। वैदिक भाषा और साहित्य का अवलोकन करने पर हमें ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों की धार्मिक, दार्शनिक तथा नैतिक मान्यताएं उत्कृष्ट थी। नि:संदेह चिरन्तन काल से वेद भारतीय संस्कृति के प्रकाश स्तंभ रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. भाषा और भाषा विज्ञान, डॉ. नरेश मिश्र, पृ. 83
2. वैदिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, राकेश पाणि त्रिपाठी, डॉ. सोहन राज, पृ. 94
3. हिंदी भाषा का संक्षिप्त इतिहास, डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 20
4. यजुर्वेद, 7.14
5. ईशावास्योपनिषद्, 1
6. यजुर्वेद, 36.18
7. ऋग्वेद, 10.191.2

8. बृहदारण्यकोपनिषद्
9. अथर्ववेद, 8.9.16
10. यवं वृकेणाश्विना वदन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।

अभि दस्युं वकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय त्।। ऋग्वेद 1.27.2

11. पुरुष सूक्त, 8
12. ईशावास्योपनिषद्-1
13. सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। तैत्तिरीयोपनिषद्- 1.11

The Art of Speech as gleaned from Katha Narration

Mrs. M. M.EKAlAKSHMI,
M.A.,M.Phil.,
Assistant Professor, Dept. of Sanskrit,
Shasun Jain College,Chennai-17

Introduction:-

Tamil poet Thiruvalluvar says,

"சொல்லுக சொல்லிற் பயனுடைய சொல்லற்க

சொல்லிற் பயனிலாச் சொல்"

The journey oflife is successfully carried on in this world only with the help of speech says Dandin.

"वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते "(Dandin's Kavyadarsa 1.3)

The triad of worlds will be pervaded by the blinding darkness if the light called speech fails to blaze throughout the world. Light illuminates objects. Similarly speech illuminates the world in all times and climes. Speech employed aright is deemed by wise men to be a cow, yielding all desires, but when employed amiss, it degrades the speaker.

गौ गौः कामदुघा संयक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।

दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥

(Dandin's Kavyadarsa 1.6)

The Subject of Speech:-

Taittiriya upanishad proclaims सत्यं वद, धर्म चर। (Sikshavalli- 20)

Speak the truth and practise Dharma

What is Satya?

यत्भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा

Truth is what promotes the absolute welfare of the living beings. Truth is different from veracity of facts. It is to be tested in its practical application to social relationship in the broadest sense, its effects upon all living beings and for all time. It does not serve class, communal Sectarian or individual interests, nor is its effect ephemeral, it is all pervasive and everlasting.

The Tamil poet Valluvar said,

"வாய்மை எனப்படுவது யாதெனின் யாதொன்றும்

தீமை யிலாத சொலல்."

Truth stands the test of time.

Vedanta Desika in his Sankalpa Suryodaya says,

` यत्सत्यं तदेव नित्यं भवति। यत्पुनः मिथ्या तत्कालेन अलीकं भवति।"

What is truth lasts forever; falsehood disappears like a mirage in

course of time.

Satya and Dharma are so inter-related as to be indivisible. Each is established in the other. In the Ramayana Kaikeyi tells Dasaratha this while reminding him of his pledge. सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः। (II 14.7) Again Rama endorses this and has alast word

"धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्"

Both Satya and Dharma are the sources of Strength. Rama gives the element of truth in his conversation with Jabali.

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।

सत्यभूतानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।। V.R.II.109.10

Truth is the lord of the universe. With truth associated the conduct of the good. Truth is the root of all virtues. There is nothing higher than truth. Therefore, endeavour to present the truth in speech. While speaking the truth caution must be exercised in presenting it in a pleasant manner.

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।"

It is better to be silent if the truth to be spoken will hurt others. One day, on the street, there were boys standing and torturing a tortoise, and beating it to death. But the tortoise did not die because its nature is to shrink its body in to its shell, a shield given by God to guard it self. But, a saint who was wedded to truth came that way. He felt that the boys did not know the truth that the tortoise will not die if it is beaten up in this condition. He told them, 'Oh boys, the Tortoise die only when it is topsy-turvy and beaten' Alas! The boys caught the idea and did as the saint instructed. The result was that the unfortunate creature died. If the saint kept silent the tortoise could have saved its life! Therefore, speak the truth when it does not harm or injure others.

"अहिंसा परमो धर्म:"

Non-violence is the greatest virtue, not only in action but also in speech.

Speaking is an art:-

A good speech depends upon the choice of expressions. If you call a person a fool then you are inviting trouble. But the same sense you can imply by telling his try to be wise' which like a saying in Tamil 'press the needle in a plantain'- will not provocate the hearer.

The characteristics of a good speaker:-

The qualities of a good speaker speaker are illustrated in the tribute paid by Rama to Hanuman in the Ramayana. Neither

in the face nor in the eyes, in the fore head, in the eyebrows or in other features, could we detect any flaw that might detract from the beauty of speech. Neither verbose nor indistinct and obscure, neither too slow nor too fast, his speech is delivered in a voice that is pitched in the middle register and issues from the chest and throat. His cultivated utterance with the words pronounced distinctly giving each syllable its due weight neither slurred over norlong drawn-out displays all the qualities of a good speaker and it captivates the mind of a hearer. Who will not be moved, even if he were an assassin about to strike, by such ravishing speaker that ranges through the three octaves?

न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा। अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित्॥ अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमव्ययम्। उरस्थं कण्टगं वाक्यं वर्तते मध्यम स्वरम्॥ संस्कारक्रम-संपन्नामद्भुतामविलम्बिताम्। उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदय हर्षिणीम्॥ अनया चित्रया वाचा त्रिस्थान व्यञ्जनस्तया। कस्य नाराध्यते चित्तं उद्यतासेररेरपि॥

Regarding the 'samskara vak', (the cultivated speech) Sri Vedanta Desika describes in the "Yadavabhyudaya, with a string of adjectives, how Maya addressed Kamsa":

अथ च भोजनियन्तुः अयन्त्रिता दनुजहन्तुः उदन्तमुरौरिरत्।

पटु गभीरमुदारमनाकुलं हितमविस्तरमर्थ्यमविप्लवम्॥

"Then the subduer of Bhojas and the killer of Danujas spoke with out restraint in a voice, at once sharp and clear, pregnant with meaning, exalted, unperturbed, well-meant, devoid of unnecessary words, purposeful and direct."

Eight characteristics of her speech (illustrated here for a good speech) are compressed in one half a sloka. Patu (Strong) gabhiram (deep) udaram (eloquent) anakulam (with out faltering) hitam (beneficial) avistaram (not rambling) arthyam (Meaning full, having a target in view) and aviplavam (not confused, with out mincing words) yet another example of a good speech is described by Magha in his Sisupalavadha (2.7)

when Sri Krishna addressed the assembly of Kauravas.

द्योतितान्तस्सभै : कुन्दकुड्मलाग्रादतः स्मितैः।

स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती॥

The Assembly and the minds of those assembled were lit up as it were by the smile that emanated from Krishna'slips, with teeth gleaning whitelike 'kunda', jasmine buds.

The speech was bathed as it were in thelight of chaste diction and depth of meaning.

Again in the Ramayana, the characteristics of a good speech could be traced when Sita compliments Hanuman when he conveys to her the news of Rama's victory.

अतिलक्षण संपन्नं माधुर्यगुणभूषणम्।

बुद्ध्या ह्यष्टाङ्ग्या युक्तं त्वमेवार्हसि भाषितुम्॥

V.R. (VI.113.25)

"Endowed with the mark of quality, sweet in expression, adorned with virtues, so supremely accomplished in all the eight aspects of intellect, you alone are competent to speak.

The commentary, 'Tilaka' gives the eight qualities of Buddhi.

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।

उन्हापोहोऽर्थ विज्ञानं तत्व ज्ञानं च धीगुणाः॥

1. Willingness to learn.
2. Paying close attention to the teacher
3. Comprehending the knowledge imparted
4. Remembering the above
5. Examining the above in the light of previous knowledge
6. Knowing its essence

7. Application of the knowlege acquired, at the appropriate time.

An example of such application or rather a careful preparation to speak is illustrated by Hanuman's approach to Sugriva.

निश्चितार्थः-अर्थतत्वज्ञः कालधर्म विशेषवित्।

वाक्यविद् वाक्यतत्वज्ञं हरीशं मारुतात्मजः।।

प्रसाद्य विविधै वाक्यैः हेतुमद्भिः मनोरमैः।

हितं तत्वं च पथ्यं च सामधर्मार्थ नीतिमत् ॥

प्रणय प्रीतिसंयुक्तं विश्वास कृतनिश्चयम्।

हरीश्वरमुपागम्य हनूमान् वाक्यमब्रवीत् ॥

(V.R. IV 296,7,8)

He had decided upon what to convey; he knew the purpose to be accomplished; he knew his duty and the appropriate time for discharging his speech. He had considered all aspects of his speech and had prepared himself as to how to deliver his message. His speech was clear, comprehensive, well reasoned and pleasing to the ear as well as mind. His speech was conducive to hearer's (sugrivs's) welfare; truth, conciliatory, virtuous, purposeful and proper, carefully tuned his frame of mind imbued withlove for him; with confidence born out of the feeling that his cause is just"."Unexpressed intention causes grief"- this is noted by kalidasa through the words of Dushyanta who urged Sakuntala to come out with what she intended to say but hesitated to speak.

"The intention of the speaker when not expressed (repressed) at the right time causes regretlater".

"विवक्षितं हि अनुक्तं अनुतापं जनयति"

A speaker should not use words with out meaning or purpose.

Magha in his Sisupalavadha points out to this point.

"अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा।

निमित्तात् अपराद्ध - इषोः धानुष्कस्य इव वल्गितम्" (II.27)

"It is futile to talk merely by playing on words, with out regard to the purpose; it is like an archer boasting of his skill, when all that he knows is only to discharge the arrow, not to hit the target".

Scatter not pearls before the swine

Desika in his Hamsa sandesa says, "Certainly, the wise do not speak in the assembly of the wicked".

"शब्दायन्ते न खलु कवयः सन्निधौ दुर्जनानाम्।"

Desika, again in the "Subhashitanivi "says, figuratively," In the presence of one who could not distinguish the buzz of the mosquito from the music of the Vina, the best of musicians keep silent.

No doubt there are great savants on the earth, whose words faithfully follow events, in the sense, they truthfully tell us what happened. Their expressions follow the events.

And, the words of Rishis, and our ancient foreseers are proved by subsequent events; i.e. the events to occur become true to their works. (literally run after their words making them meaningful) as they spoke with their intuitional knowledge. Bhavabhuti in his Uttararamacharita says,

"लौकिकानां हि साधूनामर्थ वागनुवर्त्तते।

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थानुधावति॥"

As Bharavi expressed in his Kiratarjuniya (2-26) the speech reflects *the quality fo one's heart.*

अपवर्जित विप्लवे शुचौ हृदय ग्राहिणि मङ्गलास्पदे।

विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिध्शते ॥

"To the point, clear, charming the heart with auspicious content

and pure, the magnificent speech mirrors your mind".The mind is the seat of comprehension of ideas; unless the mind is truthful and clear, the speech cannot have the qualities above.

Note : "Apavarjita Viplava" - means, "with out being contrary to established usage and convention not confused, conforming to the recognized pattern grammatical and idiomatic".

Bharavi, in another place refers to the secret speech of a spy. How was his speech? He began to speak to in terms highly beautiful with aptness of expression, richness of meaning and with definite purport with out any ambiguity.

"स सौष्टवौदार्य विशेषशालिनीं

विनिश्चितार्थमिति वाचमाददे ॥" (Kirata 1.3)

People must appreciate the speech as wonderful. Here is an instance where Draupati delivers a speech. Observing this Bhima admires her and says, "what thelady of self respect has spoken

after viewing the pros and cons with affection, ornate glance that speech is really impossible even for Brhaspati (Thelord of Speech) to deliver.

"यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा।.

अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधति विस्मयम् ॥"

(Kirath II. 2)

Great efficiency is found in this speech, which is very short, but productive of ultimate good. It is pregnant with great meaning and significance but poignant (painful) to men of stunted powers,like a tiny but a highly powerful medicine bitter to the patient but remedies his illness ultimately!

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन् वचसि क्षतौजसाम्।

अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः॥

(Kirath II. 4)

Bhima says, "let this speech, so agreeable in sense appeal also to you who are fond of merits. Wise men who are impressed by the merits of the speaker don't care for the distinctions between speakers (as man or woman)

इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्थ भवतेऽपि भारती।

ननु वक्तृ विशेष निःस्पुहा गुण गृह्या वचने विवश्चितः॥

(Kirata_ll.5)

Speech capturing the heart at the same time beneficial is rare!

"हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः" (Kirata I.4)

At last, it is necessary for a good speaker to keep his heart pure, as an anonymous saying emphasized

'प्रवर्तते हि विशदे हृदि स्वच्छे सरस्वती।"

Clear expression comes out of a pure heart.

****

अप्रकाशित पाण्डुलिपि अष्टाह्निकाचरित्र का अवलोकन

श्री. महेश बापूसो देसाई
वर्धमान एजुकेशन एण्ड रिसर्च इन्स्टिट्युट, पुणे
पीएच.डी. शोधार्थी

प्रस्तावना:-

भारत की प्राय: सभी भाषाओं में कहानियाँ रची गयी हैं। भारत में मुख्यतः संस्कृत, प्राकृत और पाली भाषाएँ प्राचीन मानी जाती हैं। जैन धर्म के प्रचार के लिए प्राकृत का उपयोग किया जाता था जबकि बुद्ध द्वारा उपदेश के लिए पाली भाषा का उपयोग किया जाता था और तीनों भाषाओं में कथा साहित्य बहुत समृद्ध है। संस्कृत में कथासरित्सागर, बृहदकथामंजरी, बृहदकथाकोशादि ग्रन्थ हैं। पाली भाषा में जातककथा आज भी लोकप्रिय है। इन दोनों की भाँति प्राकृत भाषा का कथा साहित्य अत्यंत समृद्ध है। तीर्थंकरों की कथाएँ प्राकृत भाषा में वर्णित हैं। इसके साथ ही धार्मिक एवं व्रत संबंधी कथाएं भी शामिल हैं। प्राकृत साहित्य में समाज के रीति-रिवाजों, परंपराओं और त्योहारों का वर्णन करने वाली कहानियाँ भी मिलती हैं।

प्राकृत साहित्य समाज को प्रतिबिंबित करता है। मुख्य रूप से कहानियाँ कई चीजों का वर्णन करती हैं। कहानियाँ चार प्रकार की होती हैं काम कथाएँ, धार्मिक कथाएँ और मिश्रित कथाएँ। वर्ण की दृष्टि से दैवी, मानवीय और मिश्रित तीन प्रकार में विभक्त किया गया है। इस साहित्य का वर्गीकरण विषय, शैली, पात्र तथा भाषा के आधार पर किया जाता है। विषय की दृष्टि से अर्थ कथा, काम कथा, धर्म कथा और मिश्र कथा चार प्रकार की होती है। चरित्र की दृष्टि से दिव्य, मनुष्य और मिश्र तीन प्रकार

में विभाजित किये गये हैं। भाषा के आधार पर इसे संस्कृत, प्राकृत और मिश्र में विभाजित किया गया है। अत: शैली की दृष्टि से सकलकथा, खंडकथा, उल्लवकथा, परिहस्ककथा और परिष्कथा ये पांच भेद हैं। इस प्रकार की कहानियों में अनेक विषयों को प्रस्तुत किया जाता है। इसमें व्रत, पर्व, पूजा आदि की जानकारी भी वर्णित है। उदाहरणार्थ- सुगन्धसामीकथा से सुगन्धसामिवृत्त कहा जाता है, तत्त्वार्थसूत्रवृत्त आदि व्रत भी देखे जाते हैं।

जैन धर्म का उपदेश के लिए प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाता है, इसलिए जनसाधारण के वर्णन के साथ-साथ जैन धर्म का दर्शन भी प्रमुख है। साथ ही जैन धर्म के प्रमुख त्योहारों का वर्णन देखने को मिलता है। इन त्योहारों में पर्युषण पर्व सबसे महत्वपूर्ण त्योहार है। यह त्यौहार साल में तीन बार कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ में आता है और यह त्यौहार शुद्ध अष्टमी से शुद्ध पूर्णिमा तक आठ दिनों तक चलता है। इस पर्युषण पर्व के महत्वपूर्ण व्रतों में से एक है **अष्टाह्निका व्रत** इसे नंदीश्वरव्रत कहा जाता है। इस व्रत का उल्लेख आगम ग्रंथों में मिलता है। यह जानकारी आगम ग्रंथ के नायाधम्मकहा* में भी देखने को मिलती है।

प्राकृत जैन उपदेशों के लिए प्रयुक्त की जानेवाली भाषा है और यह समाज के साथ-साथ जैन धर्म के दर्शन का भी वर्णन करती है। साथ ही जैन धर्म के प्रमुख त्योहारों का वर्णन यहाँ देखने मिलता है। इन त्योहारों में सबसे महत्वपूर्ण है, **पर्युषण पर्व** श्रावक के दैनिक कार्यों में देव पूजा का विशेष स्थान है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण (त्रिशष्टिचरित्र)*2 नामक ग्रन्थ में देवपूजा का उल्लेख किया है वह इस प्रकार है:-

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम्।।

पवित्र आदर्श गुणवत्ता का कीर्तन (स्तुति, प्रार्थना, पूजा) वह कहा

जाता है कि जिसने परम पुरुषार्थ अमृत रूप को पूर्णतः प्राप्त कर लिया है, ऐसा है शुद्ध आत्मा का परम ब्रह्म स्वरूप स्तुति, पूजा, प्रार्थना का फल मोक्ष के सुख की प्राप्ति है।

आचार्य सोमदेव यशस्तिलकचम्पू*3 ने उपासना के विषय में लिखा है कि-

प्रस्तावना पूराकर्म स्थापना संनिधापनम्।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम्।।

पूजा छः प्रकार की होती है- प्रस्तावना, पुरकर्म, स्थापना, सानिध्यपन, पूजा और पूजाफल इन छः क्रियाओं की व्याख्या करते हुए वें लिखते हैं कि जिनेन्द्रदेव के गुणों का वर्णन करते समय अभिषेक विधि करने की प्रस्तावना है। याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्य, अध्वर, मख और मह सभी पूजा विधि के लिए वैकल्पिक शब्द है।

महापुराण में उल्लेख है-*4

प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्था सदार्चनम्।

चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टान्तिकोऽपि च।।

पूजा चार प्रकार की होती है- 1. सदार्चन (नित्यमहा) 2. चतुर्मुख (सर्वतोभद्र) 3. कल्पद्रुम, 4. अष्टाह्निका पूजा का चौथा रूप अष्टाह्निका है।

यही इस शोध प्रबंध का विषय है। यह पूजा साल में तीन बार की जाती है। आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन के महीनों में देवता नंदीश्वर की पूजा करने जाते है। नंदीश्वर आठवां द्वीप है। देव नन्दनवन से फल, फूल आदि लेकर बड़ी भक्ति से पूजा करते है। मेरुपर्वत कि भी इसी तरह पूजा करते है।

पर्युषण पर्व जैन धर्म का एक महान त्योहार है। इस महान पर्व में

सभी श्रावक-श्राविका यहां तक कि बच्चे भी इस पर्व में अपने मन, शरीर और आत्मा को शुद्ध करने के लिए तप, व्रत, जप, पूजा और कार्य करते हैं।

जब तक मनुष्य प्रमाद, मद और कर्म से स्वयं को दूर नहीं रखता अर्थात् इन चीजों का त्याग नहीं करता, तब तक उसे सम्यक ज्ञान और सम्यक दृष्टि प्राप्त नहीं होगी। इस कारण से अष्टाह्निका आठ दिवसीय त्योहार है, जो आत्मा को आठ विकारों से मुक्त करने के उद्देश्य से मनाया जाता है।

अष्टाह्निकथा का उल्लेख कथा-साहित्य में किया गया है, परंतु इस पांडुलिपि में इस ग्रंथ का नाम अष्टाह्निकाचरित्र अंकित है, परंतु इस शोध में इन दोनों ग्रंथों की विषयवस्तु पर भी विचार करना आवश्यक है।

लेखक परिचय:-

अष्टाह्निकाचरित्र पांडुलिपि के अंत में इसका उल्लेख सूरिम्होपाध्याय श्री जिनमाणिक्यशिष्य, महोपाध्याय श्रीअनंतहंसगणिकृत के रूप में किया गया है।

प्रस्तुत पाण्डुलिपि के लेखक अनंतहंसगणि हैं। 'दशदृष्टान्तचरित्र' अनंतहंसगणि द्वारा रचित है।

अनन्तहंसगणि तपागच्छीय जिनमाणिक्यगणि के शिष्य थे। जिनमाणिक्य ने प्राकृत में 'कुर्मापुत्र' और अपभ्रंश में 'अष्टाह्निकाचरित्र' की रचना है।

अंत में लेखक ने दशदृष्टान्त चरित्र*5 में गुरु परम्परा का उल्लेख किया है। वह अनंतहंस,रत्नशेखर, लक्ष्मीसागर, हेमाविमल और जिनमाणिक्य के शिष्य थे।

श्री.मो.द. देसाई (जैन गुर्जर कविओ)*6 ने अनंत हंस की तीन रचनाओं का उल्लेख किया है।

1. बारहव्रत सज्झाय

2. इलाप्रकार चैत्यपरिपाटी

3. शत्रुंजय चैत्यपरिपाटी

भाषागत विशेषताएँ:-

इस अष्टाह्निका चरित्र की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है अतः इसमें तत्सम, तत्भव एवं देशी शब्दों का उल्लेख मिलता है।

1. इस ग्रंथ में ऋ के स्थान पर भिन्न-भिन्न स्वर एवं ऋ के स्थान पर रि मिलता है।

उदाहरण:- वृषभः, वसहो, दृष्टिः, दिट्ठी, पृथिवी – पुहवी, वृक्षः - रिच्छो आदि।

2. स्वरों के मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द, य, व इन व्यंजनों का लोप हुआ मिलता है।

उदाहरण : जीवम् – जीअं, वचनम् – वअणं, विपुलम् – विउलं, रजतम् – रअदं।

3. स्वरों के बीच ट का ड मिलता है। उदाहरण: मुकुटम्–मउडं, कुंटग्राम-कुंडगाम

4. न के स्थान में सर्वत्र ण मिलता है। उदाहरण: ज्ञानम्–णाणं, जिणानम्-जिणाणं,

5. श और ष का सर्वत्र स होता है। उदाहरण: शिष्य–सिस, शशि - ससि

6. देशी शब्दों का भी उल्लेख इस ग्रंथ में मिलता है। उदाहरण : उज्जड – उजाड, कुड्ड – कौतुक, दवर – दोरा, ओलग्ग – सेवा

आदि।

इसके अनुसार इस ग्रन्थ में महाराष्ट्री प्राकृत की विशेषताओं का उल्लेख हमें मिलता है।

हस्तलिखितकी जानकारी:-

कैटलॉग:- भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टिट्युट, पुणे

ग्रंथ का नाम- अष्टाह्निका चरित्र

कर्ता- अनंतहंसगणि

कैटलॉग संख्या- भंडारकर भाग - 5, क्र. 1257-1258 (दो प्रती)

फोलियो (पत्र)– 23, गाथा- 600, लंबाई- 8.1 सेमी., चौड़ाई - 21.5 सेमी., अक्षर- एक पंक्ति में 45 अक्षरे, पंक्तियाँ– 13, लिपि- प्राचीन देवनागरी, भाषा- महाराष्ट्रीयन प्राकृत, स्थिति-अच्छी है, सामग्री- कागज

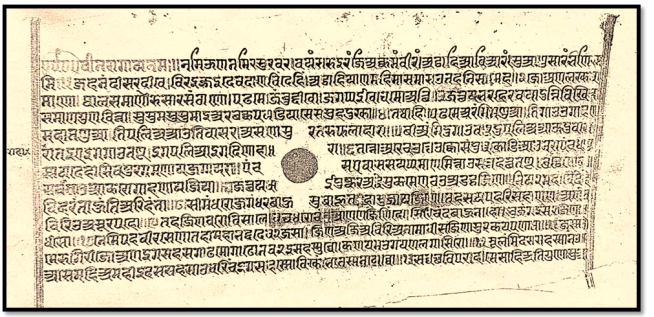

प्रस्तुत पाण्डुलिपि ग्रंथ में लेखक द्वारा विषयवस्तु:-

1. प्रथम अधिकार में तीर्थकरों का उल्लेख है।
2. द्वितीय अधिकार में नंदीश्वरद्वीप, मेरुपर्वत का वर्णन है।
3. तीसरे अधिकार में चौबीस तीर्थंकरों के पंचकल्याणक, तीर्थंकरों में समयांतर, मेरुपर्वत में शिलाका पर्वत का वर्णन है।

4. चतुर्थ अधिकार में राजप्रश्नीय उपांग में विजयदेव की माहिती व जम्बूद्वीप का वर्णन शामिल है। इसमें से हमें भौगोलिक जानकारी प्रदान होती है।

5. अंत में पंचम अधिकार में अष्टाह्निका महात्म्य का वर्णन किया गया है।

जैसा कि अष्टाह्निका में तीर्थंकर के जन्म उत्सव के आठ दिनों का वर्णन है, यह जैन समाज में इन त्योहारों को कैसे मनाया जाता है और अनुष्ठानों के बारे में जानकारी प्रदान करता है। साथ ही इस पुस्तक से हमें उस समय की सामाजिक और भौगोलिक क्षेत्र के बारे में भी जानकारी मिलती है।

अतः इस पुस्तक का अध्ययन करना आवश्यक है, क्योंकि कि यह पुस्तक पाण्डुलिपि रूप में है और अप्रकाशित है, इसलिए इसे प्रकाशित करना जरूरी है।

अनुसंधान पद्धति :

पाण्डुलिपि परीक्षण: अनुसंधान में पाण्डुलिपियों पर हर एक दृष्टि से गहन अध्ययन किया करना1 अष्टाह्निकाचरित्र ग्रन्थ पर पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध है। इसका विस्तृत विश्लेषण करना1 इसमें पाण्डुलिपि की सामग्री, भाषा, संरचना आदि अन्य विशेषताओं का अध्ययन करना1

तुलनात्मक विश्लेषण:पाण्डुलिपि के बीच तुलनात्मक विश्लेषण किया जाएगा1 आधुनिक विद्वानों द्वारा लिखे हुए और प्राथमिक स्रोत पांडुलिपियाँ के बारें मेंविश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाएगा1 शुद्ध औरअशुद्धि पाठ की पहचान करना1

सहयोगात्मक विशेषता: प्राकृतभाषा के क्षेत्र में विशेष माहिती निकालना1 व्रत, पूजा आदि के अध्ययन की जानकारी निकालना1 विज्ञान और प्राचीन भारतीय ज्ञान प्रणालियोँ की आवश्यकता पर प्रकाश डालना1

आलोचनात्मक संस्करण:अष्टाह्निकाचरित्र ग्रन्थ का आलोचनात्मक समीक्षणकरना1 पाण्डुलिपियों का विश्लेषण करना। मूल पाठ की सटीकता को सुनिश्चित करने के लिए इस पद्धती का अवलबंन किया जाएगा।

व्याख्या और विश्लेषण:व्रत, पूजा, तीर्थंकर, नंदीश्वरद्वीप, मेरुपर्वत आदि की व्याख्या का अभ्यास करना। अष्टाह्निकाचरित्र ग्रन्थ में आनेवाले पारिभाषिक शब्द, गाथाओं की व्याख्या एवं विश्लेषण देना।

ऐतिहासिक और बौद्धिक संदर्भ:- प्राचीन भारत का व्यापक ऐतिहासिक और बौद्धिक संबंध आदि की तुलनाज्ञान प्रणालियों के साथ की जाएगी।

निष्कर्ष:-

1. अप्रकाशित पाण्डुलिपियों को प्रकाश में लाना।
2. चिकित्सक आवृत्ती का समीक्षण करना।
3. प्रस्तुत पुस्तक में व्रत, पूजा आदि के लाभ का अध्ययन करना।
4. सामाजिक परिस्थिती का विश्लेषण करना।
5. प्रस्तुत पाण्डुलिपि में आए हुए व्रत, तपश्चर्या आदि का आधुनिक काल से तुलना करना।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची:-

1* नायाधम्मकहा 4/3
2* आदिपुराण (त्रिशष्टिचरित्र) 2/4
3* यशस्तिलकचम्पू 1/2
4* महापुराण 3/1
5* दशदृष्टान्त चरित्र, पृ. 128
6* जैन गुर्जर कविओ - श्री.मो.द. देसाई पृ.201

प्राथमिक-स्त्रोत:-

1. अष्टाह्निकाकथा: भाण्डारकर भाग-5 नं-1257, जिनरत्नकोश, संपा. हरि दामोदर वेलणकर, प्रकाशक-भाण्डारकर ओरिएंटल रिचर्स इन्स्टिट्युट, पुणे, आवृत्ति-इ.स.1944, भाग -1
2. अष्टाह्निकाकथा: भाण्डारकर भाग-5 नं-1258, जिनरत्नकोश, संपा. हरि दामोदर वेलणकर, प्रकाशक-भाण्डारकर ओरिएंटल रिचर्स इन्स्टिट्युट, पुणे, आवृत्ति-इ.स.1944, भाग -1.

सहायक-ग्रन्थ:-

1. जिनरत्नकोश, संपादक- हरि दामोदर वेलणकर, प्रकाशक- भाण्डारकर ओरिएंटल रिचर्स इन्स्टिट्युट– पुणे, आवृत्ति इ.स.1944, भाग -1
२. जैन साहित्याचा संक्षिप्त इतिहास, संपादक-मूनिचन्द्रसूरि, प्रकाशक-ओमकारसूरि ज्ञानमंदिर, गोपीपुरा, सुरत, आवृत्ति- इ.स.-2006
३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-5,6), संपा. दलसुख मालवणिया, मोहनलाल मेहता, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, आवृत्ति- 1993
४. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-1 ते 4), संपा. सागरमल जैन, शितिकंठ मिश्र, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, आवृत्ति-1999.
5. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग 6- काव्यसाहित्य, लेखक-डॉ.गुलाबचंद्र चौधरी, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5, आवृत्ति-ई.स. 1973
6. जैन ज्ञानकोश-खंड पहिला अ-औ, संग्राहक-अज्ञात प्रकाशक- मोतीलाल हिराचंद जैन ट्रस्टी-मा. चतुरबाई जैन ग्रंथमाला ट्रस्ट, औरंगाबाद, आवृत्ति-प्रथम, ई.स-1972 पान क्र.176-177 अष्टाह्निकापूजा, अष्टाह्निकाव्रत, व्रतकथा, व्रतोद्यापन खंड दुसरा- क-न, आवृत्ति-प्रथम ई.स.1974
7. जैन गुर्जर कविओ (भाग-1 ते 3), लेखक- देसाई, मोहनलाल दलिचंद, मुंबई -1931

***

सूत्रप्रकाश इति मातृकायाः पुष्पिकायाः अध्ययनेन ग्रन्थकारस्य अप्पादीक्षितस्य वंशपरिचयः

मैत्रेयी नंदकुमार मणेर (गवेषिका)
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
क.जे.सोमैयापरिसरः, मुम्बई

शब्दसूची: –

मातृका–मातृकाध्ययनम्–लिपिः–लिपिप्रकाराः-लिपिपरिचयः–ग्रन्थविश्लेषणसूची–मातृकाविवरणम्–पुष्पिका–पुष्पिकाविवरणम्–ग्रन्थकारस्य परिचयः–ग्रन्थकारस्य वंशवृक्षः–ग्रन्थकारस्य वंशनिर्धारणम् – ऐतिहासिकानि प्रमाणानि।

मातृ + 'इवे प्रतिकृतौ' ५.३.९६ इति सूत्रेण कन्-टाप् प्रत्ययेन मातृकाशब्द सिद्ध्यते। मातृका इत्युक्ते वर्णमाला। इति मेदिनी। लेखनम् इति नपुसकलिङ्गशब्दस्य अक्षरविन्यासः इति अर्थः मेदिनीकारः[1] वदति। Writing, painting, scratching & transcribing [2]– इत्यर्थाः वि.एस् आपटे Sanskrit to English कोशे तथा मोनिअर.विल्यमस् Sanskrit to English कोशे लेखन n. theleaf of the palm tree or लेखन n. writing down, transcribing Katha [3]l अतः विविधलेखनपटेषु लिखितानां मातृकाणाम् वैज्ञानिकदृष्ट्या अध्ययनं

---

1 https://sa.wiktionary.org/wiki/%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%A4%E0%A5%83%E0%A4%95%E0%A4%BE

2 Apate, V.S. , Sanskrit- English Dictionary, Gopal Narayen & co., Bombay, second edition, page 434

3 Williams Monier M, A Sanskrit to English Dictionary ,Motilal Banarasi Das ,Jan. 2011, page 901

कृत्वा भूतकालस्य ज्ञानराशेः समृद्धता प्रकाशिता भवति। मातृकाध्ययनाय लिपिविज्ञानं, भूगोलः, इतिहासः, पुरातत्वविद्या, ज्योतिषं, भाषाशास्त्रं, साहित्यादि शास्त्राणि सहाय्यभूतानि सन्ति सर्वदा।[1] येषामध्ययनेन हस्तलेखस्य मूलं किं स्यात् इति प्रश्नस्य विविधानि उत्तराणि संशोधितानि भवन्ति। तदर्थं सर्वप्रथमं लिपिज्ञानम् अत्यावश्यकम्। तेन मातृकाध्ययनस्य प्रारम्भः भवति। लिपिज्ञानेन मातृकागतविषयस्य आकलनं सुकरं भवति। लिपिज्ञानेन हस्तलेखस्य भाषा, विषयवस्तुः, कालः, लेखनस्वरूपं, प्रयोजनादि अङ्गानि प्रकाशितानि भवन्ति। यदि लिपिः एव न ज्ञाता तर्हि मातृका केवलं दर्शनमात्रा एव।

लेखनसाधनभूता भवति लिपिः। लिपिशब्दस्य प्रयोगः महर्षिणा पाणिनिना प्रणीते व्याकरणग्रन्थे अष्टाध्यायी, 3.2.21[2] उपलभ्यते। परन्तु तत्काले देशे कतिप्रकारिकाः लिपयः आसन्, तासां नामानि कानि इत्येतेषु विषयेषु विस्तरः तत्र न कोऽपि उल्लिखितः वर्तते। कौटिल्यस्य अर्थशास्त्रे (2.1.2) अपि राजपुत्रेभ्यः पाठनीयविषयत्वेन लिपिः उल्लिख्यते। ततोऽधिकं तथ्यं तु नैव लभ्यते तत्र अपि। अशोकस्य शिलालेखेषु 'लिपिः', 'लिबि', 'दीपि' इति शब्दाः दृश्यन्ते।[3] ते सर्वे लेखनसम्बन्धं द्योतयन्ति। डॉ. सायन्त माहातो संस्कृतभारत्या प्रकाशितस्य मेमासस्य मासिके प्राचीनभारतीयाः लिपयः इति लेखे विलिखति यत् जैनसूत्रग्रन्थेषु पन्नवणासूत्रे, समवायाङ्गसूत्रे, भगवतीसूत्रे च अष्टादशानां लिपीनां नामानि प्राप्यन्ते तथा ललितविस्तरग्रन्थे ६४ लिपीनाम् उल्लेखः अस्ति।[4] तत्र द्वयोः स्थानयोः द्राविडलिपिः इति उल्लेखः अस्ति। सूक्ष्मनिरीक्षणेन

---

1 डॉ. सत्येन्द्र, पाण्डुलिपि विज्ञान, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपूर, प्रथमसंस्करण-1978, प.स. 9

2 दिक्षितपुष्पा, अष्टाध्यायीसूत्रपाठः,ज्ञानभारतीप्रकाशन,नईदिल्ली, प्रथमसं. 2009 प.स. 26

3 माहातो सायन्त,सम्भाषणसन्देशः,संस्कृतभारती,वैशाखमासः मे 2023, प.स. 20

4 माहातो सायन्त,सम्भाषणसन्देशः,संस्कृतभारती,वैशाखमासः मे 2023, प.स. 21

अधिकांशलिपीनां पञ्चदशविभागाः कर्तुं शक्यन्ते – १.भारतस्य प्राचीनसर्वप्रचलितालिपिः, २. भारतस्य उत्तरपश्चिमभागयोः सीमिता लिपिः ३. भारते परिचिताः वैदेशिकलिपयः ४. प्रदेशानुगुणं लिपयः ५. जात्यानुगुणं लिपयः ६.साम्प्रदायिकाः लिपयः ७.चित्रलिपिः लिपयः ८.साङ्केतिक्यः लिपयः ९.उत्कीर्णाः लिपयः १०.शैलीविशिष्टाः लिपयः ११.यौगिकान्तरिकाः लिपयः १२.अनुलेखनम् १३.ग्रान्थिकशैलीविशिष्टाः लिपयः १४.गणनाशैलीविशिष्टाः लिपयः १५.काल्पनिक्य पारलौकिकाः लिपयः चl[1] तासु प्रदेशानुगुणं लिपिविभागे द्राविडलिपेः समावेशः भवति। केवलं संस्कृतभाषायां ग्रन्थानां लेखनं कर्तुं ग्रन्थलिपेः उपयोगः भवति स्मl ग्रन्थलिप्यां मातृकाणां लेखनम् अधिकतया तमिळनाडुराज्ये अभवत्l तमिललिप्यां महाप्राणाल्पप्राणौ तथा घोषाघोषौ लेखनाय भिन्नानि वर्णात्मकचिह्नानि न सन्तिl किन्तु मल्यालं वर्णाः सन्ति अतः द्वयोः लिप्योः एकत्रीकरणेन मणिप्रवालशैल्यां संस्कृतग्रन्थाः लिखिताःl अतः सैव ग्रन्थलिपिः इति कथितl ख्रैस्त त्रयोदश-चतुर्दशशतके अस्याम् अभिलेखाः उपलभ्यन्तेl तमिळनाडुतः केचन विद्वांसः केरल-कर्नाटकादि स्थलेषु निवसिताः आसन् अतः सद्यकाले तमिळनाडु-केरल-कर्नाटकस्थानेषु ग्रन्थलिपिमातृकाः प्राप्यन्तेl इति वदति -

Manuscriptology: An entrance – Grantha is originated from Tamilu cave Brahmi. A.H. Dani says that this script is result of development of square headedletters found in Gunture region in Andhrapradesh. ग्रन्थलिपेः विकासस्य चत्वारः स्तराः भवन्तिl[2] - **प्राचीनग्रन्थलिपिः** (५ -६ ख्रैस्ताब्धः – बदामी-पलक्कड-दशनापुर-

---

[1] माहातो सायन्त, सम्भाषणसन्देशः ,संस्कृतभारती, वैशाखमासः मे 2023, प.स. 22,23

[2] S.J.Jagannatha , Manuscriptology : An Entrance , Parimal Publication, Edition – 2007, page 19

महालिंगम्-महाबलिपुरम्-कांचीपुरम्-शिलालेखेषु), मध्यग्रन्थलिपिः(७०० – ९५० ख्रैस्ताब्धे पल्लवानां हस्तलेखाः), संक्रमणकालीना ग्रन्थलिपिः (१०-१३ ख्रैस्ताब्धः शासनराजा-उत्तमचोल-राजेन्द्रचोलनां कालः), आधुनिककालीनग्रन्थलिपिः – उदा. कुम्भकोणम् – शैवागममातृका – आधुनिकी ग्रन्थलिपिः या सुन्दराक्षरैः संगणके टङ्क्यते। ग्रन्थलिप्याः अध्ययनाय एकः हस्तलेखः प्राप्तः। सः प्राप्य तस्य पुष्पिकायाः अध्ययनेन ग्रन्थकारस्य विषये मम संशोधनम् अस्मिन् लेखे प्रस्तौमि।

प. युधिष्ठिरमीमांसकमहोदयेन स्वीये 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास (भागः १)' इति ग्रन्थे अष्टाध्याय्याः महाभाष्यात् प्राचीनास्वर्वाचीनासु विविधैः वृत्तिकारैः प्रणीतवृत्तीनामुल्लेखो विहितः। काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकरवर्यस्य ओरिएंटल इन्स्टिट्यूट, वडोदरातः 1961 प्रकाशिते A Dictionary of Sanskrit Grammar पुस्तके[1] तथा प.युधिष्ठिरमीमांसकस्य 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास (भागः १)' इति ग्रन्थे अप्पयदीक्षितकृतस्य सूत्रप्रकाशस्य[2] उल्लेखो वर्तते। तथा च एतस्याः वृत्तेः एका प्रतिलिपिः अडियारग्रन्थालये हस्तलिखितरूपेण उपलब्धा इत्यपि लिखितम्। तदाधारेण अडियारग्रन्थालयस्य आन्तर्जाले अन्वेषणं कृत्वा उपलब्धस्य ग्रन्थविश्लेषणसूच्याः[3] (भागः – ६) अवलोकनेन विज्ञातं यद् सूत्रप्रकाशग्रन्थस्य मातृका उपलब्धा। तस्याः मातृकायाः वृत्तिकारस्य नाम **अप्पादीक्षितः**। अप्पयदीक्षित इति उल्लेखः वस्तुतः दोषपूर्णः इति ग्रन्थविश्लेषणसूच्याः अवलोकनेन वाचनेन मया ज्ञातम्। सः अप्पादीक्षितः

---

1 Abhyankar , K.V.A Dictionary of Sanskrit Grammar, Oriental Institute , Baroda, First Edition,1961,page no 31

2 मीमांसक,युधिष्ठिर, संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, प्रथमसंस्करण, वि.स.2020, प.स. 450

3 Krushnamacharya V.Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscript in the Adyar library, Vol.VI , The Adyar Library , 1947 , page 40, 141

यः अप्पयदीक्षितस्य एव अष्टमवंशजो अस्ति। अडियारग्रन्थालये प्रत्यक्षः संपर्कं कृत्वा अस्मिन् विषये पृष्टे सति अस्य हस्तलेखस्य उपलब्धेः सूचना प्राप्ता। तदाधारेण मया अस्य हस्तलेखस्य समग्रा एका मूलप्रतिः प्राप्ता। अस्य ग्रन्थस्य स्वरूपान्तरमातृका अपि उपलब्धा अस्ति। कर्गजे कृष्णरक्तवर्णमसीप्रयुक्ता देवनागरीलिप्यां विद्यमानया स्वरूपान्तरमातृकया प्रमुखरूपेण 'सूत्रप्रकाश' इति पाणिनिसूत्रक्रमानुसारिवृत्तेः संरक्षणं कृतम्। इतः आरभ्य मूलमातृका (अ), स्वरूपान्तरमातृका (आ) इति संकेतेन निर्दिश्यते।

अ–मातृकायाः विवरणम् इत्थम्-

	अ मातृका	विवरणम्
क्र.	ग्रन्थस्य नाम	पाणिनीय सूत्रप्रकाशः
1	ग्रन्थसूचीविश्लेषण क्रमांक	141. 19.H.5 - पर्णसंख्या 40
2	प्राप्तस्थानम्	अडियार राजकीय पुस्तकालयः, Adyar-TR-1147.1, .2-0001-0018
3	रचयिता	अप्पादीक्षितः
4	ग्रन्थकारस्य कालः	प्रायः ईसवीय 1700 – मध्यकालः
5	रचयितुः स्थानम्	-
6	रचनातिथिः	-
7	लेखकः	-
8	लेखकस्य कालः स्थानञ्च	-

9	समग्रपत्रसंख्या	155
10	वाच्यपत्रसंख्या	155
11	अवाच्यपत्रसंख्या	-
12	लिपिः	ग्रन्थः
13	लिप्यासनम्	ताडपत्रम्
14	लेखनसामग्री	ताडपत्रम्, टङ्कणसूची,कृष्णामसी
15	लेखनशैली	सुवाच्या
16	मातृकायाः आकारः	16*1.8 inches
17	पङ्क्तिसंख्या	11 to 14
18	विषयः	अष्टाध्याय्याः वृत्तिः
19	प्रतिलिपेः उद्देश्यम्	प्रतिलिपिः - स्वरूपान्तरमातृका अस्ति। हेतुः -मूलहस्तलेखस्य रक्षणम्।
20	लिप्यन्तरणम्	देवनागरीलिपिः

हस्तलेखे पुष्पिकाणां समावेशः अस्ति। तेषां सूक्ष्मतया परिशीलनेन हस्तलेखस्य इतिवृत्तं ज्ञातुं शक्यते। ग्रन्थस्य नाम, ग्रन्थकारस्य नाम, लेखकः, लेखकस्य नाम, कालः, ग्रन्थस्य विषयः, रचनाहेतुः, ऐतिहासिकाः उल्लेखाः – राजा-तस्य विजयादि कारणानि–राजस्तुतिः, आराध्यदेवता, लेखकस्य ग्रन्थकारस्य वा वंशवृक्षः इत्यादि महत्वपूर्णाः विषयाः केवलं पुष्पिकाध्ययनेन ज्ञातुं शक्नुमः।

अ -पुष्पिकायां केवलं ग्रन्थकारस्य वंशवृक्षस्य विषये एव संसूचनाः

प्राप्यन्ते। लेखकः, तस्य कालः, लेखकस्य वंशः इत्यादिविषयेषु न किमपि ज्ञायते। अ – पुष्पिकायाः विवरणेन ग्रन्थकारस्य नाम, तस्य वंशवृक्षः कीदृशः एतावत् विवरणम् अधोलिखितम्।

पुष्पिकायाः विवरणम्

अध्यायः	पादः	(अ)	(आ)	पुष्पिकाः
प्रथमाध्यायः	प्रथमपादः - आरम्भः	1A	01	श्री गुरूभ्यो नमः।। नत्वा साम्बसदाशिवमुत्त्वा बा.....खट...। आरच्यते पत..... सितसूत्रप्रका.....।।
	प्रथमपादः - अन्तः	3B	13	इति सूत्रप्रकाशेप्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः।। श्रीशिवार्पितमस्तु।।
द्वितीय अध्यायः- प्रथमपरिच्छेदः	चतुर्थपादः अन्तः	26B	117	इति सूत्रप्रकाशे द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः।। अध्यायश्च समाप्तः।
			118	श्रीमदभयाम्बिकागौरीमायूरनाथा भ्यां नमः। श्रीगुरूभ्यो नमः इति श्रीमद्भारद्वाजकुलजलधिश्रीकण्ठ

				मतप्रतिष्ठापनाचार्य श्रीकण्ठावतार श्रीमदप्पयदीक्षितवंश्यस्य तत्पौत्रश्रीमत्सिंहमप्पयदीक्षितनप्तृ भूतश्रीवेंकटसुब्रह्मण्यदीक्षितपौत्र स्य श्रीमद्धर्मराजवेंकटेश्वरदीक्षितपुत्र स्य विशालाक्षीगर्भसम्भवस्य श्रीमदप्पादीक्षितस्य श्रीमन्महादेवानुग्रहपात्रस्य श्रीगोपालकृष्णाभिधविद्वन्मकुटा धीतपातञ्जलमहातन्त्रस्य श्रीविश्वेश्वरसाग्निचित्यातिरात्रयोजि तो लब्धवाक्यप्रमाणतात्पर्यस्य कृतौ पाणिनीसूत्रप्रकाशे संज्ञासमासकारक-विभक्त्यादिविधानं नाम प्रथमः परिच्छेदः। शुभमस्तु।
चतुर्थाध्यायः	प्रथमपादः – अन्तः	50B	257	इति पातञ्जलसूत्रप्रकाशे चतुर्थस्य प्रथमपादः।
पञ्चमाध्यायः	तृतीयपादः – अन्तः	71A	382	इति पाणिनीयपातञ्जलसूत्रप्रकाशे पञ्चमस्याध्यायस्य तृतीयपादः।

अष्टमाध्यायः	चतुर्थपादः – अन्तः	25/119A	658	इति सूत्रप्रकाशे अष्टमस्य चतुर्थपादः।। प्रकाशश्च संपूर्णः।।
			659	संपूर्णस्य प्रकाशस्य स्फुरता हि स्वभावतः। विद्याविनयसम्पन्ने सा विशेषात् प्रसीदति। अप्पादीक्षितरचिता वृत्तिः सूत्रस्य पाणिनीयस्य। बालानां सुखदा हेतुः भूयादेषा बुधेषु कृततोषा।।
			660	इति श्रीमद्भारद्वाजकुलजलधि श्रीमदप्पयदीक्षितानां साक्षादष्टमेन अप्पादीक्षितेन दीक्षितानां कृपावीक्षितेन निर्मिते पाणिनीयसूत्रप्रकाशे अष्टमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः सम्पूर्णः।।

1947-तमे वर्षे प्रकाशितः प. व्ही. कृष्णमाचार्यकृत अडियारग्रन्थालयस्य हस्तलिखितस्य ग्रन्थविश्लेषणसूच्याः षष्ठ्याः मालिकायाः व्याकरणविषयकग्रन्थविश्लेषणसूच्याः षष्ठखण्डस्य चत्वारिंशत्तमे पृष्ठे 141 अनुक्रमाङ्के सूत्रप्रकाश इत्याख्यग्रन्थस्य सम्यक् विश्लेषणं प्रदीयते।

तदधिगतसूचनानुसारेण सूत्रप्रकाश इति ग्रन्थलिप्यां ताडपत्रे हस्तलिखितग्रन्थस्य प्रथमपरिच्छेदस्य द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादस्य समाप्त्यनन्तरं तथा अष्टमस्य अध्यायस्य चतुर्थपादस्य समाप्त्यनन्तरं विलिखितयोः पुष्पिकयोः विवरणेन ज्ञायते यत् ग्रन्थकर्ता भारद्वाजकुलोत्पन्नः शिवभक्तः शैवानुयायी वा आसीत्। सः व्याकरणाचार्यगोपाळकृष्णस्य शिष्यः आसीत्। श्रीमदप्पादीक्षितः यः श्रीमदप्पयदीक्षितपौत्रस्य श्रीमत्सिंहाप्पयदीक्षितनप्तृभूतस्य श्रीवेङ्कटसुब्रह्मण्यदीक्षितपौत्रस्य श्रीधर्मराजवेङ्कटेश्वरदीक्षितस्य तथा मातुः विशालाक्ष्याः पुत्र आसीत्।[1] ग्रन्थकारस्य वृद्धप्रपितामहस्य, वृद्धपितामहस्य, जनन्याः, जनकस्य, गुरोः च नामानि, गोत्रम्, आराध्यदेवता, पन्थः, गुरोः विशेषणानि च अनया पुष्पिकया विशेषतया ज्ञायते।

उपर्युक्तपुष्पिकासु ज्ञायते यत्, सूत्रप्रकाशग्रन्थस्य ग्रन्थकारः भारद्वाजकुलोत्पन्नः शिवभक्तः शैवानुयायी वा व्याकरणाचार्यगोपाळकृष्णस्य शिष्यः तथा श्रीमदप्पयदीक्षितस्य साक्षादष्टमवंशजः श्रीमद् अप्पादीक्षितः विद्यते। द्वितीये अध्याये चतुर्थपादस्य अन्ते, अष्टमे अध्याये चतुर्थपादस्य अन्ते च अयं महत्वपूर्णः उल्लेखः अस्ति। अतः अप्पयदीक्षितस्य वंशवृक्षः तथा गोपालकृष्णस्य कालः, तस्य कृतयः अथवा एतयोः ऐतिहासिक्यः संसूचनाः आदीनां अभ्यासेन ग्रन्थविश्लेषणसूचीकोशादिपुस्तकेषु तेषां विषये संसूचनाम् अन्विष्य च कः एषः अप्पादीक्षितः ? इति ज्ञातुं शक्यते। नामनिर्धारणं किमर्थम् आवश्यकम् ? पट्टमडई के.शिवस्वामी अय्यरमहाभागेन ख्रै.2011 तमे वर्षे प्रकाशिते पुस्तके Family tree of Appaya Nilkantha's तथा आन्तर्जाले विद्यमानस्य पट्टमडई के.शिवस्वामी अय्यरमहाभागेन कृतस्य familytreemaker.genealogy.com/users/s/i/v/Pattama

[1] Krushnamacharya V.Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscript in the Adyar library, Vol.VI , The Adyar Library , 1947 , page 40, 141

dai-K-Sivaswami इति सङ्केतस्थले अप्पयदीक्षितस्य वंशवृक्षस्य अनुसारेण अप्पा इति नाम्ना अनेकाः जनाः सन्ति।

अधुना अप्पय, अपय्य, अप्प दीक्षित वा इति विषये संशोधः भवेत्। भाण्डारकरग्रन्थालये उपलभ्यमाने डा.नरेन्द्रनाथशर्मणालिखिते अप्पय दीक्षित–इति पुस्तके वेदान्तव्याकरण-मीमांसाभ्यासकस्य अप्पयदीक्षितस्य कालविषये[1] तथा नामभिन्नतायाः विषये च विवरणं कृतमस्ति[1] तादृशमेव विवरणं पं.युधिष्ठिरमीमांसकस्य संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास इति पुस्तकेऽपि उपलभ्यते। मूलतः तस्य नाम्नी एव मतभेदाः सन्ति – अप्पयदीक्षितः, अप्पय्यदीक्षितः अप्पदीक्षितः[2] वा। किन्तु द्वयोः मतानुसारेण अप्पयदीक्षित इति नाम स्वीकृत्य तस्य अच्चनदीक्षित-इति भ्रातृपौत्रस्य शिवलीलार्णवकाव्यात् ज्ञायते यत् अप्पयदीक्षितः द्विसप्ततिः वर्षपर्यन्तं अजीवत्। तावति काले अप्पयदीक्षितेन शतग्रन्थानां रचना कृता।[3] काव्यशास्त्रे अप्पयदीक्षितेन कुवलयानन्दनाम्नी कृतिः रचिता। तत्र साहित्यशास्त्रविषये चर्चा अस्ति यस्य सन्दर्भाः जयदेवस्य चन्द्रालोकेऽपि उपलभ्यन्ते। अपि च अप्पयदीक्षितस्य कतिचन मतानां खण्डनं प्रसिध्दः आलङ्कारिकः पण्डितराजजगन्नाथः स्वग्रन्थे[4] कृतवान्न। विद्वांसैः मन्यते यत् अप्पयदीक्षितस्य नामकरणसंस्कारानुसारेण अस्य मूलनाम–(शर्मन् नाम) नाम विनायकसुब्रह्मण्यः आसीत्। अप्पय दीक्षित इति नाम तस्य पितामहस्य

---

1 डॉ. शर्मा नरेन्द्रनाथ, Re.No. 34540 , अप्पय दीक्षित, 1st Edition भाण्डारकरग्रन्थालयः, पुणे.प.स. – 8-11.

2 मीमांसक, युधिष्ठिर, संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, प्रथमसंस्करण, वि.स.2020, पृ.स. 450

3 मीमांसक, युधिष्ठिर, संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, प्रथमसंस्करण, वि.स.2020, पृ.स. 450-455, https://vishwakosh.marathi.gov.in/26906

4 डॉ. शर्मा नरेन्द्रनाथ, Re.No. 34540 , अप्पय दीक्षित, 1st Edition भाण्डारकरग्रन्थालयः, पुणे. पृ.स. – 8-11.

नाम अनुसृत्य कृतः आसीत्। एते सर्वे तमिल् जनाः। एषा प्रथा अद्यावधिः तमिल् जनेषु विद्यते। अप्पय दीक्षित इति शब्दस्य विवरणे वास्तविकप्रथया सह सम्बन्धः अस्ति। familytreemaker.genealogy.com/users/s/i/v/Pattamadai-K-Sivaswami इति सङ्केतस्थलात् अप्पयदीक्षितस्य विषये वंशवृक्षस्य संसूचनाः प्राप्ताः। तेन मया अप्पा दीक्षितः कः स्यात् इति विषये अन्वेषणं कृतम्। अप्पयदीक्षितस्य अष्टमः वंशवृक्षः अयम्-

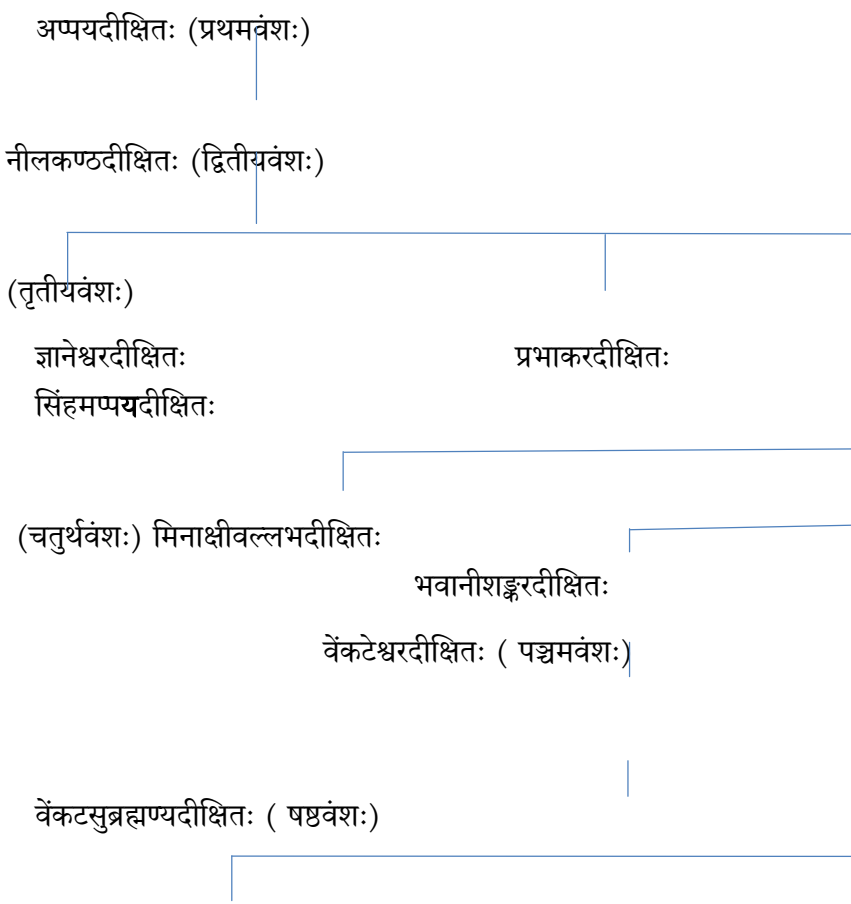

(सप्तमवंशः) कुप्पदीक्षितः
विश्वनाथदीक्षितः

(अष्टमवंशः)

सुब्बदीक्षितः भवानीशङ्करदीक्षितः
वेंकटय्यदीक्षितः नीलकण्ठः

प्रथमं तावत् दीक्षितशब्दस्य कः अर्थः इति चेत् कल्पद्रुमानुसारेण दीक्षितः, त्रिषु लिङ्गेषु - दीक्ष + कर्त्तरि क्तः। यद् वा, दीक्षा सञ्जाता अस्येति। तारकादित्वात् इतच्। दीक्षित इति सन्दर्भे तत्रैव लिखितम् - दीक्षितो यज्ञदत्ताख्यो यज्ञविद्याविशारदाः ॥ [1]वेदवेदाङ्गवेदार्थवेदोक्ताचारचञ्चुरः। राजमान्यो बहुधनो वदान्यः कीर्त्तिभाजनः ॥ अग्निशुश्रूषणरतो वेदाध्वयनतत्परः ॥ आपटेवर्यस्य कोशे लिखितम् यत् - A person who or whose ancestors may have performed a grand sacrificial ceremony, such as or Consecrated, initiated (as for a religious ceremony) ज्योतिष्टोमादि।[2]

अस्य वंशवृक्षस्य उपलब्धसूचनाभिः ज्ञायते यत्, अ - पुष्पिकायाम् उल्लेखितानि नामानि सत्यापितानि सन्ति। तत्रोक्तायां नामावल्यां श्रीमदप्पयदीक्षितपौत्रस्य श्रीमत्सिंहाप्पयदीक्षितनप्तृभूतस्य श्रीवेङ्कटसुब्रह्मण्यदीक्षितपौत्रस्य – इति यावत् पर्यन्तं नामानि अनेन वंशवृक्षेण सह संयुक्तानि सन्ति। श्रीमत्सिंहाप्पयदीक्षितनप्तृभूतस्य – अस्य अन्वेषणं कृत्वा ज्ञायते यत् श्रीमत्सिंहाप्पयदीक्षितस्य पुत्रः भवानीशङ्करदीक्षितः। भवानीशङ्करदीक्षितस्य एको एव पुत्रः वेंकटेश्वरदीक्षितः

[1] https://sa.wiktionary.org/wiki/%E0%A4%A6%E0%A5%80%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%B7%E0%A4%BF%E0%A4%A4

[2] https://sa.wiktionary.org/wiki/%E0%A4%A6%E0%A5%80%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%B7%E0%A4%BF%E0%A4%A4

– तस्य पुत्रः वेंकटसुब्रह्मण्यदीक्षितः। वेंकटसुब्रह्मण्यदीक्षितस्य उल्लेखः अ – मातृकायाम् अस्ति। तस्य द्वौ पुत्रौ सप्तमवंशजौ – कुप्पदीक्षितः विश्वनाथः च। कुप्पदीक्षितस्य द्वौ पुत्रौ अष्टमवंशजौ–सुब्बदीक्षितः भवानीशङ्करदीक्षितः च। विश्वनाथस्य तु द्वौ पुत्रौ अष्टमवंशजौ - वेंकटय्यदीक्षितः तथा नीलकण्ठः। अनयोः कः अप्पादीक्षितः इति सम्भ्रमः। शर्मन् नाम – मूलनाम भिन्नं स्यात्। तद् प्रमाणान्तरेण द्रष्टव्यम्।

कल्पद्रुमानुसारेण नप्तृ शब्दस्य अर्थः पुत्रस्य पुत्रः वा पुत्र्याः पुत्रः। किन्तु वेंकटसुब्रह्मण्यदीक्षितः सिंहमप्पयदीक्षितस्य प्रनप्ता अस्ति। किन्तु अ – मातृकायाः नामावली षष्ठवंशपर्यन्तं योग्या इति अनुमन्यते मया। अतः प्रायः ग्रन्थकारः अप्पादीक्षितः इमां पुष्पिकां स्वयं न लिखितवान् स्यात्। प्रायः यः लेखकः सः अयं सम्बन्धः न जानाति अथवा तस्य लेखने वा सूचनायां दोषः अस्ति। किन्तु अ मातृकायाम् उल्लेखानुसारेण वेंकटसुब्रह्मण्यदीक्षितस्य क्रम। अप्पादीक्षितस्य वंशवृक्षे अस्ति। तद् क्रमानुसारेण एव अप्पादीक्षितः अष्टमः वंशजः स्यात्।

अधुना पुष्पिकायाम् इतोऽपि एकः महत्त्वपूर्णः सन्दर्भः-
श्रीमन्महादेवानुग्रहपात्रस्य
श्रीगोपालकृष्णाभिधविद्वन्मकुटाधीतपातञ्जलमहातन्त्रस्य,
श्रीविश्वेश्वरसाग्निचित्यातिरात्रयोजितो लब्धवाक्यप्रमाणतात्पर्यस्य इति द्वौ उल्लेखौ। अनेन ज्ञायते यत् श्रीगोपालकृष्णः, श्रीविश्वेश्वरः अनयोः शिष्यः अप्पादीक्षितः। श्रीगोपालकृष्णेन शाब्दिकचिन्तामणिग्रन्थस्य रचना कृता या महाभाष्यस्य व्याख्या। श्रीविश्वेश्वरेण सिद्धान्तसुधानिधिग्रन्थस्य रचना कृता। उभयोः उल्लेखाः 1947-तमे वर्षे प्रकाशितः प. व्ही. कृष्णमाचार्यकृत अडियारग्रन्थालयस्य हस्तलिखितस्य ग्रन्थविश्लेषणसूच्याः षष्ठ्याः मालिकायाः व्याकरणविषयकस्य ग्रन्थविश्लेषणसूच्याः षष्ठखण्डस्य

38,39,40 तमेषु पृष्ठेषु 138,139,140 क्रमाङ्कानुसारेण वर्तन्ते।[1] गोपालकृष्णशास्त्रीवर्यस्य समानाः सन्दर्भाः NCC ग्रन्थविश्लेषणसूच्याः 33 तमे भागे 257 तमे पृष्ठे शाब्दिकचिन्तामणि[2] इति ग्रन्थकारस्य विवरणं दीयतेl तथा मद्राससंस्कृतमहाविद्यालयस्य एकस्मिन् कोशे 136 तमे पृष्ठे गोपालकृष्णशास्त्री[3] इति नाम्ना विद्यते। तत्रापि अडियारग्रन्थालयस्य हस्तलिखितस्य ग्रन्थविश्लेषणसूच्याः समानाः अनुक्रमाङ्काः सन्ति। तथा महत्वपूर्णः सन्दर्भः अस्ति यत् – गोपालशास्त्रीवर्यस्य शिष्यः अप्पादीक्षितः, कः अप्पादीक्षितः इति पृष्टे सति उत्तरमस्ति - NCC ग्रन्थविश्लेषणसूच्याः 6 तमे भागे 136 तमे पृष्ठे यः समानः अनुक्रमाङ्कः लिखितः सन्दर्भः सः एव अडियारग्रन्थालयस्य हस्तलिखितस्य ग्रन्थविश्लेषणसूच्याः षष्ठखण्डस्य चत्वारिंशत्तमे पृष्ठे 141 - सूत्रप्रकाशस्य ग्रन्थस्य। अतः अनेन गुरुशिष्ययोः सहसंबंधः स्पष्टः। गोपालकृष्णशास्त्रीवर्यः यः महाभाष्यम् इत्यभिधानेन अपि प्रसिद्ध आसीत्। सर्वे ऐतिसाहिकाः सन्दर्भाः परस्परं संमिल्लिताः। अतः केवलं ग्रन्थकारस्य अप्पादीक्षितस्य तथा तस्य पितुः नाम्नः सन्दर्भे एव अन्यविकल्पैः गवेषणीयः।

इत्थं ग्रन्थकारः अप्पादीक्षितः तस्य वंशवृक्षे अप्पयदीक्षितस्य एव अष्टमवंशजः इति प्रमाणितम्। एवं प्रकारेण मातृकायाः सूक्ष्माध्ययनेन ऐतिहासिकसन्दर्भैः च ग्रन्थकारस्य वंशवृक्षविषये प्रामाणिकाः सूचनाः प्राप्तुं शक्यन्ते। अयं विषयः हस्तलिखितशास्त्रस्य दृष्ट्या अभ्यसनीयः महत्तवपूर्णः च वर्तते।

---

[1] Krushnamacharya V.Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscript in the Adyar Library, Vol.VI , The Adyar Library , 1947 , page 38-40, no. – 138 -140

[2] https://vmlt.in/ncc/search?page=1&q=%u0936%u093E%u092C%u094D%u0926%u093F%u0915%u091A%u093F%u0928%u094D%u0924%u093E%u092E%u0923%u093F

[3] https://vmlt.in/ncc/search?page=1&q=%u0917%u094B%u092A%u093E%u0932%u0915%u0943%u0937%u094D%u0923%u0936%u093E%u0938%u094D%u0924%u094D%u0930%u0940

सन्दर्भग्रन्थाः –

1) अष्टाध्यायी, सम्पादकः ,ब्रह्मदत्तजिज्ञासु, रामलालकपूर ट्रस्ट रेवली, 1998 ई., हरियाणा

2) मीमांसक पं.युधिष्ठिर, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, सम्पादकः, भारतीय प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, 2007 अजमेर

3) Pandit V.Krishnamacharya, Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscript in the Adyarlibrary, vol–6 Grammar, Prosody and lexicography, 1947

4) गौरी शङ्कर ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, मुन्शीराम मनोहरलाल, 1971, दिल्ली

5) https://books.google.co.in/books/about/Descriptive_Catalogue_of_Sanskrit_Manusc.html?id=9FDgAAAAMAAJ&redir_esc=y

6) S.J. Jagannatha, Manuscriptology: An Entrance, Parimal Publication, Edition – 2007

7) A Sanskrit to English Dictionary, Williams Monier M. Motilal Banarasi Das, Jan-2011

8) Apate, V.S., Sanskrit-English Dictionary, Gopal Narayen & Co., Bombay, Second edition

9) डॉ राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकाद ,पाण्डुलिपि विज्ञान ,न्द्रसत्ये .. ,जयपूर -प्रथमसंस्करण-1978

10) डाशर्मा नरेन्द्रनाथ .Re.No. 34540, अप्पय दीक्षित, 1st Edition भाण्डारकरग्रन्थालयःपुणे ,

11) दीक्षितपुष्पा, अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, ज्ञानभारतीप्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2009

12) सम्भाषणसन्देशः, संस्कृतभारती, वैशाखमासः मे 2023
13) https://ashtadhyayi.com
14) https://sa.wiktionary.org/wiki
15) https://www.sanskrit-lexicon.uni-koeln.de/scans/MWScan/2020/web/webtc2/index.php
16) familytreemaker.genealogy.com/users/s/i/v/Pattamadai-K-Sivaswami
17) https://archive.org/details/descriptivecatal
18) https://vmlt.in/ncc
19) https://vishwakosh.marathi.gov.in/26906

ब्रह्मसूत्रस्वामिनारायणभाष्यालोकेन भाषासंस्कृतिप्रवर्तनपुष्टिः

मङ्गलवर्धनदासः साधुः
शोधच्छात्रः
डेक्कनकॉलेज पीजीआरआई, पुणे

प्रस्तावना:-

भाष्यते शास्त्रव्यवहारादिना प्रयुज्यते इति भाष्धातोः 'गुरोश्च हलः'[1] इत्यनेन अप्रत्यये विहिते निष्पाद्यते भाषा शब्दः। इत्थं चावापोद्वापादिप्रत्ययकरणं भाषेति वक्तुं शक्यते। पुनश्च समुपसर्गपूर्वकं डुकृञ् करणे इत्यस्य धातोः क्तिन्प्रत्यये विहिते निष्पाद्यते संस्कृतिरिति[2] शब्दः। स च किञ्चिद्वस्तुनः संस्कारपूर्वकं पूर्णतां परिष्कारं मनोविकासं वा व्यनक्तीति वामनादिशब्दपण्डितानां वचनम्। एवं च द्वयोर्निष्पत्तिं संरक्ष्य स्मर्यते यत्, 'संस्कृतिशब्दस्य अभिप्रायेण मनुष्यं मनुष्यस्य आचारं वा व्यवहारसम्बन्धि समाचरणं, तेषां च पारस्परिकम् आहारव्याहाराणाम् आदानप्रदानं विचारविनिमयं चेत्यादिभावानां ग्रहणं भवतीति'।[3] एवं च संस्कृतेः प्रचारप्रसारणार्थं भाषैव प्राथमिकं सोपानमिति निश्चप्रचं यत्र लोकशास्त्रसाहित्यादीनां समावेशः। यथा वेदवेदाङ्गादिशास्त्राणि चतुर्दशविद्यादिग्रन्थाश्च1 यथा च पुराणादिसाहित्येभ्यः पुराणस्य पञ्च वा दश वेति लक्षणानुसारं मन्वतरेशानुकथादीनां प्रतिबोधः।

---

1 संपा.- श्रीगोविन्दाचार्य, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी मूलमात्रम् ३/३/१०३, पृ.४८५, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम्-२०१२

2 वामन शिवराम आप्टे, संपा- उमाप्रसाद पाण्डेय, संस्कृतहिन्दीशब्दकोशः, पृ.१४२७, श्रीप्रकाशनम्, नवीनसंस्करणम्

3 रामकृष्णशुक्लः, आर्यभाषा और संस्कृति, पृ.२१, त्रिसत्य ब्रदर्स पब्लिशर्स, संस्करण- १९४६

रामायणभारतादीतिहासेन तत्कालीनसमाजव्यवस्था धर्मादिपुरुषार्थज्ञानम्। याज्ञवल्क्यादिस्मृतिभ्यो व्रतादिव्यवहारविज्ञानम्। अर्थशास्त्रनीतिशास्त्रादिभ्यो यथापरिस्थिति कार्याऽकार्यविवेकभानम्। कर्णभारादिकं नाटकं संवीक्ष्य कविभासेन कर्णस्य पात्रस्य मनोझञ्झावातं तस्य च सकारात्मकतायाश्च प्रवर्तनं तावत्समाजव्यवस्थायां विहितमिति वक्तुं शक्यते। मेघदूतादि संवीक्ष्य तत्कालीनभारतस्य भूगोलदर्शनमवगम्यते।

इत्थं चतुःषष्टिकलावेदनादारभ्य समाजोन्नतितत्परितवर्तनपरम्पराप्रभृतिज्ञानं भाषया तल्लेखादिभिश्चाऽवगम्यते। भाषापरिवर्तनेन संस्कृतिपरिवर्तनमित्यप्यवलोक्यते। यतो हि भाषासंस्कृत्योः अन्योन्याश्रयमिति नाऽश्चर्यकरम्।

भाषासंस्कृत्योः सुचारुसमन्वयः वेदान्तदर्शनेऽपि द्रष्टुं शक्यते। यत्र जीवमायामुक्तिब्रह्मादिविचाराः परिप्लुताः। प्राचीनपरम्परायामस्यां वेदान्तदर्शने बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्रमधिकृत्य भाष्यप्रणयनेन स्वसम्प्रदायराद्धान्तप्रस्थापनपरम्परा नैवाधुनिकी। शताब्द्यामस्यां परब्रह्मस्वामिनारायणोक्तस्य मौलिकं नूतनं दर्शनमधिकृत्य स्वामिनारायणभाष्यस्य प्रणयनं जातमिति दार्शनिकचिन्तनपरम्परा नैव पर्यवसिता अपितु परिवर्धितेति तत्त्वबुभुक्षूणां कृते महोपकार इति मन्ये। साम्प्रतमस्य ब्रह्मसूत्रस्वामिनारायणभाष्यस्य आलोकेन भाषासंस्कृतिप्रवर्तने पुष्टिर्जातेति विषयमधिकृत्य किञ्चिद्वैशिष्ट्यं प्रस्तोतुमुत्सहे।

विषयविवरणम्:-

व्याकरणनीतिभक्तिदर्शनादिषु सूत्रव्याजेन सम्यग्विचारप्रदर्शनं परम्परागतम्। तत्र विद्वद्भिः भाष्यलक्षणादिकं निरूच्य शास्त्रपरम्परादि संरक्षितम्। तावद्भाषामाध्यमेन सनातनसंस्कृतेः परम्परासंरक्षणं नूतनाऽभिगमेन च तत्त्वविमर्शं श्रुतितात्पर्यग्रहणेन दार्शनिकचिन्तनपरम्परायां च नूतनप्रदानं तेन च समाजे प्रस्थानपद्धतिमनुसृत्य व्यक्तित्वनिर्माणं

कर्मादियोगपरिपालनं परमात्मज्ञानादिकं च नूतनालोकं प्रदर्शयति येन परम्पराप्रवाहप्रवर्तनं प्राग्भूतेभ्यश्च किञ्चिन्नावीन्यं येन च साधनभेदादिकमपीति नैकोपादेयतामावहँस्तिष्ठति विश्वेऽस्मिन्निति। तत्कथमिदमिति प्रस्तूयते।

भाष्यलक्षणम्

शब्दव्युत्पत्तिसम्राङ्भिर्भाष्यलक्षणं न्यायकोशे समभिव्याहृतं यत्, 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो जनाः॥'[1] इति। इत्थमत्र भाष्यव्याख्यानलक्षणे यत्सूत्रग्रन्थस्य भाष्यं भाष्यते तत्सूत्रानुसारमर्थवर्णनं विधाय स्वसम्प्रदायराद्धान्तनिरूपणं नियतमिति निश्चप्रचम्। एवञ्च सूत्रकाराऽभिमतेन सम्प्रदायप्रतिष्ठापनप्रवणतेत्यपि स्फुटमभिव्यज्यते। तथा च स्वामिनारायणभाष्यकारैः महामहोपाध्यायैः साधुभद्रेशदासैः प्रणीते प्रस्थानत्रयीभाष्ये प्रसिद्धमिदं भाष्यलक्षणं साधु समनुस्यूतमितीति भाष्यसमीक्षणेन दरीदृश्यते। तत्सोदाहरणं प्रदर्श्यते यथा-

उदाहरणम्-१

प्रथमेऽध्याये तार्तीये पादे तावत् 'स दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र.सू.१/३/१४) इत्यारभ्य दहराधिकरणं विराजते छान्दोग्यविषयं सङ्गृह्य दशसूत्रपर्यन्तम्। तत्र दहरशब्दस्य अक्षरब्रह्मणि समन्वयः सम्यक्तया साधितो दृश्यते। आद्ये सूत्रे च 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति' (छा.८/१/१) इति श्रुतिः विषयीभूता। तत्र सूत्रगतपदानां सुष्ठुसमन्वयेनाऽर्थं विधाय दहरशब्दस्य भूतपञ्चमपरकत्वं परब्रह्मपरकत्वं चार्थं प्रतिषिध्य अक्षरब्रह्मणि समन्वयः साधितः। तद्भाष्यांशो यथा-

---

[1] भीमाचार्यः, संपा-वासुदेवशास्त्री, न्यायकोशः, पृ.६२७, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करण, जुलै-२०११

'...एवं प्राप्ते उच्यते **स दहर उत्तरेभ्य** इति। स इति तच्छब्दोपादानं प्रथमं परित्यज्य द्वितीयदहरशब्दसङ्ग्रहाय, तस्य तत्र तस्मिन्निति तच्छब्देन परामर्शात्। तथा च **स** तस्मिन्निति तच्छब्दवाच्यो **दहरः** दहराकाशो ब्रह्माऽक्षरमेव। अथवा सइतिशब्दः 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' (ब्र.सू.१/३/१०) इति प्रागुक्तस्याऽक्षरशब्दवाच्यस्य ब्रह्मण इह परामर्शार्थः। विषयश्रुत्युपात्तदहराकाशानुरोधाच्च पुंस्त्वम्। तथा च **सः** प्रागुक्तमक्षरं ब्रह्मैव **दहरः** दहराकाश इत्यर्थः। कस्माद् **उत्तरेभ्यः** समानप्रकरणोपात्ताऽग्रिमश्रुतिशब्देभ्य इत्यर्थः।' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/३/१४, पृ.१०१)

भाष्यस्यास्य सूत्रस्य समालोचनेन ज्ञायते यत्,

- आदौ विषयवाक्यं विशयवाक्यं पूर्वपक्षं च सम्यक् समुपस्थाप्य सिद्धान्तप्रस्थापने सूत्रमिदं प्रवृत्तमिति स्पष्टीकृतम्।
- सूत्रानुसारिभिः पदैः सूत्रार्थोऽत्र समुपवर्णितः। यत्र 'सः' इति दहरपदसङ्ग्राहकस्य पदस्य सप्तम्यर्थपरकत्वं प्रतिपाद्य द्विधा दहरशब्दस्य अक्षरब्रह्मेत्यर्थत्वं भाषितम्। तत्राद्येऽर्थे विषयगतश्रुतिरहस्यानुकूलत्वं द्वितीये च प्रागवसिताऽक्षराऽधिकरणस्याऽनुवर्तनमिति 'स्वपदानि च वर्ण्यन्ते' इति नावीन्यम्।
- तत्र अक्षरब्रह्मैव दहराकाशः कुत इति जिज्ञासोपशमनं सूत्रेऽस्मिन् तदव्यवहितोत्तरपदेन 'उत्तरेभ्यः' इत्यनेन साधितं तदर्थं विमृश्येति।
- सूत्रभाष्येऽस्मिन् भूतपञ्चमस्य आकाशस्य वारणं कथमिति श्रुतिलिङ्गेन प्रसाध्य भूताकाशदहराकाशयोर्भेदः प्रमाणितः 'यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छा.८/१/३) इत्यनेन भौतिकाकाशचिदाकाशौ इति आकाशस्य द्वैविध्यं सलक्षणं पुरस्कृत्य तत्र चिदाकाश एव दहराकाश इति।

- परब्रह्मपरकत्वमस्य निवारणाय विषयवाक्यस्यैव लिङ्गमिङ्गितम्। यतो हि श्रुतावेव तावद् हृदयाकाशे दहराकाशः, तस्मिँश्च यदन्तः परब्रह्म तदन्वेष्टव्यमित्युक्तेः। एवञ्च हृदयाकाशे अक्षरब्रह्मणः परब्रह्मणश्चाऽवस्थितिं समाधाय अक्षरपुरुषोत्तमदर्शनसिद्धान्तप्रस्थापनं विहितम्।
- अन्ते च परब्रह्मस्वामिनारायणवचनं पुरस्कृत्य व्याख्यानस्यास्योपसंहारो समभिव्याहृतो येन सम्प्रदायप्रमाणेनेदं प्रमाणितं भवतीति।

उदाहरणम्-२

तार्तीये साधनाऽध्याये परमनिःश्रेयसाय स्वात्मब्रह्मैक्यसम्पादनरूपा प्रस्थानप्रसिद्धब्राह्मस्थितिः तदानुषङ्गिकविषयाश्च परामृष्टा। तत्राऽऽत्मगृहीत्यधिकरणं पञ्चसूत्रगर्भितं बिभर्त्यास्पदम् 'आत्मगृहीतिरितरवद् उत्तरात्' (ब्र.सू.३/३/१५) इति सूत्रप्रभृति। तत्राऽधिकरणमिदं परब्रह्मोपासनासिद्ध्यर्थं स्वात्मनश्च ब्रह्मैक्यसम्पत्तावौपयिकतया अक्षरब्रह्ममननप्रकारमुपदेष्टुं प्रवृत्तमिति सङ्गतौ समीरितम्। तत्रापि प्रधानतयाऽनुष्ठेयत्वेन किमिति जिज्ञासोपशमनार्थं सूत्रितं प्रथमं सूत्रम्। सूत्रस्यास्य भाष्यं समालोड्य ज्ञायते यत्,

- सूत्रकारबादरायणाशयं श्रुतिसङ्घाशयं परब्रह्मस्वामिनारायणाशयं च समीक्ष्यऽऽत्मगृहीत्यधिकरणे निजात्मनो ब्रह्मैक्याऽऽपादनरूपो श्रुतिमूलको नूतनो विचारो समुपस्थापित इति।
- सूत्रगतपदानां स्पष्टं विवरणं यथाक्रमं विद्यते यथा, '**आत्मगृहीतिः** गृहीतिर्बुद्धिरनुसन्धानम्। आत्मगृहीतिरात्मबुद्धिः' (ब्र.सू.स्वा.भा.३/३/१५, पृ.३२४) इति। अत्राऽऽत्मबुद्धिः कस्मिन्निति प्रश्नस्योत्तरे पुनः सूत्रस्थो द्वितीयो शब्दः संयोजितः 'इतरवत्' इति।

- 'इतरवद्' इत्यत्र इतरशब्देन विगतसूत्रस्थाऽऽत्मप्रधानाऽन्यतरशब्दं सङ्गृह्य ताभ्यामितरद् अक्षरं ब्रह्मेत्येकोऽर्थो भाषितोऽनुवृत्तिं पुरस्कृत्येति यथा, **'इतरवत्** पूर्वसूत्रोक्ताऽऽत्मशब्दवाच्यात् प्रागुक्तप्रधानशब्दवाच्याद्वा परमात्मन इतरद् यदक्षरं ब्रह्म तद्वत् तत्साम्येनाऽऽत्मनोऽनुसन्धानमित्यर्थः' (ब्र.सू.स्वा.भा., पृ.३२४) इति।

- अस्यैव शब्दस्य द्वितीयोऽर्थ आत्मेतरपदार्थवदिति भाषितो यथा, 'आत्मेतरेषु देहधनदारापुत्रबान्धवद्रविणादिषु स्वाभीष्टेषु यादृशी स्यादात्मबुद्धिर्यथा कश्चिद् देहासक्तो वदेच्छरीरमेव ममात्मेति। लुब्धश्च धनमेव ममात्मेति...' (ब्र.सू.स्वा.भा., पृ.३२४) इति। एवमत्र लौकिकबन्धनवत् पारलौकिकमपि विधेयमिति विचिन्त्याऽक्षरब्रह्ममननानुकूलसामग्रीः प्रदर्शिता।

- कथं ब्रह्मस्वरूपगुरोरेव निजाऽऽत्मतयाऽनुसन्धानं ब्रह्ममननमिति प्रश्नमुदरीकृत्य तार्तीयं सूत्रस्थं पदं प्रयुञ्जीतम् उत्तराद् इति। तद्भाष्यं यथा, **'उत्तराद्** उत्तरशब्दोऽयं श्रेष्ठत्वाभिधायी1 उत्तर उत्तमः प्रधानं श्रेष्ठ इति मेदिन्यमरहलायुधाः। ब्रह्मात्मैक्यलक्षणाया अस्या आत्मगृहीतेरेव परमात्मोपासनसाधनेषु श्रेष्ठत्वादिति' (ब्र.सू.स्वा.भा., पृ.३२४) इति। एवमत्र उत्तरशब्दस्य श्रेष्ठत्वं प्रमाणीकृत्य तावदक्षरब्रह्मगुरावात्मबुद्धिरेव ब्राह्मस्थितिसमवाप्तये ब्रह्मैक्यसाधने वा श्रेष्ठसाधनमिति सुष्ठूपपादितं तदव्यवहितोत्तरसूत्र आक्षेपं दूरीकृत्य श्रुतिप्रमाणैरिति।

- एवञ्च, मुण्डकोक्तब्रह्मविद्याव्याख्यानं सूत्रग्रन्थस्याऽस्य च ब्रह्मविद्याविचारविषयकं तत्फलादिकं च श्रुतौ साक्षाच्छ्रुत्वा ब्रह्मैक्यसम्पादनं ब्राह्मस्थितेरापादनं वावश्यकमिति परामृश्यते। अतोऽधिकरणस्याऽस्य विशेषास्पदत्वमपि कल्प्यते।

- अन्ते च, न पुनरन्तरा ब्रह्मैक्यसम्पादनं परब्रह्मोपासनाधिकार इति परब्रह्मस्वामिनारायणोक्तसिद्धान्तमेवात्र सूत्रे प्रस्थाप्याऽन्ते तत्स्मरणं विहितमिति।

इत्थं सूत्राऽक्षराण्यनुसृत्य तन्नूतनशब्दार्थसन्दोहनेन भाष्यमिदमपूर्वाऽऽस्पदं बिभर्तीति मन्ये।

अधिकरणलक्षणसमालोचनम्:-

सूत्राणि चेमानि श्रुतिसमन्वयं समादृत्य संशयपरिहारार्थं ब्रह्मविद्याप्रस्थापनार्थं च प्रवृत्तानीति सर्वेषां सामान्यप्रत्ययः। तानि च पुनरधिकरणेष्वनुस्यूतानि। अतस्तत्तदधिकरणेषु तावच्छङ्काऽपसारणं श्रुतिसमुचिताऽर्थप्रसारणं च गर्भितमिति वक्तुं शक्यते। यतो ह्यधिकरणमधिकृत्य समुल्लिखितं तद्व्याख्यानं सव्युत्पत्ति शब्दकल्पद्रुमाऽऽख्ये कोषे यत्, 'अधिक्रियते अत्र विषयादिपञ्चावयवविवेचनोपेतग्रन्थः। यथा, विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥'[1] इति। अभिनवे स्वामिनारायणभाष्येऽस्मिन्नधिकरणगुम्फनं पञ्चाङ्गपरीक्षणे परमपदवीमर्हतीति नातिशयोक्तिरित्यवलोक्यते। तदत्र विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुदाह्रियते।

तत्रोदाहरणम्:-

प्रथमेऽध्याये द्वितीयः पादः प्रवर्तत आद्यमधिकरणं सङ्गृह्य सर्वत्राऽधिकरणमित्याख्यम् अक्षरपुरुषोत्तमयोः सकलव्यापकत्वादिबोधकवाक्यानां समन्वयार्थमिति। 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' (ब्र.सू.१/२/१) इत्यारभ्य 'सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्याद्' (ब्र.सू.१/२/८)

---

[1] संपा- श्रीवरदाप्रसादवसुः श्रीहरिचरणवसुश्च, शब्दकल्पद्रुमः, पञ्चमो भागः, पृ. २१७, चौखम्बा संस्कृत सिरीज ऑफिस, वाराणसी, १९६१

इति पर्यन्तं सूत्राऽष्टकेऽस्मिन्नधिकरणे तावच्छुक्लयजुःसंहितायाश्चरमाऽध्यायस्यादिमो मन्त्रो विषयवाक्यतया सङ्गृहीतः 'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' (ई.१) इति। एवञ्च 'येनाऽक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मुण्ड.१/२/१३) इति ब्रह्मविद्याव्याख्यानं पुरस्कृत्य तथा च 'एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं ब्रह्म यद् ॐकारः' (प्र.५/२) इति षड्रश्म्या चोक्तयोः अक्षरपुरुषोत्तमयोः प्रतिज्ञासूत्रे ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र जिज्ञासितयोः सर्वत्रव्यापकत्वे समन्वयार्थं दृश्यतेऽत्र अभिनवोऽभिगमो विषयवाक्ये। तत्र च,

- विचारार्हवाक्यं विषयः। प्राङ्निर्दिष्टदिशा चतुःसूत्र्यां जिज्ञास्यतया जगज्जन्मादिकारणतया शास्त्रयोनिप्रमाणतया समन्वयतया च निरूपितयोरक्षरपुरुषोत्तमयोः सर्वव्यापकतया ईशोपनिषदि प्रसाधनमेव अश्रुतपूर्वतया विचाराऽर्हत्वम्। एवं सिद्धान्तपक्षं श्रुतिप्रामाण्येन दृढीकर्तुं तत्र च शङ्कामुच्छेत्तुं विषयीकृतत्वाद् विषयोऽयं सम्यक्तयोपात्त इति वक्तुं शक्यते।

- विशयोऽस्याऽयमर्थो न वेति संशयः। तच्च भाष्येऽस्मिन् 'सर्वनिवासगुणकः किं जीव उतेश्वर आहोस्विद् अक्षरं ब्रह्म किं वा परं ब्रह्मेति' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/२/१, पृ.५८) इति वाक्येन प्रस्तुतम्।

- पूर्वपक्षः प्रकृताऽर्थविरोधितर्कोपन्यासः। तत्र 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' (ब्र.सू.१/२/१) इति प्रथमे सूत्रे अक्षरपुरुषोत्तमयोः सर्वव्यापकत्वप्रत्यनीकत्वे जीवेश्वराणामुपपादितम्। तत्र जीवानां कृते 'जीवस्य स्वकर्मबलोपचितपुण्यविशेषप्रभावात्' तथा चेश्वराणां कृते 'ब्रह्माण्डप्रशासनादिसामर्थ्यविशेषप्रभावादीशेति शब्दाऽभिधेयत्वम्' इति तर्कोपन्यासः। एवमत्र पूर्वपक्षप्रस्थापने क्लृप्ततर्कोपन्यासाऽनन्तरं न हि अक्षरपुरुषोत्तमयोस्तत्र समन्वयः,

'तयोः प्रकृतिपारगत्वाद् न हि सरित्पारगेण सा व्यामुं क्षम्या' इति सदृष्टान्तं प्रतिपादितम्।

- उत्तरं सिद्धान्ताऽनुकूलतर्कोपन्यासः। अत्र सिद्धान्तप्रस्थापने तर्कप्रस्थानगतसूत्रमेव प्रस्तुतम्। 'जिज्ञासितेऽक्षरब्रह्मपरब्रह्मण्येव **सर्वत्र** सर्वगते। कुतः। **प्रसिद्धोपदेशात्**। अन्यत्र सिद्धत्वं हि प्रसिद्धत्वम्। अन्यत्र प्रसिद्धस्यैव तयोर्व्यापकत्वस्येहोपदेशादित्यर्थः' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/२/१, पृ.५८) इति भाषितं श्रुतिप्रमाणसङ्गयं पुरस्कृत्येति।

- निर्णयो महावाक्यार्थतात्पर्यनिश्चयः। कथं विषयवाक्ये तयोरेव समन्वय इति निर्णयेऽपि पुनः 'विवक्षितगुणोपपत्तेश्च' (ब्र.सू.१/२/२) इति सूत्रमाधारीकृतम्। यत्र च तयोः प्रशास्तृत्वं, दूरत्वे सत्यन्तिकत्वं, अन्तर्बाह्यगतत्वमित्यादयः सर्वनिवासत्वेन विवक्षिता गुणाः श्रुत्यादिप्रमाणेन समुपपादिताः।

- पुनश्च जीवेश्वरोपपत्तिपूर्वकं पूर्वपक्षोपात्तौ तर्कौ दूषयन् 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' (ब्र.सू.१/२/३) इति सूत्रं प्रपञ्चितम्। तदेव पुनर्दृढायितम् ईशवाक्यप्रामाण्येन 'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च' (ब्र.सू.१/२/४) इति सूत्रे1 एवं सिद्धान्तपक्षं सदृढीकर्तुं 'शब्दविशेषात्', 'स्मृतेश्च' (ब्र.सू.१/२/५,६) इति सूत्रद्वयं श्रुतिस्मृतिप्रमाणार्थं भाषितम्। एवमत्र सूत्रमुपस्थाप्य सिद्धान्तपक्षप्रस्थापने सूत्रकाराऽभिप्रायद्योतनमिति प्रत्ययो दुर्निवारः।

- अपि च दहरादिविद्यया तयोरक्षरपुरुषोत्तमयोः हृदयनिष्ठितत्वे कथं सर्वव्यापकत्वमिति चिकित्सायां पुनः पाराशर्यव्यासानां सूत्रमुपन्यस्तम् 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' (ब्र.सू.१/२/७) इति। अत्र च तयोः

उपास्यतया अल्पपरिमाणहृत्स्थता व्याहृता तेन सर्वत्र इति न हन्यते इति सुष्ठु साधितं 'व्योमवद्' इति सूत्रकारप्रदत्तोदाहरणेन। 'यथा लोकेऽस्मिन् गगनं तथा एते सर्वत्र' इत्यनेन श्रुतीः पुरस्कृत्येति।

- एवं हृत्स्थत्वेऽपि तयोर्व्योमवत् सर्वव्यापकत्वाद्, यदि शरीरगतस्य बद्धस्य अनन्तलौकिकसुखदुःखादिभोगः सर्वसाक्षिकः तर्हि एतयोः सर्वव्यापकत्वाद् सर्वहृदयान्तर्वर्तित्वात् स्यात् ततोऽप्यधिकसंभोगप्राप्तिरिति प्रश्ने पुनः तत्समाधिः सूत्रकारहृदयमवगम्य साधितः 'सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्' (ब्र.सू.१/२/८) इति सूत्रेण। यत्र 'वैशेष्याद्' इति पदस्य भाष्यं यथा, 'वैशेष्यं विशिष्टत्वम्। तच्च पुनः स्वरूपस्वभावादितो विलक्षणतारूपम्। ब्रह्मपरब्रह्मणोर्बद्धजीवेश्वराभ्यां सर्वथा विशिष्टत्वान्न तयोः संभोगदोषभात्त्वम्' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/२/८, पृ.६३) इत्यनेन निर्लेपत्वादिरूपा विलक्षणता निर्दिष्टा सोदाहरणं श्रुतिस्मृतिप्रमाणेन। तच्च यथा भूमिस्थहेम्न इव, भूतान्तरस्थव्योम्न इव तयोर्व्याप्यत्वेऽपि दोषलेपशून्यत्वम्।

इत्थं सूत्रकारहृदयं समवगम्य सूत्राणि च पुरस्कृत्य अधिकरणगतसिद्धान्तः जिज्ञासिततत्त्वद्वये प्रस्थापितः। एवं सर्वत्राधिकरणेऽस्मिन् प्रप्रथमवारमीशोपनिषदमधिकृत्य अक्षरपुरुषोत्तमयोः सूत्रेषु समन्वये साधिते भाष्यकाराणां वाक्ययोजनादिकमाश्चर्यं जनयति नूतनचिन्तनद्वारं च समुद्घाटयतीति वक्तुं शक्यते।

समुचितसङ्गतिवैशिष्ट्यम्:-

पाराशर्यप्रणीते ब्रह्ममीमांसासूत्रग्रन्थेऽस्मिन् जिज्ञास्यमानत्वेन प्रतिज्ञासूत्रे प्रतिज्ञातं तत्त्वद्वयम् अक्षरपुरुषोत्तममिति। तदधिकारिविधया च जीवेश्वरादयः, तत्प्रयोजनविधया च मोक्षादिनिरूपणं, पुनस्तन्मोक्षः कस्मादिति मायारूपणञ्चेत्यौपयिकं मीमांसितुं शास्त्रस्यास्याऽऽरम्भणम्। अतो

तन्निरूपणे एकवाक्यतारूपा सङ्गतिरावश्यकी। सा चैकवाक्यतापन्नत्वे सति जिज्ञास्यौपयिकत्वजिज्ञासाजनकत्वे सति ज्ञानविषयोऽर्थ इति। तत्र मीमांसासङ्गतिः, आक्षेपसङ्गतिः, दृष्टान्तसङ्गतिरित्यादयो नैकविधा प्रसिद्धा शास्त्रेषु। तेषु प्राधान्येन षड्विधत्वमुक्तं न्यायादिशास्त्रेषु, 'सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा। निर्वाहकैक्यकार्यैक्ये षोढा सङ्गतिरिष्यते॥'[1] इति। स्वामिनारायणभाष्येऽस्मिन् अध्यायपादादिक्रमेण सकलग्रन्थं विषयविशयगताऽधिकरणं चाऽधिकृत्य द्विधा समुचितसङ्गतिप्रयोगो समुपात्तविषयार्थनिर्धारणे दरीदृश्यते, येन सूत्रे मणिगणा इव जिज्ञासाविषयीभूततत्त्वविज्ञाने विषयान्तरविक्षेपो न स्यादथ च सूत्ररहस्यविज्ञानसौकर्यं स्यात्।

तत्र सकलग्रन्थमधिकृत्य प्रथमे समन्वयाऽध्याये अक्षरब्रह्मपरब्रह्मविषयिण्या जिज्ञासाया आरम्भे विषयीभूतयोः तयोः निरूपणसमारम्भे उपोद्घातसङ्गतिः प्रयुक्ता। ब्रह्मसूत्रेषु चतुःसूत्रीमाहात्म्यमपि नैवाऽधिगतं ब्रह्ममीमांसापारदृश्वभिरिति नास्ति। किञ्च चतुःसूत्र्येवाऽऽधारीभूता तत्तद्दर्शनराद्धान्तसमाराधनेl स्वामिनारायणभाष्येऽस्मिन् चतुःसूत्र्यां चरमे सूत्रे वेदान्तवाक्यानां जिज्ञासिते अक्षरपुरुषोत्तमेतिदिव्यतत्त्वद्वये समन्वयं प्रतिपाद्य प्रतिज्ञासूत्रमिदमिति समुद्घोषितम्। ततश्चोपोद्घातसङ्गत्या सकलभाष्यस्याऽस्य प्रतिपाद्यविषये समन्वयः साधितो यथा, 'इत्थं वेदान्तवाक्यसमन्वयेन हेतुनाऽक्षरब्रह्मपरब्रह्मणोर्जगतकारणत्वशास्त्रयोनित्वादिकं च सूत्रेऽस्मिन् प्रतिपादितम्। इदं च प्रतिज्ञासूत्रम्। समन्वयो ह्यत्र प्रतिज्ञातः। इतश्च परं कानिचन संशयाऽऽपन्नवेदान्तवाक्यान्यधिकृत्य यथोचितं तेषामक्षरब्रह्मणि परब्रह्मणि च तदुभयस्मिन् वा स यथा सुशक्यस्थापनस्तद्धिन्नेषु

---

[1] भीमाचार्यः, संपा-वासुदेवशास्त्री, न्यायकोशः, पृ.९०७, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करण, जुलै-२०११

जीवेश्वरप्रकृत्यादिषु च यथाऽशक्यसम्भावन इत्यादि सयुक्तिकं प्रतिपादयिष्यन्ते शास्त्रेऽस्मिंस्तत्तदधिकरणेषु सूत्रगणैर्भगवता सूत्रकारेण। तस्मादितोऽनन्तरं शास्त्रेऽस्मिन्निहोपक्रमोपस्थापितमिदं दिव्यतत्त्वद्वयं द्वयोरेकतरं वा विषयौचित्यानुसारं तत्तदधिकरणेष्वश्रूयमाणप्यनुवृत्त्याऽनुसन्धेयम्।' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/१/४, पृ.२८) इति। विरोधप्रतिक्षेपाऽध्याये द्वितीये प्रसङ्गहेतुताऽन्यतरोभयसङ्गतिः, साधनाऽध्याये निर्वाहकसङ्गतिः, तुरीये च फलाऽध्याये कार्यैक्यसङ्गतिः विनियुक्ता। तत्राऽपि प्रतिपादं प्रत्यधिकरणं च प्रागुपात्तविषयादीनामुल्लेखं पुरःसरं यथोचितं प्रकृतोपात्तविषयविधानं विधाय ग्रन्थ एकवाक्यता प्रसाधितेति। यथा, लक्षणसूत्रे प्रसङ्गसङ्गतिः, प्रमाणसूत्रे च हेतुतासङ्गतिरित्यादयः। अधिकरणेषु क्वचिद् द्वयोः सूत्रयोः विशेषप्रतिपत्त्यर्थम् आक्षेपसङ्गतिप्रयोगो यथा, ईक्षत्यधिकरणे प्रधानकारणवादिनां श्रुत्यर्थगौणत्वोपस्थापने। क्वचिद् दृष्टान्तसङ्गतिर्यथा अक्षरब्रह्मैक्यसम्पादने स्वात्माऽक्षररूपतयाऽनुसन्धेयो न वेति विशये तार्तीयेऽध्यायेऽक्षरध्यधिकरणे सूत्रगतकर्ममीमांसादृष्टान्तनिरूपणाऽवसरे।

सूत्राणां परस्परं गुम्फने सूत्रकारहृदयमधिम्य परस्परं सूत्रेषु तद्गताऽधिकरणेष्वपि निर्वाहकादिसङ्गतिं प्रयुज्य सूत्राऽऽशयस्पष्टता विहिताl तद्यथा, समन्वयाध्याये आद्ये ईक्षत्यधिकरण आनुमानिकपक्षमपाकृत्याऽक्षरपुरुषोत्तमे सच्छब्दस्य समन्वयमुपपाद्य तैत्तिरीयशाखिनां समुच्चार्यमाणं परब्रह्मण आनन्दमयत्वं तज्जगत्कारणत्वं च विषयमधिकृत्याऽऽनन्दमयाऽधिकरणे तस्य विकारार्थकमयडं निराकृत्य प्राचुर्यार्थकत्वं च भाषितम्। तदेव परब्रह्म पुनः सर्वान्तर्यामीत्यन्तस्तद्धर्माऽधिकरणे कथितम्। यत्र च 'यश्चाऽयं पुरुषेl यश्चासावादित्ये' (तै.२/८/२), 'हिरण्यश्मश्रुः' (छा.१/६/६) चेत्यादितैत्तिरीयछान्दोग्योभयशाखिवाक्यानां प्रागवसितेक्षत्यधिकरणे परब्रह्मसाकृतिकत्वं च सङ्कलय्य जीवादिप्रतिपादनपरायणाऽऽक्षेपापादनं

तत्समाधिश्च नैकविधप्रस्थानप्रमाणैः समुपपादित इत्यपि तत्तदधिकरणेभ्यो विज्ञायते भाष्यवाक्यबन्धैरिति यथा, 'एवं च सति विषयसाम्यात्स्थानसाम्यश्रुतेश्च "यश्चासावादित्ये" (तै.२/८/२) इत्यादित्याऽन्तर्वर्तिरपि छान्दोग्यसिद्धो जीवादिरेव, न तु परमात्मेत्याक्षेपपरिजिहिर्षया पूर्वस्मादव्यवहितत्वेनाऽस्याऽवतारः। तदाहाऽन्तस्तद्धर्मोपदेशादिति।' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/१/२१, पृ.४४) इति।

'अयं भावः', 'इदमत्राऽवधेयम्', 'अत्र किञ्चिद् वच्मः' चेत्यादिशब्दानाम् आभाष्यं त्रयस्त्रिंशदधिकैः प्रयोगैरवसरसङ्गतिं प्रयुज्य तत्तत्सूत्रगतरहस्यं समुद्घाटितम्। तार्तीयेऽध्याये अन्याऽधिष्ठिताऽधिकरणे अनिष्टादिकारिणामत्मनामवरोहणं ब्रह्मपरब्रह्माऽधिष्ठिततयैवेति प्रसाध्य तत्र तयोः कर्तृत्वं स्मारितमिति अभ्यासलक्षणं पुरस्कृत्य अवसरसङ्गतिः समीरिता। एवं साद्यन्तं ग्रन्थे यथोपयुक्तसङ्गत्या ब्रह्मणोर्विद्येति ब्रह्मविद्या भाषितेति वरीवर्ति।

अपूर्वदार्शनिकचिन्तनम्:-

ग्रन्थकाराणां लेखिन्या प्रस्खलितचिन्तनपरिपाकः समाकर्षन्ति विदुषां चेतांसीति क्लृप्तम्। सर्वैरपि भाष्यकारैः स्वेषां चिन्तनं परिशील्य वेदान्तवृक्षमिदं परिपोषितमेवमत्राऽपि सिद्धान्ते, सङ्गतिषु, सिद्धान्तस्थापनयुक्तौ, अपसिद्धान्तप्रत्यनीकत्वयुक्तौ, कदाचिद् भिन्नविषयवाक्येषु, कदाचित् समानविषयवाक्ये सत्यपि अर्थभेदे, तत्र प्रमाणादिषु च ब्रह्मसूत्रस्वामिनारायणभाष्ये तावदपूर्वता दृश्यते। यथा,

प्रतिज्ञासूत्रे ब्रह्मणोर्जिज्ञासेति एकशेषत्वेन कर्मषष्ठ्या द्विवचनान्तविग्रहेणाऽऽरम्भ एवाऽपूर्वताऽवगम्यतेऽस्य भाष्यस्य। यतो हि प्रतिज्ञातस्यैव विस्तरो ग्रन्थ इत्युच्यते। तत्र कथं ब्रह्मद्वयजिज्ञासेति प्रश्नोपशान्तये मुण्डकोक्तब्रह्मविद्यापुरस्कृता। यत्र 'येनाऽक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मुण्ड.१/२/१३) इत्यनेन। तत्र च

अक्षरमिति न पुरुषविशेषणमिति 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥' (मुण्ड.२/१/२) इति उत्तरग्रन्थाऽनुरोधादिति सोपपत्ति स्पष्टीकृतं भाष्ये। अक्षरपुरुषोत्तमयोः ब्रह्मशब्देनोपादानत्वे षड्रश्नी समुदाहृता 'एतद् वै सत्यकाम! परं चापरं ब्रह्म यद् ॐकारः॥' (प्र.५/२) इत्यनेन। एवं मुण्डकप्रस्तावादिक्रमेण ब्रह्मपरब्रह्मणीति तत्त्वद्वयाग्रहे 'नाऽयमस्माकमाग्रहोऽपि तु भगवत्याः श्रुतेरेव' इति संभाष्य परमात्मैवेक वेदनीयतया जिज्ञास्य इति प्रश्ने समाधिः विहितेति। तयोः अक्षरपुरुषोत्तमयोर्वेदान्तवाक्यबोध्यत्वे पुनः षड्विधतात्पर्यलिङ्गैः मुण्डकाऽऽनन्दवल्ल्यौ उदाहृत्य समन्वयः साधितः। तयोरेव ब्रह्मात्मैक्यपूर्वकपरब्रह्मोपासनाप्रतिपादनप्रवणे तार्तीयाऽध्यायारम्भे 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' (ब्र.सू.३/३/१) इति सूत्रभाष्ये भूरिवेदान्तवाक्यप्रमाणान्युपन्यस्तानीति।

अधिकरणविषयवाक्येषु द्वितीयेऽध्याये उत्पत्त्यसम्भवाऽधिकरणे पञ्चरात्रपुराणादिविषयवाक्यमस्पृष्ट्वा स्वभाववादं लक्ष्यीकृत्य प्रत्यनीकपरिहारोऽनुष्ठितः। प्रसङ्गसङ्गत्या तन्मतमुपस्थाप्य 'उत्पत्त्यसम्भवात्' (ब्र.सू.२/२/४२) इति सूत्रेण स्वभाववादोत्पादनिराकरणं निगदितम्। तत्र पूर्वपक्षिणां कार्यकारणभावप्रतिषेधस्य दूषणं 'न च कर्तुः करणम्', 'विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः' (ब्र.सू.२/२/४३,४४) इत्यनेन तथा च 'विप्रतिषेधाच्च' (ब्र.सू.२/२/४५) इति सूत्रेण स्वभाववादेऽसामञ्जस्यं समेधितम्। एवं भाष्यकाराणां विस्मयजनिकाऽर्थयोजनां दृष्ट्वा वादस्यैतस्य वेदान्तप्रतिज्ञातब्रह्मजिज्ञासाप्रत्यनीकत्वात् सूत्रेषु सूत्रकाराऽभिप्रायाऽनुसरणमेवेति निश्चीयते। अपि च कारणतावादे सकलाऽन्तर्यमनत्वाद् अक्षरपुरुषोत्तमयोः जगत्कारणतयाऽनन्यत्वेऽपि स्वरूपतो जीवेश्वरमायातन्मुक्तेभ्योऽन्यत्वमेवेति भेदनिर्देशाऽधिकरणे उपपादितम्।

साधनाऽध्याये प्रथमे पादे सानुशयस्यात्मन आरोहणाऽवरोहणप्रकार चिकित्सितः। तत्र अन्याऽधिष्ठिताऽधिकरणे अनिष्टादिकारिणामप्यात्मनाम् अक्षरब्रह्मपरब्रह्माऽधिष्ठिततयैव अवरोहणप्रसाधनाऽवसरे 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्र.सू.३/१/२५) इति सूत्रे यागीयहिंसापरकमर्थं विहाय सानुशयानां तेषां प्राक्सूत्राऽवसितसंयमनीपुरावरोहणशीलत्वात् तदधिष्ठात्रोरक्षरपुरुषोत्तमयोरपि तद्दोषभात्तत्वं स्यादिति संशयवारणं श्रुतिप्रमाणैः विहितम्।

प्रागुक्तस्य तत्त्वद्वयस्य वेदान्तवाक्ये समन्वयादेव समन्वयाऽध्यायस्तवरते। तत्र तृतीयः पादः सर्वाधारत्वादिवाक्यानां तावदक्षरपुरुषोत्तमयोः समन्वयं प्रसाधयितुं प्रवर्तते इति भाष्येऽस्मिन् प्रसङ्गसङ्गतौ निवेदितम्। यत्र च अक्षरब्रह्मणि द्युभ्वाद्यायतनत्वं भूमाधिकरणे च पुरुषोत्तमे भूमशब्दस्य समन्वयं प्रतिपाद्य अक्षराधिकरणे पुनः 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति' (बृ.३/८/८) इति बृहत्यां वाजिवाक्यस्य समन्वयमक्षरब्रह्मणि प्रसाधितः। ततश्च सर्वप्रशासकतया द्युभ्वाद्यायतनतया च प्रस्थापितं तदेवाऽक्षरं ब्रह्म पुनः दहरशब्देनोपपादितं दहराधिकरणे। तत्र च सामगैर्गीता श्रुतिः विषयः 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति' (छा.८/१/१) इति। एवमत्र पुण्डरीकारे वेश्मनि हृदये वर्तमानो दहराकाशः चिदाकाशो वा अक्षरं ब्रह्म तस्मिन्नपि यदन्तः परं ब्रह्म इति श्रुत्योपपादितमिति अवगम्यते।

तृतीये तार्तीये पादे शब्दादिभेदाधिकरणं भूमशाण्डिल्यादिविद्यानां ब्रह्मविद्यात्वमस्ति न वेति विषयं सङ्गृह्य प्रवर्तते। अत्र पूर्वतनभाष्येभ्यः समानविषये सत्यपि औपनिषदिकविद्यानामेतेषां ब्रह्मविद्यात्वमेवेति श्रुतिस्मृतिप्रस्थानं पुरस्कृत्य अर्थभेदेनोपपादितं यथा, 'अतो विश्वासप्रीतिज्ञानाऽभिचिन्तनादितत्तद्गुणवैशिष्ट्यादुपासकानां

स्वाभिरुच्याऽनुगुणेन परमात्मोपासनेऽपि न फलभेद इति फलितार्थः' (ब्र.सू.स्वा.भा.३/३/५७, पृ.३५३) इति। एवं सकलानां विद्यानां ब्रह्मविद्यात्वेन भाषिते अक्षरपुरुषोत्तमदर्शनस्यास्यौपनिषदिकश्रुतीनां सामञ्जस्ये पर्यवसानमिति व्यज्यते।

अत्रधिकरणे परमात्मनः सर्वभोक्तृत्वेऽपि वैशिष्ट्यं प्रतिपाद्य गुहाप्रविष्टाधिकरणे अक्षरब्रह्मणः प्रत्यगात्मनश्च तदुपपादितम्। यत्र कठकण्ठकलरवः, 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये...' (कठ.३/१) इति। एवमत्र प्राणप्रत्यगात्मानौ, बुद्धिप्रत्यगात्मानौ, परमात्मप्रत्यगात्मानौ वा सहर्तपानकर्तृत्वमपसार्य अक्षरात्मप्रत्यगात्मानोः तत्प्रसाधितमिति नावीन्यम्। आकाशार्थाऽन्तरत्वाऽधिकरणे 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा.८/१४/१) इति सामगानामुक्तिर्विषयः। तत्र आकाशशब्दस्य भूतपञ्चमप्रत्यगात्माऽक्षरब्रह्मसु अक्षरं ब्रह्मैवाऽर्थ उपपादितः।

आनुमानिकाऽधिकरणेऽपि तावद् कठशाखिनोक्तिः 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥' (कठ.३/१०,११) इति। अत्र च अव्यक्तशब्दस्याऽर्थः परमात्मा अक्षरब्रह्म प्रधानं शरीरं। वेति विशयः। यत्र च अक्षरं ब्रह्मैवाऽर्थस्य श्रुतिस्मृतिसामञ्जस्यं प्रस्थापितम्। एवमुत्तरोत्तरं बलीयस्त्वेन प्रत्यगात्मनः महतो अक्षरब्रह्मपरब्रह्मणोः पारम्यं प्रसाध्य तदुत्तरग्रन्थे 'महतः परं ध्रुवं निचाय्य' (कठ.३/१५) इत्यत्र समन्वय सुपपादितः।

अपि च प्रतिज्ञासूत्रे ब्रह्मशब्देनैव द्वयोरक्षरपुरुषोत्तमयोः जिज्ञास्यमानत्वात्तयोश्च सर्ववेदान्तवाक्यसमन्वयं साधयता द्वयोः सम्बन्धविषयोऽपि भवति ज्ञातव्यः। तच्चोभयव्यपदेशाऽधिकरणे भाषितः उपास्यपरमोपासकभावलक्षणः। तत्र च पुरुषोत्तमस्यैव सर्वपरत्वमिति

तदव्यवहितोत्तराऽधिकरणे पराऽधिकरणे प्रसाधितम्। तत्राऽवसरसङ्गत्या द्वयोः विवेकोऽपि विहितः यथा, 'परमात्मसहजानन्द एक एव सर्वस्वातन्त्र्येण सर्वदा अक्षरादिसर्वपरः1 अक्षरं ब्रह्म हि तमेकमेव विहाय तदेकमात्राऽधीनं च सत् तत्परमात्मनित्येच्छयैव तदितरसकलजीवेश्वरमायातन्मुक्तेभ्यः सर्वदा परभूतमवतिष्ठते1 परत्वञ्चेदं व्यापकत्वान्नियामकत्वात् कारणत्वाच्छरीरत्वाच्च भवति' (ब्र.सू.स्वा.भा.३/२/३५, पृ.३०९) इति।

साधनाध्याये तावद्ब्रह्मविद्यासाक्षात्कारकरणसाधनादिकं वर्णितम्। तत्र च 'अक्षरमहं पुरुषोत्तमदासोऽस्मि' इति सम्प्रदायसिद्धान्तमन्त्राऽनुसारम् अक्षरब्रह्मणा साकं स्वात्मनः ऐक्यसाधनरूपा सम्पत्तिरावश्यकी दासभावेन परब्रह्मोपासनासिद्ध्यर्थमिति वैदिकी ब्राह्मस्थितिः भूयो भूयः शास्त्रेषु प्रदर्शिता। तत्सम्पादनमेव प्रमुखसाधनमिति अक्षरपुरुषोत्तमदर्शने सिद्धान्तितम्। तदनुसारम् 'तदात्मानमेवाऽवेदहं ब्रह्माऽस्मीति' (बृ.१/४/१०), 'अयमात्मा ब्रह्म' (मा.१/२) इत्यादिश्रुत्युक्तदिशा तावदक्षरब्रह्मभावेन स्वात्मानमनुसन्धानादिकमात्मगृहीत्यधिकरणे प्रसाधितम्। तत्र च 'समाने एवं चाऽभेदात्' (ब्र.सू.३/३/१८) इति सूत्रेण 'अनेन ब्रह्मभावाय प्रत्यक्षं ब्रह्म मनुष्यरूपमिहाऽस्मन्नयनगोचरमपेक्ष्यत इति सिद्धान्तितम्' (ब्र.सू.स्वा.भा.३/३/१८, पृ.३२६) इति भाष्येण ब्रह्मस्वरूपगुरुमभिगच्छेदित्याथर्वणिकोपदेशः प्रपञ्चितः। ततश्च यथोक्ताऽऽत्मगृहीतिः अक्षरब्रह्मणि एव विधेया न तदन्येष्विति सम्बन्धाऽधिकरणे समुपपादितम्। स्वात्मब्रह्मैक्याऽन्तरं नैव परमनिःश्रेयससाधनमिति पुरुषविद्याऽधिकरणे व्याहृतम्। पुनरक्षरध्यधिकरणे अक्षरस्य गुणान् स्वात्मन्युपसंहृत्यैव ध्यानाद्यनुष्ठानमित्यादिकं प्रतिपादितम्। व्यतिहाराऽधिकरणे स्वात्मब्रह्मैक्याऽनुपपत्तिवारणं तत्साधने च क्रमनिर्धारणनियमाशङ्कोच्छेदः तन्निर्धारणाऽनियमाऽधिकरणे प्रसाधितम्। तत्साधनसम्पत्तिपूर्वकं ज्ञानयज्ञश्च पूर्वविकल्पाऽधिकरणे प्रतिपादितः। इत्थं ग्रन्थारम्भणोक्तसाधनचतुष्टयैकतमं प्रयोजनं लक्ष्यीकृत्य स्वात्मब्रह्मैक्यरूपं

श्रुतिप्रमाणितप्रमुखसाधनं तदानुषङ्गिकविशयोच्छित्त्या तदनुकूलौपयिकसामग्रीश्चेति सर्वमपि समभिव्याहृतम्।

तुरीये फलाध्याये च मुक्तिमीमांसा गर्भिता। तत्र तदधिगमाधिकरणे मुक्तानां लिङ्गशरीरनाशादिकं परिलक्ष्य प्रत्यगात्मनां मुमुक्षूणां साधनाद्यनुष्ठानवशत्वेन फलोपलम्भनत्वात् परब्रह्मणः सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्यं न परिच्छिद्येत तथा जीवत्काले, तद्देहान्तकाले, तदुत्क्रमणे मार्गे वा यदा कदाऽपि परब्रह्मेच्छानुसारमेव तद्भवतीति समाधिः साधितेति दृश्यते। अविभागाऽधिकरणे मुक्तावपि स्वरूपतः परमात्मभिन्नो मुक्तात्मा तदविभागनेनाऽवतिष्ठत इति सिद्धान्तितम्। सम्पद्याविर्भावाऽधिकरणे च ब्रह्मरूपस्य मुक्तस्य नूतनब्राह्मशरीराविर्भावादिकं शक्यशङ्कोच्छित्त्या समुपपादितम्।

एवं प्रत्यध्यायं नूतनविषयवाक्यं समानविषयवाक्येषु वा नूतनाऽर्थकरणत्वादि नानावैशिष्ट्यगर्भितम् अक्षरपुरुषोत्तमदर्शनप्रतिपादकमिदं शास्त्रं बहुशाखिनो वेदान्तवृक्षस्य प्रच्छन्नां गूढां च तत्त्वशाखां प्रकटीकरोतीति प्रतिभासते।

समाजोपयोगिताः-

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवाऽपरा च' (मुण्ड.१/१/४) इति मनुष्यमात्रोद्दिष्टतया विद्यासम्पादनसरण्या पराया विद्याया अस्याः, 'शास्ति च त्रायते चेति शास्त्रम्'[1] इति प्रसिद्धशास्त्रव्याख्यानात्, तस्य च स्वविषयिक्षेत्रशासनपरिरक्षणलक्षणत्वात् समाजोपादेयताऽपि भवितव्यैव। सा च स्वामिनारायणभाष्येऽस्मिन् वर्तत इति तत्तत्सूत्रभाष्यादवगम्यते। यथा,

---

[1] भीमाचार्यः, संपा-वासुदेवशास्त्री, न्यायकोशः, पृ.८७८, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करण, जुलै-२०११

ब्रह्मपरब्रह्मस्वरूपे कुतर्कं विहाय परमास्तिक्यबुद्धिरूपा श्रद्धाऽभिवर्धेतां तथा प्रतिपादनं हितकरमिति। तत्र द्वितीये विरोधप्रतिक्षेपाध्याये सिद्धान्तपक्षमनुसृत्य अक्षरपुरुषोत्तमयोर्जगत्कारणत्वं तत्प्रयोजनत्वादिकं प्रस्थाप्य वादोऽभिवर्तते तत्कारणस्य वैषम्यादिकं स्यान्न वेति विषयीकृत्य वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणे। तत्र कर्मफलप्रदत्वेन परमात्मनः कर्मपारतन्त्र्यात् तत्स्वातन्त्र्यहानिरिति अघटितघटनापटीयसि परमात्मनि कुतर्के सति तत्समाधौ समवलोक्यते सर्वमिदम्। तद्भाष्यांशो यथा, 'तेनैव सकलजीवेश्वरक्रियासामर्थ्यप्रदातृणा कर्माऽधिपतिना स्वेच्छया जीवेश्वरानुष्ठेयमोक्षानुकूल-यत्किञ्चित्प्रयत्नारम्भाऽनुच्छेदाय तथा व्यवस्थापनात्। अन्यथा मोक्षप्रदपरमात्माऽनुग्रहाऽनुगुण-यत्किञ्चित्प्रयत्नादपि प्रमादमाप्नुयात् सकलो जनः। तस्माद् यथा किञ्चित् सम्राड् यथाकर्म पारितोषिकादिभिर्जनान् अभिनन्दयन्नपि न हि तत्कर्ममात्राधीनः सन्नेव सर्वदाऽभिनन्दयति। स्वतः स्वेच्छयैव च कर्माऽनुगुणपारितोषिकदानस्य नियमविधानात्। अत एव कदाचित् कस्मैचित् तत्कर्माऽनभिलक्ष्यैव पारितोषिकादिभिः परितोषयत्यपि तथैव सकलप्रपञ्चसम्राट् परमात्मेति ज्ञेयम्' (ब्र.सू.स्वा.भा.२/१/३५, पृ.१८५) इति। इत्थं समानविषयवाक्येषु अपि अर्थभेदश्चिन्तनभेदोऽपि व्यज्यते।

सच्छास्त्रोक्तवर्णाश्रमप्रथा संसारपरिरक्षणाय कल्पते। अत एव वृष्णिकुलाऽवतरितस्य स्मृतिप्रस्थाने वचनं यत् 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' (गी.४/१३) इति। अत एव 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥' (गी.९/३२) इत्यादीनि सकलकर्मफलप्रदातुर्वचनान्यपि परमाऽध्वानं प्रति नयन्तीति वक्तुं शक्यते। ब्रह्मसूत्रेषु तद्भावं संरक्ष्य सूत्रिते शुगधिकरणे जानश्रुतिरैक्कोपाख्यानगर्भितां तावच्छन्दोगानां श्रुतिमधिकृत्य शूद्रेति शब्दः शिष्यवर्णवाच्युत नेति विशयाऽपनोदनाय प्रवृत्तिः। भाष्येऽस्मिन्नन्ते वैदिकमार्गमपरित्यज्य सामाजिकप्रश्नानां निराकरणं दृश्यते। तद्यथा, 'यो हि

सकलदुःखात्यन्तनिवृत्तिपूर्वकं परमात्मपरमसुखाभिलाषी स सर्वोऽपि ब्रह्मविद्याधिकारयोग्यः। अध्ययनाऽध्यापनाऽधिकारा अपि वर्णाश्रमधर्मरूपा कस्य कस्य नेति निर्णयः कालाधीनस्तत्कालीनैर्मनुष्यैस्तत्कालीनस्मृत्यादिभिः वेदाऽविरुद्धैः शास्त्रैः सद्गुरुवचनैश्चाऽवश्यमङ्गीकर्तव्यः। वर्णादिव्यवस्था हि संसाररक्षैकप्रयोजना निर्विघ्नपरमपुरुषार्थोपायानुष्ठानसहकारिणी च। अतो न हि श्रेयसः पथि ब्राह्मण एव श्रेष्ठः शूद्रश्च कनिष्ठ इति समयः। कदाचिद् विप्रोऽप्यज्ञोऽसदाचारः शूद्रोऽपि प्राज्ञः प्रकृष्टाचारो वा स्यात्। तस्मात् सर्वे वर्णाः स्वस्वकर्मभिः समानमुपकारं भजन्त इति सर्वादरमात्रसंरक्ष्यः सर्वेषामुत्कर्षः' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/३/३८, पृ.१२१) इति। एवं भाष्यस्याऽस्य श्रुतिस्मृतिसारसन्दोहः सामाजिकोपादेयता च वेदोपदिष्टे सर्वादरसंरक्षणे पर्यवसितम्।

पुनश्च ब्रह्मविद्यासाक्षात्काराऽध्वनि अधिकारिविषये कदाचिदाश्रमधर्मभ्रष्टत्वेऽपि अधिकारित्वे हानोपादेयत्वादिवादेऽपि वैदिकानां स्मार्तानां च सत्पुरुषाणां मतं पुरस्कृत्य प्रायश्चित्तादिभिर्विशुद्ध्य तावद्भ्रष्टानां पुनर्विनियोगः शक्यसम्भव इति प्रतिपादितं 'दृष्टो हि शिष्टानां गुरूणामाचारो यत् प्रच्युतानामपि नैष्ठिकादीन् प्रायश्चित्तैर्विशोध्य ब्रह्मविद्यायां प्रवर्तयन्तीति' (ब्र.सू.स्वा.भा.३/४/४३, पृ.३७८) इत्यादिभिः। इत्थमत्राऽपि प्रायश्चित्तादिभिः पतितपावनानां जीवातूनां 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा.७/२६/२) इति मोक्षाऽध्वनि संततमूर्ध्वं प्रवर्तने, आचारशुद्धिः विचारशुद्धिश्च विधापय्य जीवनशुद्धिः समाजशुद्धिश्च भवेदिति भद्रभावना वरीवर्ति।

भाषाशैली:-

सूत्रप्रतिज्ञातजिज्ञासाप्रतिपादनपरे शास्त्रेऽस्मिन् ग्रन्थारम्भविहितमङ्गलश्लोके, प्रतिज्ञासूत्रगतमङ्गलवादे, प्रतिज्ञातविषयस्य श्रुतिस्मृतिप्रमाणैः समन्वये, अधिकरणगतविषयवाक्ये, तस्य

प्रागुक्ताऽर्थाच्छास्त्रमूलकनूतनाऽर्थकरणे, परपक्षोपस्थापने, विशयप्रस्तुतौ, सिद्धान्तप्रस्थापने, ग्रन्थस्याऽनुबन्धचतुष्टयाऽनुसृत्या ग्रन्थनिर्वाहकसङ्गतिवैविध्ये, भाषावैभवे चेत्यादिभिः साद्यन्तं भाष्यमिदं 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'[1] इति घण्टामाघोक्तिं स्मारयतीत्यत्र नाऽतिशयोक्तिः।

भाषा चाऽस्य भाष्यस्य सर्वथा व्याकरणपरिशुद्धा, श्रुतिस्मृतिप्रमाणप्राचुर्यप्रसादिता, समुचितपारिभाषिकप्रयोगपाटवा, दुःश्रवत्वाऽश्लीलत्वक्लिष्टत्वादिभिः पदवाक्यपदांशादिदोषवर्जिता, मधुरा, स्निग्धा, सरला तथापि गभीरा, यथोचितसमासप्रचुरा, स्पष्टार्थाऽवबोधिका चेति परिलक्ष्यते। शब्दाऽर्थप्रतिपादनत्वे प्रासादगुणो वरीवर्ति भाष्येऽस्मिन् तच्चोक्तं ध्वन्यालोके 'स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः'[2] तत्र चाऽभिनवगुप्तेन लोचने आलोचितं यत् 'प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः'[3] इति। तत्रेदं सर्वं सङ्कलय्य कतिपयोदाहरणानि यथा,

- प्रकृत्यधिकरणे 'साक्षाच्चोभयाम्नानात्' इति सूत्रभाष्ये 'परमप्रमाणपदव्यारूढया भगवत्या श्रुतिमात्रैव **साक्षात्** कण्ठरवेण **उभयाम्नानाच्च** ब्रह्मपरब्रह्मेत्युभयोर्जगत्कारणत्वस्याऽऽम्नानाद् आमननादिति' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/४/२६, पृ.१५३) इत्यादिषु सूत्रशब्दार्थप्रबोधने।

---

1 हिन्दीव्याख्याकारः हरगोविन्दशास्त्री, शिशुपालवधम्, मल्लिनाथकृतसर्वाङ्षाटीकोपेतम्, ४/१७, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण-२०१३

2 संपा. तपस्वी नान्दी, ध्वन्यालोकः, लोचनटीकोपेतः, २/१०, पृ.१२८, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, गुजरात, , प्रथमावृत्तिः

3 संपा. तपस्वी नान्दी, ध्वन्यालोकः, लोचनटीकोपेतः, २/१०, पृ.१२८, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, गुजरात, , प्रथमावृत्तिः

- **विषयवाक्योपन्यासे यथा,**

- 'बृहदारण्यके श्रूयतेऽस्य विषयः' (ब्र.सू.१/४/११)

- 'काठकाः पठन्ति' (ब्र.सू.१/२/११)

- 'इत्थं हि वाजिनामारण्यक आमननम्' (ब्र.सू.१/२/९)

- 'छान्दोग्ये ह्युषस्तिप्रस्तोतृसंवादे श्रूयतेऽस्य विषयः' (ब्र.सू.१/१/२४)

- 'इत्थमुद्गायन्ति छन्दोगा उपकोशलविद्यायाम्' (ब्र.सू.१/२/१३)

- 'एवमत्राऽवतिष्ठेत निर्बीजकापिलः पाराशरप्रतिक्षेपाय' (ब्र.सू.१/४/१५) इत्यादयः।

- **विषयसङ्गतौ यथा,**

- 'सन्ध्यं चिन्तितम्। इदानीं सुषुप्तिश्चिन्त्यतेl सुषुप्तिमधिकृत्य श्रूयते' (ब्र.सू.३/२/७)

- 'अर्चिरादीनामातिवाहिकत्वं प्रतिपादितम्। इदानीं ब्रह्मणः परब्रह्मणश्च तत्प्रतिपादयितुमारभते' (ब्र.सू.४/३/५) इत्यादयः।

- **परमतप्रतिक्षेपाऽवसरे यथा,**

- 'किमधिकं ब्रूमः सप्तभङ्गीनयोऽपि स्यान्न वेति तस्यैव समाननयेनाऽवधारणाऽसम्भवात् स्वकण्ठे कृपाणकृत्यम्' (ब्र.सू.२/२/३३),

- 'अतः क्षीणा क्षणिकता' (ब्र.सू.२/२/२०)

- 'अतः क्षणिकपरमाणुपुञ्जपूजा परिहेया' (ब्र.सू.२/२/१८)

- 'यतो वयं तु श्रुत्येकशरणा न केवलतर्कं बहु मन्यामह इति

ब्रह्मकारणवादे सर्वं समञ्जसम्' (ब्र.सू.२/२/१०)

- 'इत्थं शास्त्रप्रमाणाऽनुग्रहरहितस्य चार्वाकस्य सर्वाऽपि वागचारुरेवेति सर्वथा परिहेया' (ब्र.सू.२/२/४५) इत्यादयः।

- **सूत्रसङ्गतौ विप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रप्रकारोऽनुवृत्तिश्चेत्यादिकं भाषितं यथा,**

- 'पूर्वपक्षीयमिदं सूत्रम्' (ब्र.सू.२/१/२२)

- 'आक्षेपसूत्रमिदम्' (ब्र.सू.२/१/२७,३३)

- 'अत इति मण्डूकप्लुत्यानुवर्तते' (ब्र.सू.२/३/१२)

- 'अतिदेशसूत्रमिदम्' (ब्र.सू.२/१/१२) इत्यादि1

- **सूत्रस्थनिपाताऽव्ययानां सूत्रार्थे समुचितसमन्वयसिद्धौ यथा,**

- 'चकारात् प्रधानस्य हेयत्वादिति हेत्वन्तरसङ्ग्रहः' (ब्र.सू.१/१/८)

- 'चेति समुच्चयार्थे' (ब्र.सू.१/१/१९)

- 'चकारोऽवधारणार्थः' (ब्र.सू.४/३/१५)

- 'चकारो हेतुसमुच्चयार्थः' (ब्र.सू.३/३/४५)

- 'तुशब्द आक्षेपविक्षेपकः' (ब्र.सू.२/१/२८)

- 'तुशब्द आशङ्काऽभिव्यञ्जकः' (ब्र.सू.३/२/१९)

- 'तुशब्द आक्षेपप्रतिक्षेपकः' (ब्र.सू.३/३/५०)

- 'तुशब्द आशङ्कोच्छेदकः' (ब्र.सू.३/४/४७)

- 'तुशब्द पूर्वपक्षोच्छेदकः' (ब्र.सू.३/४/८)

- 'तुशब्दः सञ्ज्ञाऽऽशङ्कानिवर्तकः' (ब्र.सू.१/४/२)

- 'तुशब्दः पूर्वपक्षाऽऽशङ्काव्यावर्तकः' (ब्र.सू.२/१/२३)
- 'वाशब्दोऽवधारणे' (ब्र.सू.३/५४)
- 'वाशब्दः पूर्वपक्षोच्छेदकः' (ब्र.सू.३/३/२०)
- 'वाशब्दः पूर्वपक्षनिवारकः' (ब्र.सू.३/३/६३)
- 'वाकारः समुच्चयार्थः' (ब्र.सू.२/२/४१) इत्यादयः।

- **क्वचिच्च सूत्त्यात्मकवाक्यप्रयोगैः लाघवमानीतं ग्रन्थ इति दृश्यते। यथा-**

- जिज्ञासाधिकरणे ब्रह्मपरब्रह्मणोर्मुण्डकोक्तब्रह्मविद्याघटकीभूततया प्रस्थापनाऽनन्तरम् अधिकरणाऽन्ते '...इत्युक्तब्रह्मविद्यावर्त्मविध्वंसनेनाऽजागलस्तनायितः' (ब्र.सू.१/१/१)
- तत्रैव पुनर्मुण्डकोक्तदिशा ब्रह्मपरब्रह्मसाधनाऽन्ते 'श्रुत्यक्षरद्रोहतः सूत्राऽक्षरद्रोहो ब्रह्माक्षरद्रोहश्च नावहनीयः' (ब्र.सू.१/१/१)
- द्वितीयेऽध्याये रचनानुपपत्त्याधिकरणे श्रुतिविरुद्धव्युदासाऽवसरे, 'लोको ह्ययं बालवत् प्रायस्तत्त्वविचारश्रमशिथिलः' (ब्र.सू.२/२/१)
- प्रथमेऽध्याये परब्रह्मण आनन्दमयत्वप्रसाधने मयडः प्राचुर्ये पाक्षिकं तदितरवस्तुसिद्धिरिति पूर्वपक्षसमाधौ, 'अनन्तस्य गणनैव मौढ्यम्' (ब्र.सू.१/१/१४)
- आकाशाऽधिकरणे च परब्रह्मणि आकाशशब्दव्यपदेशसिद्धौ पूर्वपक्षे भूतपञ्चमसमुपस्थापने तर्काकारो यथा, 'प्रसिद्धाऽप्रसिद्धयोः प्रसिद्धो हि बलीयान्' (ब्र.सू.१/१/२३) इत्यादयः।

वेदान्तदर्शने ब्रह्मपरब्रह्मेतितत्त्वमीमांसायां प्रवर्ततेऽयं ग्रन्थो अतस्तत्तद्दर्शनप्रसिद्ध-पारिभाषिकशब्दानां विनियोगेन तत्तद्वादमनुसृत्य तत्तत्सूत्रगतविषये स्पष्टता भवेदित्यनिवार्यं तच्च यथोचिताऽवसरे

दरीदृश्यते। यथा,

- 'समुदायः, संवृत्तिः, सहकारिसमनन्तरप्रत्ययः, आलम्बनम्, आलयविज्ञानं, निरन्वयविनाशः' चेत्यादयो बुद्धानां
- 'शास्त्रसङ्घः, सूरिसङ्घः, सप्तभङ्गिनयः' चेत्यादय आर्हतानां
- 'श्रुत्यनुसारिणः, दृष्टानुसारिणः, पतिः' चेत्यादयः पाशुपतीनां
- 'द्व्यणुकम्, आरम्भकम्, अदृष्टं, समवायि, संयोगः,' चेत्यादयो नैयायिकानां
- 'अनुमानं, स्वभावः, प्रधानं, प्रवृत्तिः, प्रतिसर्गः, गुणः, चेतनः, प्रकृतिः, विक्षोभः, विमोक्षः, अयस्कान्तः' चेत्यादय आनुमानिकानां
- 'स्तोत्रशस्त्रादि, अनुवादः, अपूर्वं, दृष्टं, क्रियामयक्रत्वङ्गता, विधिस्तत्प्रकाराश्च ' चेत्यादयः कर्ममीमासानां
- 'प्रत्ययः, प्रत्यवायः, प्रत्यभिज्ञा, आवापोद्वापौ, उपरोधः, अनुवृत्तः, समाकर्षः' चेत्यादयो वेदान्तानां च पारिभाषिकशब्दानां यथाऽवसरं प्रकृतवस्तुसाधने समुचितप्रयोगः।

परब्रह्मस्वामिनारायणप्रबोधितसिद्धान्तप्रस्थापनप्रवणताः-

परब्रह्मस्वामिनारायणैः प्रबोधितं गुणातीतगुरुपरम्पराप्रवर्तितञ्चेदं मौलिकम् अक्षरपुरुषोत्तमदर्शनमिति। तस्यैव प्रतिपादकमिदं ब्रह्मसूत्रस्वामिनारायणभाष्यमतस्तदनुसारं सिद्धान्तप्रस्थापनं सम्प्रदायपरिपाटी चाऽनुसर्तव्येति परमकर्तव्यस्य पालनमत्र वरीवर्ति। प्रायः सम्प्रदायप्रस्थापकसिद्धान्ताऽनुसरणे गच्छता कालेन शास्त्रप्रतिपादने क्वचिल्लेखकचिन्तनमपि प्रविष्टं स्याद् येन मूलसिद्धान्तेभ्यश्च्युतिसम्भावनं दुर्वारं परन्तु तावत्सम्प्रदायसिद्धान्तस्खालित्यमत्र नैवाऽवलोक्यते परञ्च सूत्रकाराऽऽशयमनुसृत्य परब्रह्मस्वामिनारायणोपदिष्टानां सिद्धान्तानां

प्रस्थापनमिति विस्मयतापादकम्। एवञ्चाऽनेनैव परब्रह्मस्वामिनारायणप्रबोधितमूलसिद्धान्तानां वैदिकत्वं शास्त्रीयत्वं च विद्योतेते तदेव मौलिकम् अक्षरपुरुषोत्तमदर्शनमिति।

तदत्र कतिपयमुदाह्रियते यथा ब्रह्मजिज्ञासयाऽऽरब्धेऽस्मिन् सूत्रग्रन्थे मुण्डकोक्तब्रह्मविद्या मूलमिति प्रागवसितम्। अयमेवाऽर्थः परब्रह्मस्वामिनारायणैः सिद्धान्तितो यथा, 'अथ तत्र ब्रह्मज्ञानमार्ग इदं वेदितव्यं यद् ब्रह्म तु निर्विकारं निरंश च वर्तते, नैव विकारं प्राप्नोतीति नैव चापि भवन्ति तदंशाः1 तदिदं ब्रह्म प्रकृतिपुरुषादिसर्वेषामपि कारणमाधारश्चेति यद्भवेत् कारणमाधारश्च तत्तु नैव भवेत्कार्यात् पृथगित्यभिप्रायमुद्दिश्यैव शास्त्रेषु ब्रह्मणः सर्वरूपत्वमुच्यते, तदिदं ब्रह्म विकारं प्राप्य चराचरजीवरूपं भवतीति न च वाच्यम्। तस्माच्च ब्रह्मणः पृथगेव वर्तते परब्रह्मपुरुषोत्तमो नारायणः1 स एव ब्रह्मणोऽपि कारणमाधारः प्रेरकश्चास्ति1 इत्येवं विज्ञाय स्वजीवत्माने तेन ब्रह्मणा सहैकीकृत्य परब्रह्मणो स्वामिसेवकभावेनोपासनं कर्तव्यम्। इत्येवंरूपेण ज्ञाते सति ब्रह्मज्ञानमपि परमपदप्राप्तौ निर्विघ्नः पन्था भवति' (वच.ग.म.३) इत्येवमाधारीकृत्य ब्रह्मविद्योपपादिता ग्रन्थेऽस्मिन्निति नैव ग्रन्थाऽवलोकिनां विदुषामगोचरवार्ता भवेदिति।

नैकेषु वचनामृतेषु परब्रह्मस्वामिनारायणैः स्वयं साकृतिकत्वमुपदिष्टं तदेवं यथाऽवसरं सूत्रभाष्ये सूपपादितं यथा प्रथमे समन्वयाध्याये ईक्षत्यधिकरणे 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा.६/२/३) इति सामगानां जगद्धेतुतावाक्ये ऐक्षतेति हेतोः परब्रह्मसाकृतिकत्वं प्रतिपादितं यथा, 'श्रूयमाणमीक्षणं हि चेतनधर्मो जडस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वबोधकवाक्ये सच्छब्दवाच्यतां वारयति। न केवलं वारयत्यपि तु सच्छब्दवाच्यस्य जगत्कारणस्य दिव्यनेत्रादिकरणकलेवरात्मकं साकृतित्वं प्रस्थापयत्यपि' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/१/५, पृ.३०) इत्यनेन1 एवम् अन्तस्तद्धर्माधिकरणेऽपि 'य

एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः' (छा.१/६/६) इति छन्दोगानां भणितिं विषयीकृत्य तत्सूत्रभाष्ये साकृतिकत्वं प्रतिपादितं यथा, 'इत्थमिह परमात्मैव साकृतिकत्वेन निरूपितः। साकृतिकोऽपि न येन केनचिदप्याकारेणाऽपि तु दिव्यकरचरणादिकरणयुतपुरुषाकार एवेति 'पुरुषः' इत्यनेन सिद्धान्तितम्' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/१/२१, पृ.४५) इति।

आद्याऽध्यायस्य तार्तीये पादे दहराधिकरणे दहराकाशेन अक्षरब्रह्मेत्यर्थ उपपादितः। तमेव दहराकाशं चिदाकाश इति शब्देन व्याख्यातं परब्रह्मस्वामिनारायणैरिति तद्विहिताऽर्थस्यैवाऽत्राऽनुसरणमिति 'स दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र.सू.१/३/१४) इति सूत्रभाष्ये भाषितं यथा, 'ब्रह्माण्डानां चतुःपार्श्वेषु तदन्तश्च चिदाकाशोऽभिवर्तते। स चाऽयं सर्वाधार आकाशस्तदाकारेण यस्य दृष्टिर्वर्तते सा दहरविद्या (वच.ग.प्र.४६)' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/३/१४, पृ.१०२) इति।

एवमेव द्वितीयेऽध्याये तार्तीये पादे अंशाधिकरणे आत्मनोंऽशत्वमादाय चिकित्सा चरिता। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गी.१५/७) इति स्मृतिप्रस्थानगतश्लोकेन तच्छ्लोकस्य परब्रह्मस्वामिनारायणोक्तिं पुरस्कृत्य तत्राऽऽत्मानो परमात्मांशत्वे समाधिः साधिताः 'अपि च स्मर्यते' (ब्र.सू.२/३/४५) इति सूत्रभाष्ये यथा, 'संसारेऽस्मिन् ये जीवा भगवतोंऽशास्ते तु मनःसहितानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि समाकृष्य पञ्चविषयेभ्यः स्ववशे समुपस्थापयन्ति। परं च ये भगवतोंऽशा न, तांस्तु तानीन्द्रियाण्येव समाकृष्य स्वेष्टस्थानं प्रति नयन्ति। तस्माद्धि वयं सर्वे यदीन्द्रियाऽऽकर्षणाऽनाकृष्टाः स्याम तर्हि भगवदंशा एव स्याम (वच.ग.म.८)' (ब्र.सू.स्वा.भा.२/३/४५, पृ.२४९) इति।

साधनाऽध्याये द्वितीयोत्तरे तावत्पूर्वविकल्पाधिकरणे भवत्यग्निरहस्यं वाजसनेयकं विषयः। तत्र च 'षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मोऽग्नीनर्कान्

मनोमयान् मनश्चितो...' (अग्निरहस्यम्.५/३) इति श्रुतिमवलम्ब्यैतेषामग्नीनां ब्रह्मविद्यामयक्रत्वङ्गता उत क्रियामयक्रत्वङ्गतेति विचिकित्सा। तत्र विद्यामयक्रत्वङ्गनिर्णये 'परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्वनुबन्धः' (ब्र.सू.३/३/५०) इति सूत्रभाष्ये परब्रह्मस्वामिनारायणप्रतिपादितं ज्ञानयज्ञं गीताप्रस्थानं पुरस्कृत्य व्याचक्षते भाष्यकाराः 'दशेन्द्रियाण्येकादशं मश्चैतत्सर्वं यद्विषयसंलग्नं ततस्ततः समाकृष्य ब्रह्माग्नौ जुहुयादित्ययं योगयज्ञ उच्यते। तदित्थं जुह्वतो यथा यज्ञकर्त्रे ददाति भगवान् दर्शनं तथाऽस्य ब्रह्मरूपत्वापन्ने स्वात्मनि परं ब्रह्म प्रकटीभवतीतीदं योगयज्ञफलम्' (वच.ग.म.८), 'इत्थं ज्ञानयज्ञमनुतिष्ठतो यदा ब्रह्मरूपे स्वात्मनि परब्रह्मसाक्षात्कार एव ज्ञानयज्ञफलम्' (वच.ग.म.८) चेत्यादिभिः।

इत्थं परब्रह्मप्रकटस्वरूपे प्रीतिः, ब्रह्माऽक्षरे सत्पुरुषे आत्मगृहीतिः, अर्चिरादिपथवर्णनं, परब्रह्मणो जीवानामिच्छाक्रियाज्ञानाऽन्यतरशक्तिप्रदत्वं, जीवद्विदेहोभयमुक्तिश्चेत्यादिकं यत्किमपि प्रतिपादितं भाष्ये तत्सर्वं परब्रह्मस्वामिनारायणोपदिष्टं सम्प्रदायाऽनुवर्तनञ्चैवेति बोधो जायते। तदत्र विस्तरभयान्नोल्लिख्यते।

भाष्यगूढं भाष्यकारवृत्तम्:-

अक्षराणि व्यक्तिमाख्यातीति लोकसङ्ग्रहम्। भाष्यादस्माद् भाष्यकाराणां महामहोपाध्यायानां साधुभद्रेशदासानां व्यक्तित्वं व्यनक्ति। येन च तावद्व्यक्तेः भाषया स्वजीवने संस्कृतिगरिमा तत्प्रवर्तनलालसादिकं व्यज्यते। पुनश्चेदमेव भाष्यादिविरचने तावद् यद्ग्रन्थस्य भाष्यं क्रियते तद्ग्रन्थकारस्य हृदयमवबुद्ध्य तद्ग्रन्थरहस्योद्घाटनमेव व्याख्यातुर्बुद्धिः स्यादिति भाष्यव्याख्यातोऽवगम्यते। तदिदं सूत्राऽनुसारिभिः पदैः सूत्रार्थवर्णनमिति वाक्ये गर्भितम्। ततश्च स्वपदानि च वर्ण्यन्ते इति वाक्ये सूत्रकाराऽऽशयमपेक्ष्य तत्सूत्रगर्भितसिद्धान्तप्रस्थापनमिति ज्ञायते। अपरञ्च श्रुत्यर्थयाथार्थ्यविप्रतिपत्त्यर्थमेव ब्रह्मसूत्राणि विरचयामासुः पाराशर्या

मुनयोऽतः सूत्रेष्वेषु श्रुत्याद्यवलम्बनमिति निश्चप्रचम्। ब्रह्मसूत्रस्वामिनारायणभाष्यप्रणयने प्रणेतारस्तावत् सूत्रकाराऽभिप्रायसङ्ग्रहणे सफलीभूता इत्यवगम्यते भाष्याऽवलोकनेनेति।

यथा प्रथमाऽध्याये ईक्षत्यधिकरणे प्रधानादौ वेदान्तवाक्यानां समन्वयं साधयतां प्रतिक्षेपः। तत्रैव पुनः कारणत्वाऽधिकरणे केवलप्रकृतिकारणतां, जगद्वावाचित्वाऽधिकरणे प्रकृत्यधिष्ठित्रकर्तृनिर्लिप्तपुरुषस्याऽश्रौतत्वं, वाक्याऽन्वयाऽधिकरणे काशकृत्स्नादिविभिन्नाऽऽचार्याणां मतं पुरस्कृत्य तत्पुरुषे वेदान्तवाक्यानां समन्वयाऽभावप्रदर्शनं, प्रकृत्यधिकरणे च केवलप्रकृतिकारणतां विहाय तत्प्रकृतिभूतब्रह्मपरब्रह्मण्येव कारणमिति कारणताविषयं सङ्गृह्य निर्बीजकापिलतन्त्रप्रतिक्षेपोऽनुष्ठितः। ततश्च पुनः द्वितीयेऽध्याये पादादौ स्मृत्यधिकरणे तदभिमतस्मृतिप्रत्याख्यानं, विलक्षणत्वाऽधिकरणे अक्षरपुरुषोत्तमकारणवादाऽवरोधकतर्कप्रतिक्षेपः प्रसाधितः।

इत्थं निर्बीजकापिलानां कारणतादिवादस्य तत्र तत्र तदुत्थापिततर्काणां च प्रत्याख्यानं प्रमाणैः प्रस्थापितम्। ततः द्वितीये पादे तत्रैव पुनः रचनानुपपत्त्यधिकरणे तत्प्रतिक्षेपे पुनरुक्तिदोषः स्यादिति संशयः। परन्तु तत्रैव 'रचनाऽनुपपत्तेश्च नाऽनुमानम्' (ब्र.सू.२/२/१) इति सूत्रभाष्ये स्पष्टायितम्, 'ननु खण्डितमेवेदं कथं पुनः खण्ड्यत इति चेत् तात्पर्यविशेषात्। पूर्वं ह्यश्रौतस्याऽपि केलवप्रधानकारणतादिरूपस्य स्वगोष्ठिमात्रकल्पितस्य स्वमतस्य श्रौतत्वप्रतिपादनाय श्रुतीरेव यथाकथञ्चित् संयोज्य श्रद्धावतो मन्दधियो मुमुक्षून् भ्रामयन्तीति सैषा संयोजना न यथावच्छ्रुत्यर्थानुकूला प्रत्युत तत्प्रतिकूलेति तत्तद्वेदान्तवाक्यानां केवलप्रधानादौ समन्वयो निराकृतः। इह तु तत्तन्त्रोत्थापिताऽसत्तर्केषु तर्काऽऽभासतां प्रदर्श्य सत्तर्कैस्तेषां प्रतिक्षेप इति विशेषः' (ब्र.सू.स्वा.भा.२/२/१, पृ.१८८) इति।

अपि च स्वामिनारायणभाष्ये प्रतिपादितमिदं सर्वं समीक्ष्य सूत्रगतशब्दानामप्ययमेवाऽऽशय इति निश्चप्रचं कल्पयितुं शक्यते। एवं सति सूत्रकाराणां मतं, तत्र च स्वस्य शेमुषीं निवेश्य निर्बीजप्रधानकारणवादिनां भिन्नभिन्नदृष्टिकोणेन तत्तद्वादः प्रतिक्षिप्तः। तच्च 'तदेतत्सर्वं पर्यालोच्य मन्दधियां मोक्षमार्गाऽभिरक्षणाय साधुयुक्तिभिरसाधुवादप्रतिक्षेपाय प्रवर्तते भगवान् पाराशर्यः' (ब्र.सू.स्वा.भा.२/२/१, पृ.१८८) इति पुनर्निर्बीजकापिलतन्त्रोच्छेदवेलावचनेन वेदनगम्यम्। अपरञ्च तत्तद्वादे प्रस्थानप्रमाणैः अक्षरपुरुषोत्तमदर्शनं तत्तदृष्ट्या प्रस्थापितमिति बादरायणमुनीनामपि सम्मतमित्युररीक्रियते। यतो हि ग्रन्थारम्भे मङ्गलवादे अथशब्दस्य मङ्गलार्थकपरित्यागे 'मुनिर्बादरायणव्यासोऽपि ग्रन्थानुकूलप्रज्ञासंजीवकमक्षरं ब्रह्म तदधीशं परं ब्रह्म च संस्मृत्यैव तदनुग्रहेण चैतान् दिव्यसूत्रदीपान् प्रज्वालयामासेति न किञ्चिदमङ्गलमिति' (ब्र.सू.स्वा.भा.१/१/१ पृ.३) इति वाक्येनैतद् पूर्वापरसङ्गत्या साद्यन्तं ध्वन्यते। इत्थं स्वामिनारायणभाष्यस्य गरिमा एवं च भाष्यकाराणां शुद्धबुद्धिवैभवोऽपि कैमुत्येन व्यज्यते।

ब्रह्मसूत्रनिरूपणे द्वितीयाऽध्याये तत्तदधिकरणाऽऽरम्भे चार्वाकबौद्धाऽऽर्हतकापिलौलूकीयाऽक्षपादादि-दर्शनानां मतं यथा समुपस्थापितं तद्विदुषां विस्मयजनकं तेन चैतेषां नास्तिकाऽऽस्तिकोभयभारतीयदर्शनेषु प्रभुत्ववैभवोऽधिगम्यते। सूत्रकाराऽभिप्रायं सङ्गृह्य तत्तत्सूत्रनिरूपणे स्वसिद्धान्ताऽभिप्रायप्रस्थापनं तत्र विषयाऽन्तरराहित्यं चैतेषां ध्यानावहम्। अक्षरपुरुषोत्तमदर्शनविज्ञाने ग्रन्थस्याऽस्योपकारित्वं तु स्यादेव परन्तु तदितर सर्वेषामेतेषां दर्शनानां दृढाऽभ्यासे परमौपयिकत्वं भवेदिति शङ्काशून्यम्। परमतदूषणदर्शनेऽपि वाक्ययोजना विद्वेषविरहिता समुचितविमर्शप्रवणा च द्योतते तद्भाष्यकाराणां सर्वादरभरितं हृदयमभिव्यनक्ति।

यथासमयं शास्त्रपरिपाटीमनुसृत्य स्वसिद्धान्तस्पष्टता समभिव्याहृतेति गोचरीभवति। यथा, द्वितीयेऽध्याये प्रथमे पादे शुष्कतर्कोपात्ततत्त्वदूषणदर्शने 'तर्काऽप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः' (ब्र.सू.२/१/११) इति सूत्रभाष्ये तर्कविमर्शं पुरस्कृत्य सत्तर्कदुस्तर्कनिरूपणमनुष्ठितम्। अनेनैतेषां तर्कवैदुष्यं तर्कहेयोपादेयत्वं तर्कविवेकादि च ज्ञायन्ते।

द्वितीयेऽध्याये तृतीये पादे मण्डिते अन्तराविज्ञानाऽधिकरणे 'अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाऽविशेषात्' (ब्र.सू.२/३/१६) इति सूत्रे सृष्टिप्रतिपादकवाक्यानां न हि तावत्सृष्टिक्रमविज्ञापने तात्पर्यमपि तु सृष्टिकारणे अक्षरपुरुषोत्तमौ तात्पर्यमिति सम्यक्प्रतिपादितम्। यत्र चाऽवसरसङ्गत्या सृष्टिप्रक्रियाक्रम उपस्थापितः। एवं यथाऽवसरं ग्रन्थकारोक्तिक्रममनवरुध्य यथाऽक्षरपुरुषोत्तमदर्शनसमयं प्रसङ्गोपात्तानि प्रस्तुतानि समाधितानीति तेषां सम्प्रदायसिद्धान्तविनिवेशने प्रतिभामाख्याति।

अक्षरपुरुषोत्तमदर्शने परब्रह्मस्वामिनारायणैरेव गुरुरेव साधानाऽनुष्ठाने आदर्शः स एव परब्रह्मप्राकट्याऽनुभावक इति सिद्धान्तितम्। तत्र च 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ1 तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥' (श्वे.६/२३), 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठम्' (मुण्ड.१/२/१२) इत्यादीनि प्रमाणानीति सूक्तानि। तदिदं सर्वं प्रथमाध्यायस्याऽऽद्ये पाद्ये इन्द्रप्राणाधिकरणे 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र.सू.१/१/३१) इति सूत्रभाष्ये शास्त्रदृष्ट्यर्थं प्रस्तूय प्रतिपादितम्। एवं वैदिकसिद्धान्तप्रस्थापने प्रावीण्यमित्यनुमीयते।

शताब्द्यामस्यामेतादृशं महाकार्यं सम्पन्नमत्यल्पायुभिः भाष्यकारैस्तदाश्चर्यमकारि। तत्कारणमपि तैरेव भाष्यारम्भे लिखितेभ्यो मङ्गलाचरणपद्येभ्यो ज्ञायते यथा प्रप्रथममिष्टदेवतागुरुस्मरणं ततश्च 'प्रतिपदकरणाद्दोषभागल्पबुद्धिः', 'क्व हन्ताऽस्मद्बुद्धिः प्रकृतिजडपङ्केन

मलिना', 'क्षम्यतां क्षम्यतां मे' इत्यादिभिर्निष्कपटभावेन स्वात्मानमुल्लिख्य गुरुहरिदिव्यसन्निधौ प्रार्थनाऽनुष्ठिता 'लेखारम्भमहोत्सवेऽभिरमतां दिव्या मतिर्मे शुभा', 'त्वं हि त्वं हि त्वमेव मम सकलगतिराश्रितोऽहं तवाङ्घ्रौ', 'तथापि प्रज्ञा तु परमगुरुकारुण्यसुलभा, कटाक्षः पर्याप्तः प्रमुखनयनोद्भूतसरसः' इत्यादिभिर्वचनैः। इत्थमत्र स्वगुरुसमर्पितधीलक्षणसमनन्तरगुरुकृपैव कारणमिति बुद्ध्यतेl भाष्यविरचनेऽपि श्वेताश्वतरोक्तदिशा प्रमुखगुरौ नारायणस्वरूपदासे परब्रह्मभावभरणं स्यादिति भद्रभावना 'नारायणस्वरूपे तु नारायणस्वरूपधीः। जायतामिति हार्दोऽयं भावो भाष्यविलेखने॥' इत्यनेनाऽवगम्यते। जिज्ञासिततत्त्वजिज्ञासाप्रयोजनं परममुक्तिरेव। तच्च 'अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दाद्' (ब्र.सू.४/४/२२) इति सूत्रे परिलक्षितं तदेव भाष्यकाराऽभिलाष इति मङ्गलाचरणे 'दद्या अनावर्तनम्' इति शब्दैरनुभूयते। एवं श्रुतिवचनस्याऽऽचरणे विनियोगो, गुरुभक्तिरेवैकतानो, विद्वेषशून्यव्यक्तित्वं, स्वपण्डामण्डनचारुविचारपरिक्षेपणं विहाय सूत्रकाराऽऽशयमनुसृत्य परब्रह्मस्वामिनारायणप्रबोधित-सिद्धान्तप्रस्थापनप्रवणता, स्वसिद्धान्तप्रख्यापने मार्दवमित्यादिनैकाध्यात्मिकगुणपरिमण्डितवैदुष्यम् आजगत् प्रवरविद्वद्धौरेयहृदयं प्रमाणीकुर्वन्तीति ध्रुवम्। इत्थं स्वात्मनि निष्कपटभावशून्यत्वं गुरुहरौ च दिव्यभावभरितत्वमिति भद्रभावनां संरक्ष्य गुरुप्रेक्षणप्राप्तप्रज्ञैः भाष्यकारैः महामहोपाध्यायैः साधुभद्रेशदासैः तत्त्वक्षेत्रे नूतनदार्शनिकधारा प्रवाहिताऽतः सत्यं खल्वत्र 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः'[1] इति पङ्क्तिश्चरितार्थेत्युररीक्रियते।

---

[1] हिन्दीव्याख्याकारः कृष्णमणि त्रिपाठी, रघुवंशम्, मल्लिनाथकृतसञ्जीवनीटीकोपेतम्, १/२०, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण- २०१४

उपसंहारः

सत्यं खलु महापुरुषसंश्रयेण किं न साध्यते? भाष्यमिदं सर्वदर्शनशाखिनां कृते नूतनतत्त्वाऽवगाहने तत्परिशीलने च द्वारमुद्घाटयतीति मन्ये। अन्ते च 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्'[1] इति परिभाषाया नीतिबोधं समालोच्य तावद् ब्रह्मसूत्रस्वामिनारायणभाष्यस्य परिशीलनेनैव विशेषं विज्ञास्यते तत्त्वबुभुक्षुभिरिति मत्वा परब्रह्मस्वामिनारायणं ब्रह्माऽक्षरं गुणातीतानन्दं तथा च गुरुपरम्परां भूयो भूय प्रार्थये यद् भाष्यमिदं विश्वफलके चकास्यात् तथा च तत्त्वचिन्तनक्षेत्रे भाष्यकाराणां हृदये विराज्योत्तरोत्तरं तैर्नूतनाऽऽविष्कारान् सम्पादयेदिति शम्।

---

[1] संपादक-डॉ. भगवतीप्रसाद पण्ड्या, परिभाषेन्दुशेखरः, पृष्ठम्-१, युनिवर्सिटी ग्रन्थनिर्माण बोर्ड, गुजरात राज्य, अहमदाबाद, प्रथमावृत्तिः-१९८४

Cultural aspect of Panini's *Ashtadhyayi*

Manish Gavkar
manishyg@gmail.com
MA Student
Department of Sanskrit, University of Mumbai
Presented at: Second Global Sanskrit Conference, Deccan College 27th - 28th Oct 2023

Abstract:-

Language and culture are intricately connected and play a fundamental role in shaping our identities, societies, and the way we interact with the world. Grammar serves as a mirror reflecting the complex relationship between language and culture.

The connection between language and culture is evident in the way languages carry the legacy of the speakers' cultural backgrounds. Language is not just a system of communication; it is a repository of cultural heritage. Every culture shapes its language to reflect its unique world view, values and social structures.

The "*Ashtadhyayi*" of Panini played a crucial role in preserving the purity and integrity of Sanskrit by maintaining consistency and preventing linguistic drift and change. But its significance extends beyond linguistic analysis by connecting language to culture, philosophy, and identity. This paper attempts to explore the cultural aspect reflected from selected sutras of *Ashtadhyayi* and its commentaries.

Keywords: Sanskrit Grammar, *Ashtadhyayi*, Culture, Panini, Sociology, language and Culture

Introduction:-

The tradition of Sanskrit grammar is very ancient. There is a clear indication of the importance of grammar in many Veda mantras, from this it is known that grammar had started developing in the form of *shaastra* during the Samhita period itself.

Panini grammar is also called *Trimuni*-grammar. Maharishi Panini, the pioneer of the Ashtadhyaayi Sutra, Katyayana (Vararuchi), and Maharishi Patanjali are the three sages of grammar. Maharishi Panini's Ashtadhyayi is famous all over the world for its conciseness and clarity of the subject matter. Katyayana's Vartika sometimes mentions modifications in the Ashtadhyaayi and sometimes contracts or expands thelinguistic rules. Patanjali's Mahabhashya completes this grammar by avoiding the suddenly apparent contradictions and asserting coordination. This indicates that the tradition of grammar has continuously evolved.

Adaptability and Openness to Diversity:-

The significance of granting authority to the most recent scholarly commentary, when multiple commentaries exist, (उत्तरोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्) is worthy of consideration. This helps to keep the knowledge updated. The latest commentary is more likely to incorporate the most current research, data, and developments in a given field. Cultures evolve over time, and their values, beliefs, and practices change.

When a tradition accepts new commentaries, it represents several cultural qualities and values within that tradition. The tradition is open to a diversity of perspectives and voices. It values a range of interpretations and acknowledges that cultural richness can come from different viewpoints. Accepting new commentaries

demonstrates a tradition's ability to adapt to changing times and circumstances. It reflects a willingness to evolve and remain relevant in a dynamic world.

Aakritigana:-

The concept of 'आकृतिगण' (with ref. to the गणपाठ) is eloquent to prove Panini's foresight as a grammarian. The list of the words in the 'आकृतिगण' is always incomplete as Panini permits the addition of words (having the similar form 'समान आकृति') in the 'आकृतिगण. Thus he permits the new words in his grammatical system which have not yet come in the language. The point can be explained with the help of the 'Varttika', शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् on P. A. 6.1.94. The list begins with 'शकन्धु' and all the words in that group get the 'पररूप' operation. The word मृतण्ड is notlisted in this गण but in its formation the 'पररूप' operation is seen. Moreover, Panini' has not given any rule for this 'पररूप' operation and the necessary conditions to getlisted in this group are fulfilled by the word मृतण्ड. So, thelater grammarians included the word in the 'शकन्वादि गण'. It clearly shows that 'Panini' was aware of the fact that in the grammatical system a provision should be made for newly-coming words[1].

The recognition of the need for accommodating newly-coming words in the language indicates that the culture is inclusive and receptive to different perspectives and influences. It values diversity and is open to incorporating new concepts and terminologies from various

[1] Optionals in Sanskrit Language and Panini – Dr Uma Vaidya

sources, including other cultures.

Respect for Expertise:-

By acknowledging the authority of scholarly commentaries, a tradition values the expertise and contributions of scholars who have dedicated their lives in studying and interpreting its principles and practices. This is evident from the sutras which mentions earlier scholar's name such as लोपः शाकल्यस्य (8.3.19), सर्वत्र शाकल्यस्य (8.4.51), इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च (6.1.127). This not only indicates acceptance of alternate usage but also shows respect and give credit.[1]

There was a discussion among the scholars with referring to 'Varttika' as criticism in regard to that which is omitted or imperfectly expressed in sutra. The view that Vararuchi attacked Panini and that Patanjali defended Panini against Vararuchi's attacks was most probably started by Theodore Goldstucker. In 1861, Goldstucker's preface to the Maanvasutras was published as a book by itself with the title "Panini: His Place in Sanskritliterature". In page No. 120 of this book, he states "Katyayana, in short, does not leave the impression of an admirer or friend of Panini, but that of an antagonist often, too, of an unfair antagonist. Goldstucker was a most influential scholar, and his views were adapted widely by European scholars.

F. Kielhorn's published a book in 1876 "Katyayana and Patanjali: their relation to each other and to Panini", In that book Kielhorn refutes the views of Goldstucker and shows that Katyayana "dispassionately examines the ruleslaid down by his master, considers the objections which have actually been or which might be raised to them, is ever ready to defend and justify Panini, and corrects,

[1] इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च - ६.१.१२७ – काशिका - शाकल्यस्य ग्रहणं पूजार्थम्।

adds to, or abandons the rules propounded by him, only when no other course is left open." (p 120). Kielhorn thinks that Katyayana should be called a follower and judicious admirer of Panini.

This tradition of allowing for examination and adaptation while still respecting the wisdom of past scholars reflects the dynamic and inclusive nature of society. It demonstrates how a cultural tradition can maintain its core values and principles while encouraging ongoing examination and evolution. It strikes a balance between tradition and progress, contributing to the vitality and relevance of the culture in a changing world.

Purpose of *Vyakaran:-*

In *Mahabhasya*, Protection (*Raksha*) is given as one of the purposes (*prayojan*) of *Vyakaran*. In the Vedas, there are forms like देवास:, देवेभि: which are not seen among the regular usage of people. In *Ashtadhyayi* there are around 264 sutras that deals with Vedic usage. The number may look insignificant in comparison to the overall 4000 sutras but the significance of these sutras is no less. Thus, a grammarian will know that they are not wrong and can protect the Veda from attempts to correct the texts. The sutras such as छन्दसि बहुलम्, छन्दसि ठञ् (4.3.19), छन्दस्युभयथा (6.4.5) for instance provides information about how the different usage is seen in the *Vedas* and thus validates it by providing a *sutra*.

In one verse there is an order to study sixlimbs of Veda[1], indicating passage of knowledge through the line age and ensuring its preservation. The purpose of following that order is achieved by the study of grammar.

[1] ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षड्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति। पस्पशान्हिक, महाभाष्य

The word लघु means brevity, to put in brief. The emphasis on being concise is evident from the concepts such as अनुवृत्ति, उत्सर्ग, अपवाद etc. This indicates that importance of brevity as a valuable skill was well understood. It helps individuals communicate effectively, saves time, and create a more impactful and memorable message.

Strī pratyaya:-

Ashtadyayi includes few examples which reflects cultural and sociological image of woman in that era. Study of few examples in *Strī pratyaya* of *ashtadyayi* helps to understand social and cultural image of woman and indeed this image seems collective depiction of womanhood. Sutra स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् (4.1.54), न क्रोडादिबह्वचः (4.1.56), ऊरूत्तरपदादौपम्ये (4.1.69), संहितशफलक्षणवामादेश्च (4.1.70) provides examples such as अतिकेशा (the woman withlong hair), कल्याणक्रोडा (woman having opulent burstline), संहितोरू, करभोरू (one with having heavy and curved thigh), ताम्रमुखी (one with illuminating dusky facial complexion).

From this we can say that aesthetic preferences for body types can be influenced by cultural and historical factors. What is considered aesthetically pleasing can vary across different cultures and time periods. Aesthetic appreciation of black skin involves recognizing and celebrating the unique beauty, tones, and textures that characterize individuals with darker skin. This could be the beauty standard in the era of *ashtadyayi*. This antiquity and cultural reference can help understand collective aesthetic image and depiction of an Indian woman, in ancient India.

Units of Measurement and exchange

The sutra असमासे निष्कादिभ्यः (५.१.२०) mentions various units of measurement such as निष्क (gold coin), पण (Copper coin), पाद(Quarter of a coin), माष (weight of gold), वाह, द्रोण, षष्टि. Additionally, the sutras such as योजनं गच्छति provides information on the units of distance. Units of measurement are not just numerical values but carry with them the weight of culture and history. They reflect how societies have quantified and categorized their world. By examining the units of measurement used in a particular culture or historical period, we gain profound insights into the values, priorities, and technologies of that society.

Apatyadhikaar:-

lineage is a part of a person's cultural heritage. It connects individuals to their cultural and historical roots, preserving traditions, customs, and values passed down through generations. The अपत्याधिकार *prakaran* of *Ashtadhyayi* provides sutras to denote 'the descendant of someone'. When an offspring, with reference to a person, is the son's son of that person orlower than that, it is called Gotra (तस्यापत्यम् ४.१.९२, अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४.१.१६२). Similarly, there are *sutras* specifically for a descendant when they belong to a particular gotra विकर्णकुषीतकात् काश्यपे (४.१.१२४), विकर्णशुङ्गच्छगलाद्वत्सभरद्वाजात्रिषु (४.१.११७)

Mentioning lineage is significant for connecting individuals to their cultural heritage, establishing a sense of identity, preserving traditions, and understanding one's place within a family and community. It can also be valuable for historical purpose, as well as for personal

reflection and genealogical research.

Conclusion:-

As part of the ongoing research to explore cultural aspects gained from *Ashtadhyayi*, the insights gained so far are indeed fascinating.

The study of *Ashtadhyayi* can be a profound gateway to gaining cultural insights and understanding the society and norms. By delving into the text, one can decipher the societal norms, values, and beliefs that were prevalent during the era. This understanding would uncovers the customs, traditions, and worldviews that shaped the culture, shedding light on the way of life at the time.

Furthermore, the study also provides a foundation for comparative analysis. Such comparative analysis of *Ashtadhyayi* and post Paninian texts would not only enrich our comprehension of the original work but would also allows us to trace the evolution of ideas, practices, and norms across time and space.

The insights derived from this study will be invaluable in envisioning the future scope of research and exploration. It would inspire scholars and researchers to delve deeper into similar texts, unearthing hidden treasures of knowledge and cultural understanding. In this process, new questions would emerge, inviting us to unravel morelayers of complexity, thus advancing our knowledge of the culture and its historical context.

References:-

1. Dr. Uma Vaidya, Optionals in Sanskritlanguage and Panini
2. Bapat, Shreenandl. “CUlTURAl REFERENCES IN THE ‘MAHABHASYA’ (2.1.1. – 2.2.38).” Proceedings of the Indian History Congress 59 (1998)

3. Torella, Raffaele. “Examples of the Influence of Sanskrit Grammar on Indian Philosophy.” East and West 37, no. 1/4 (1987)

4. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास – प्रथम भाग – पं. युधिष्ठिर मीमांसक, २०२०

रत्नावली नाटक में भाषा एवं संस्कृति का दर्शन

डॉ. मीनाक्षी सुभाष भांदककर
सहाय्यक प्राध्यापिका तथा संस्कृत विभाग प्रमुख
स्व. मदनगोपाल मुंधडा कला, वाणिज्य, विज्ञान महाविद्यालय,
चांदूर रेल्वे, जि. अमरावती, महाराष्ट्र

भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है। अन्य देशों की संस्कृतियाँ तो समय की धारा के साथ साथ नष्ट होती रही हैं, किन्तु भारत की संस्कृति आदि काल से ही अपने परंपरागत अस्तित्व के साथ अजर-अमर बनी हुई है। भारतीय संस्कृति की निरंतरता, लचीलापन एवं सहिष्णुता ग्रहणशीलता, आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का समन्वय, अनेकता मे एकता, सांस्कृतिक गतिविधियाँ इत्यादि अनेक विशेषताएँ है। संस्कृति के दो भाग हैं। भौतिक शरीर और आध्यात्मिक शरीर. मनुष्य की जीवन यात्रा को सुखमय बनाने के लिए जो भी सुख-सुविधाएँ निर्मित की गई हैं वे सब भौतिक संस्कृति में सम्मिलित हैं। इसमें भोजन, वस्त्र, आश्रय, त्योहार आदि शामिल हैं। संस्कृति का आध्यात्मिक हिस्सा प्राकृतिक भावनाओं, सुखों, गुण, दोष, नैतिकता के साथ-साथ मनुष्य के हृदय में शिक्षा, कला, साहित्य, दर्शन और शिष्टाचार की मानव निर्मित काल्पनिक दुनिया है। सभ्यता संस्कृति का मौलिक अंग है। सभ्यता से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है जबकि संस्कृति से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है।

साहित्य को भारतीय संस्कृति का दर्पण कहा जाता है। प्राचीन काल की संस्कृति को यथायोग्य समझने के लिए हमें प्राचीन कहानियाँ, कविता, नाटक आदि साहित्य पर निर्भर रहना पड़ता है। मुख्यतः नाटक में संस्कृति के सभी अंगो का परिचय दिखायी देता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

न सा योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।

सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।

अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम्।।[1]

वह ज्ञान नहीं है, वह शिल्प नहीं है, वह विद्या नहीं है, वह कला नहीं है

वह योग नहीं है, न वह क्रिया है, जो इस नाटक में दिखाई नहीं पड़तीl संपूर्ण शास्त्र, शिल्प, विविध कर्म केवल नाटक में ही दिखायी देते है। इसीलिये मैने इस नाट्यशास्त्र की रचना की है।

'काव्येषु नाटकं रम्यम्।' इस लोकोक्ति के अनुसार साहित्य प्रकारों में भी रूपक विधाओं का विशेष महत्त्व है। श्रीहर्षदेवनाट्यकला प्रवीण नाटककार है। उनकी नाटिका 'रत्नावली' अत्यंत प्रसिद्ध है। क्षेमेन्द्र द्वारा रचित 'बृहत्कथा' में उदयन और वासवदत्ता की कथा प्रसिद्ध है। इस कहानी के आधार पर श्रीहर्ष ने रत्नावली नाटिका की रचना की है। इसमें कुल 4 अंक हैं।

कथा-निर्माण और मूर्तीकरण के क्रम में कवि ने इस नाटक में भारतीय संस्कृति का परिचय भी करवाया है। प्रस्तुत शोध पत्र में श्रीहर्षदेव के इसी रत्नावली नाटिका मे भाषा एवं भारतीय संस्कृति का परिचय देने का प्रयास किया गया है।

भारतीय संस्कृति मे उत्सवों का महत्त्व विशेष है। रत्नावली नाटिका मे मदन महोत्सव का विस्तृत वर्णन किया गया है। मदनमहोत्सव को वसंत उत्सव के नाम से भी जाना जाता है। चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन यह उत्सव मनाया जाता है। मध्याह्न में कामदेव की प्रतिमा या चित्र की पूजा की जाती है। कामदेव के समक्ष मिष्ठान्न रखे जाते हैं, यथा शक्ति दान दिया

जाता है। पत्नी अपने पति की कामदेव के रूप मे पूजा करती है। रात्रि मे जागर, नृत्योत्सव, प्रकाश एवं नाटकाभिनय किया जाता है।[2] डॉ. मुरारीमल्ल अग्रवाल के अनुसार मदनमहोत्सव वसंत पंचमी के दिन मनाया जाता था। इसे कामदेव का जन्मदिवस स्वीकार किया गया है। इस उत्सव मे नगर के सभी नागरिक सम्मिलित होते है।[3] वसंत ऋतु का यह महान उत्सव है। जब वसंत मास का आगमन होता है, तब सर्वत्र मधु की वर्षा होती है। उस मधुवर्षा से सहृदयों का हृदय द्रवित हो जाता है। कामवासना की मधुधारा हृदय में प्रवाहित होने लगती है। इसी समय कामदेव अपने कोमल पुष्पमय बाणों का प्रहार करता है। उत्सव के समय चारों ओर उल्लासमय वातावरण है। कौशाम्बी नगरी के नागरिकों ने यह उत्सव सोल्लास मनाने के लिये लाल, पिला गुलाल उडा रहे है। यौवन से उन्मत्त नवयुवतियाँ हाथों में रंगीन जल से भरी हुई पिचकारियाँ लेकर पुरुषों के ऊपर अनुरागपूर्ण रंगीन जलधारा को छोड रही है। प्रत्येक जन स्वर्णाभूषणो से अलंकृत है। ऐसा प्रतीत होता है मानो इस ऐश्वर्य ने कुबेर के समस्त कोश को भी जीत लिया है। पुरवासियों की धनधान्य समृद्धता उनके आनंद चेहरे पर बिखरी लालिमा से प्रतीत हो रही है। इसी उत्सव में महाराणी वासवदत्ता मकरंद उद्यान मे लाल अशोक वृक्ष के नीचे स्थापित भगवान् कामदेव की पूजा करती है। उपरांत राजा उदयन की यथोचित पूजा कर मदनोत्सव मनाती है।[4]

प्रकृति प्रेम तो संस्कृति से ही जुड़ा है। द्वितीय अंक मे कदलीगृह का वर्णन है। कदलीगृह उद्यान का ही एक हिस्सा होता है जहा केलों का वन होता है। नयनरम्यता की दृष्टी से सजाया हुआ यह स्थान होता है। निरुत्साही, हताश और चिंतामग्न पात्र इस कदलीगृह मे अपना मन रिझाने आते है। इस अंक मे मदनदाह से पीडित, जीवन से निराश सागरिका कदलीगृह मे आकर उदयन का चित्र आलेखित करने का प्रयास कर अपना मन रिझाती हुई दिखती है। हमारी संस्कृति मे व्यक्ति को कभी भी

अकेलापण महसूस नही होने दिया जाता है। इसके लिये हर तरह के प्रयास किये जाते है। प्रकृति से जुडकर ही मनुष्य अपने दुख दर्द भूल सकता है। इसीलिये संस्कृत नाटकों मे समुद्रगृह, कदलीगृह, कोपगृह, श्रृंगारगृह जैसे स्थान देखे जाते है जहा व्यक्ति जाकर अपना नैराश्य दूर कर सके। मकरंद उद्यान, प्रमदवन जैसे उद्यानों के प्रकार भी देखे जाते है। रत्नावली नाटिका मे मकरंद उद्यान का वर्णन मिलता है जहा महाराणी वासवदत्ता अपने परिजनों के साथ मदन महोत्सव मनाती है।

प्रकृतिसंरक्षण यह भारतीय संस्कृति का विभिन्न अंग है। हिंदू धर्म मे तो प्रकृति पूजन को प्रकृतिसंरक्षण के तौर पर मान्यता है। भारत में पेड-पौधों, नदी-पर्वत, ग्रह-नक्षत्र, अग्नि-वायु सहित प्रकृति के विभिन्न रुपों के साथ मानवीय रिश्ते जोडे गये है। प्रकृति संरक्षण का कोई संस्कार अखंड भारत भूमि को छोड़कर अन्यत्र देखने में नहीं आता है। तृतीय अंक मे राजा उदयन नवमालिका लता पल्लवित न होने के कारण चिंताग्रस्त होते है। इस लता को पल्लवित करने के लिये श्रीखंडदास नामक धार्मिक से विशिष्ट पूजाविधी सीखकर नवमालिका को पल्लवित करते है।[5] प्रकृति सुरक्षा का इससे अच्छा नमुना और कहा देखने को मिलेगा। पक्षियों का लालन-पालन करना यह भी संस्कृति की विशेषता है। इस नाटिका में वासवदत्ता, शुकसारिका जैसे पक्षियों को अपने महल मे मनोरंजन के लिये रखती है। इससे पशु प्रेम और भूतदया का परिचय होता है।

महिलाओं की सुरक्षा भारतीय संस्कृति की प्राचीन परंपरा है मनु के अनुसार “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।” "जहां महिलाओं की पूजा की जाती है वहां देवताओं का निवास होता हैं। प्राचीन काल में राजा-महाराजाओं के महलों में स्त्रियों की सुरक्षा के लिए एक अन्तःपुर बनाया जाता था जिसमें केवल कांचुकीय जैसे राजसी प्रमाणित पुरुष ही प्रवेश कर सकते थे। रत्नावली नाटिका के दूसरे अंक में, "नष्टं

वर्षवरैर्मनुस्यागणानाभावादपस्य त्रप--।"[6] इस श्लोक के माध्यम से अन्तःपुर की स्त्रियों की सुरक्षा के लिये किये गये प्रबन्धों का वर्णन किया गया है।

धार्मिकता भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ में धर्म और मोक्ष मनुष्य के जीवन के उत्कर्षमयी मार्ग है। यही दो मार्ग मनुष्य को भोगवाद से दूर रखते है। भारतीय संस्कृति मे प्रत्येक उत्सव की नींव धार्मिकता ही होती है। रत्नावली नाटिका मे वसंत पंचमी मे कामदेव की पूजा की जाती है। द्वितीय अंक मे उदयन राजा की "अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः।" यह उक्ति उसकी धर्म के प्रति रुचि व्यक्त करती है।

भारतीय संस्कृति और भारतीय कलाओं के बीच घनिष्ठ संबंध रहा है। कला संस्कृति कि प्रवक्ता होती है और कला के माध्यम से ही संस्कृति हमारे जीवन में अभिव्यक्ति पाती हैं। रत्नावली नाटिका मे आलेख्य, पुष्पास्तरणम, नेपथ्यप्रयोग, ऐन्द्रजालः, हस्तलाघव, शुकसारिकाप्रलापन, नाटकाख्यायिकादर्शनम इत्यादी कलाओं का वर्णन किया गया है।

दूसरे अंक में कला के रूप में चित्रकला का वर्णन है। जैसे सागरिका उदयन राजा को मदन के रूप में चित्रित करती है तो उसी चित्रफलक पर सुसंगता भी सागरिका का एक सटीक चित्र चित्रित करती है। मानो वह दोनो कामदेव और रति ही हो। 6वीं शताब्दी में, महिलाएं कलाप्रवीण थीं। इससे पता चलता है कि वह चित्रकला और नृत्य जैसी कला विधाओं में अग्रणी थीं। दूसरे अंक में ही हम सारिका को बोलते हुए देखते हैं। श्रीहर्ष द्वारा नाट्य विकास के लिए वानर का पशु के रूप में तथा सारिका का पक्षी के रूप में उपयोग अकल्पनीय है। यह इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण है कि कैसे प्राकृतिक पात्र भी नाट्य विकास के लिए उपयोगी हो सकते हैं।

इसी अंक में सुसंगता सागरिका का मदनदाह कम करने के लिए कमल के पत्तों का बिस्तर बनाती नजर आ रही हैं। तीसरे अंक में, सागरिका और सुसंगता क्रमशः वासवदत्ता और कंचनमाला के रूप में प्रच्छन्न हैं। चौथे अंक में इन्द्रधनुष की घटना रहस्यमयी है। इंद्रजालिक के भेष में यौगंधारायण दर्शकों को अपने हाथ की सफाई से स्वर्ग दिखाते हैं।[7] इतना ही नही महाराणी के अंत:पुर मे जो अग्नितांडव होता है वह भी ऐंद्रजालिक कला का ही नमुना होता है।[8]

संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष के संदर्भ में विचार किया जाये तो चारों अंकों में वासवदत्ता, यौगंधारायण, सागरिका, उदयन और अन्य पात्रों के मन में प्रेम, क्रोध, भय, उत्तेजना, आश्चर्य आदि भावनाओं के उभार के बारे में भी सोचना होगा। भारतीय संस्कृति में नैतिक मूल्यों का विशेष महत्व है। नैतिकता हमारे जीवन विकास का आधार है। रत्नावली में पदे पदे मूल्य के मोती बिखरे हुए मिलते है।

वासवदत्ता विनयशीलता, ऋजुता और शील की साक्षात मूर्ति है। राजा उदयन के प्रति उसमे असीम श्रद्धा है। राजा उदयन को चित्रफलक के साथ अभिसार के प्रसंग मे जब वह रंगे हाथ पकडती है तो वह राजा को कुछ भी बुराभला नहीं कहती। चित्रफलक की घटना को सत्य जानकर भी केवल अपने क्रोध को प्रकट कर उद्यान से लौट आती है। उसकी क्रोध की लपटों मे विनयशीलता दिखायी देती है। कुल और पती की प्रतिष्ठा के प्रति समर्पित वासवदत्ता परिजनों के समक्ष राजा का अपमान नही करती1 वासवदत्ता परिजनवत्सला है। वह हमेशा अपने दासियों का सम्मान करती है। उन्हे प्रेम देती है। इसीलिये सब दासिया उसका गुणगान करती है। तृतीय अंक मे वह सुसंगता को प्रसाद के तौर पर अपने रेशमी वस्त्र देती है।

उदयन राजा भी संस्कृति परीचायक है। नारी का सम्मान करना

उसकी विशेषता है। वासवदत्ता के प्रति उसके मन मे आदर है। सागरिका से प्रेम करने के उपरांत वह वासवदत्ता का दिल दुखाना पसंद नही करता है। तृतीय अंक मे वासवदत्ता रूठकर माधवी लता मंडप से निकल जाती है तो राजा के मन मे पश्चात्ताप की भावनाए प्रबल रूप से उमडने लगती है। वासवदत्ता की अनुमती बगैर वह रत्नावली से विवाह नही करता है।

इस प्रकार रत्नावली नाटिका मे श्रीहर्ष ने भारतीय संस्कृति के अनेकों पक्षो का वर्णन कर संस्कृति ही साहित्य है। साहित्य से ही संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार हो सकता है इस बात का परिचय दिया है। संस्कृति का भौतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष भी श्रीहर्षदेव कवि ने उत्कृष्टता से नाटिका मे रखा है।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-

1. नाट्यशास्त्र अध्याय 1/श्लोक 113 एवं 115
2. https://loginhi.bhartdiscovery.org/india
3. श्रीहर्षदेवविरचित रत्नावली नाटिका, डॉ. मुरारीमल्ल अग्रवाल, प्रकाशक - हरीश प्रकाशन मंदिर, जयपूर हाउस, आगरा, पृष्ठ क्र. 228 तृतीय संस्करण
4. रत्नावली, प्रथम अंक, श्लोक 10, 11
5. रत्नावली, द्वितीय अंक, प्रवेशक
6. तत्रैव, श्लोक क्र. 3
7. रत्नावली, चतुर्थ अंक, श्लोक 11
8. रत्नावली, चतुर्थ अंक, श्लोक 14

THE COlORS ASSOCIATED TO *NAVRASĀS* AND THE COlOR THEORY.

Mitali Milind Joshi

The word Rasa has a wide scope. One of the meanings of the term is, an 'emotion' or a 'sentiment. *Rasās* are an integral part of *Abhinaya* in *Natya*. As quoted by Abhinavagupta-*Rasa* is in Natya and the complete feeling of *Natya* is in Rasa. It is depiction of an emotion with respect to the *Abhinaya*. There are eight Rasa as per the Bharatā's theory, which are mentioned in the sixth chapter of the *Natyaśāstra* of Bharat Muni. The *Śanta Rasa* i.e., the ninth *Rasa* is included by Abhinavagupta. The primary representation of one Rasa is called as the *Mahārasa*, based on which the subordinate *Rasās* are presented. The eight *Rasās* as given by Bharata are- *Śṙngāra* (Erotic), *Hāsya* (Comic), *Karuṇa* (Pathetic), *Raudra* (Furious), *Veera* (Heroic), *Bhayānaka* (Terrible), *Bibhatsa* (Odious), and *Adbuta* (Marvelous). Sources of these [eight] Sentiments are the four [original] Sentiments namely "Erotic, Furious, Heroic and Odious."

The Comic [Sentiment] arises from the Erotic sentiment, the Pathetic from the Furious, the Marvelous from the Heroic, and the Terrible from the Odious.[1] Each of these has an associated color. Sequentially they are: light green (*Śyāma*), White, Ash-colored, Red,light orange (*Gaura*), Black, Blue, and Yellow.[2]

---

[1] शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराचैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः // NS६-.३९ ॥

[2] श्यामो भवति शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः । कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥NS- ६.४२ ॥ गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव

Each Rasa has an associated Presiding deity[1]. Namely; *Viśṇu, Pramathās, Yama, Rudra, Mahendra, Kāmadev, Mahākāla, Brahma* sequentially.

Color:-

In Sanskrit literature the words such as *Varnas* (वर्ण[2](or *Raṅga* (रङ्ग[3]) are commonly used for the term 'color'.

These colors are categorized as:

1. Primary Colors: Red, Yellow, Blue

2. Secondary Colors: Orange, Green, Violet

3. Tertiary Colors: Red-Orange, Yellow-Orange, Yellow-Green, Blue-Green, Blue-Violet, Red-Violet, which are formed by mixing a primary with a secondary.

They are further classified under the two headings under color temperatures which affect us both psychologically and perceptually, by helping us determine how objects appear.

Warm colors	Cool colors

भयानकः । नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥ NS-६.४३॥

1 शृङ्गारो विष्णुदेवस्तु हास्यः प्रथम द्रो रुद्राधिदेवस्तु दैवतः । रौ (प्रमथ) ६ करुणो यमदैवतः ॥.४४ ॥ बीभत्सश्च महाकालः कामदेवो भयानकः । विरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदेवतः ॥ NS-६.४१ ॥

2 '''वर्ण'''/ न॰ वर्ण--अच्। (Vachaspatyam)

3 '''रङ्ग'''¦ पुंन॰ रगि--अच्।(Vachaspatyam)

Warm colors include red, orange, and yellow, and variations of those three colors. Warm colors appear closer to the observer.	Cool colors include green, blue, and purple, and variations of those three colors. Blue is the only primary color within the cool spectrum. Greens take on some of the attributes of yellow and purple takes on some of the attributes of red. They are often more subdued than warm colors. Cool colors appear farther from the observer.

Next are the Neutrals. Neutral colors include black, white, grey, tans, and browns.

It is important to know what colors convey. The psychology of color assigns connotations between colors and emotions. Most of the conventions are universal because of the affect they have on brain, while some are cultural.

Colors associated to *Rasās* as per *Natyaśāstra:*-

1. Śṛngāra Rasa- Śyāma

2. Hāsya- Sita

3. Karuṇa- Kapota

4. Raudra- Rakta

5. Veera- Gaura

6. Bhayānak- Kṛśṇa

7. Bibhatsa-Nīla

8. Adhbuta- Pīta

Different conventions: There are a lot of conventions for a color few are as follows:-

1. Śṛngāra Rasa- Erotic

Precede from dominant state oflove (*Rati*)

Associated color- *Śyāma*

Śyāma is black or green.

Different conventions for Green: Green Bangles are offered to goddess and are also worn by a bride, which shows auspiciousness. (The Keys of Power)

Another convention of green is: Greens, vegetables, a kind of fragrant plant. (Monier Williams) which are part of nature.

2. Hāsya Rasa- Comic

From the Dominant emotion oflaughter (*Hāsa*)

Associated color- *Sita*

Synonyms for the word *Sita* are:

शुचि-स्मित a. having a sweet or pleasant smile; *शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा* (Ku.5.2; R.8.49.)

विशद- Calm, free from anxiety, at ease; *जातो ममायं विशदः प्रकामम् (अन्तरात्मा)* (Ś.4.22; V.3.)

विशद-. calm, easy, cheerful (as the mind, the eye, a smile) (Ka1lid).

Different conventions: White is considered auspicious. White clothes are pure to Hindus.

But it is also associated to funeral. (The Keys of

Power)

Here we see different convetions which are very different from each other.

3. Karuṇa Rasa- Pathetic

Dominant State of Sorrow (*Śoka*)

Associated color- *Kapota*

कपोत m. the grey colour of a pigeon Sus3r. ii,280,1

Synonyms of the word Kapota are:

1] *धूसर* [dhūsara], Of a dusty, greyish or dusky-white colour, grey; *शशी दिवसधूसरः* Bh.2.56; Ku.4.4,46; R.5.42;16.17; Śi.17.41.

The grey colour.

2] *ईषत्पाण्डु*- A pale orlight brown color. *ईषत्*-alittle, and *पाण्डु*-pale, which means alittle pale.

4. Raudra Rasa- Furious

Dominant State of Anger (*Krodh*)

Associated color- *Rakta*

Meanings of *Rakta: Kuṅkuma, f*ond of, attached to, affected withlove or interest towards any object*, p*ure, purified, passionate, pleasant, charming*,* vermilion, blood.

lohita a synonym of the *Rakta,* also means- War, battle, A women red with anger. It is also attributed to Rajas (Bhāgvat- 11.23.44): Rajas dominant person is passionate and eager to perform action.

Another synonym is *Kśtaj*- which means blood and a wound produced.

Different conventions Red (The Keys of Power):

Red is directly associated with Śakti by Hindus.

The Akśat showered on the bride and groom is red.

The Mantrākśat given by *Swāmis* to their devotees as a blessing is always colored red.

Ever- recurring color in marriage.

The *Tulsi Vrindāvan* is red.

5. Veera- Rasa-Heroic

Energy (*Utsāh*)Associated color-*Gaura*

Gaura has different meanings:

1) White*; कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः R.2.35; द्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य Me.59,52; Ṛs.1.6.*

2) Yellowish, pale-red*; गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे Ku.7.17; R.6.65; गौराङ्गि गर्वं न कदापि कुर्याः R. G.*

3) Reddish*; तेजोभिः कनकनिकाषराजिगौरैः Ki.7.6.*

4)Shining, brilliant.

5) Pure, clean, beautiful.

6) White mustard.

The adjectiveslike- shinning, brilliant, pure can be related to the heroic way.

6. Bhayānak Rasa- Terrible

Dominant State of Fear (*Bhaya*)

Associated color- *Kṛśṇa*

Kṛśṇa is Black or dark blue.

1)Black, the colour, or dark blue, which is often confounded with it by the Hindus.

2) Wicked, evil*; मनो गुणान्वै सृजते बलीयस्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।*

शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥ Bhāgvat- 11.23.44.

3) An inauspicious act.

A few synonyms of the word *Kṛśṇa* are:

1) नील - Darkness

2) असित The dark or blue colour ;*the dark fortnight oflunar month*.

3) काला- A row of black clouds.

The adjectives suggest something wrong, bad, dangerous. Thus, fear depiction becomes more relatable when black color is associated. For example, to create the fear of ghost amongst the audience darkness is always presented.

7. Bibhatsa Rasa-Odious

Dominant State of Disgust (*Jugupsā*)

Associated color-*Nīla*

Nīla of dark color, especially dark-blue or dark-green or black.

8. Adhbuta Rasa- Marvelous

Dominant State of Astonishment (*Vismaya*)

Associated color- *Pīta*.

Pīta states yellow colour.

अवदात, a synonym of the word *Pīta* means*:* bl*a*me*l*ess*,* exce*ll*ent*,* of white sp*l*endour*,* dazz*l*ing white

Different conventions for yellow: Yellow things are chosen to avert evil.

Turmeric (yellow) is used to cure many diseases. (The

Keys of Power)

Different conventions of *Pīta* and its different synonyms also suggest different meanings.

➢ With time, understanding and cultural effect the conventions differ.

The Erotic Sentiment that precedes from the Dominance oflove is associated with the *Śyāma* color. Whereas, Rakta means: attached, passionate, affected withlove andlohita, a synonym of the Rakta, also means- War, battle.

Apart from Cultureliterature also plays an important role that with the popularization they are made the part oflife for example: In the 13th CE, a French poem called *Roman dela Rose* (The Romance of the Rose). Rose is portrayed as the symbol oflove.

Red in the Natyashastra is associated to the Dominance of Anger, which is a common in Modern times, but associates different color to the Dominance oflove.

Red is a primary color categorized under warm color. Whereas,light- green is formed by mixing of yellow and blue, as it is a secondary color. But on the basis of Origin of the sentiment, both the sentiments are stated original and are not originated from each other. Thus, these sentiments do not overlap each other.

Red is a warm color whereas, green is a cool color. Therefore, the changed conventions are evidently seen as they fall under different categories and are imparted differently on the observer.

A word has various synonyms which have different shades. The one which get popularized due to culture, tradition,literature etc., their association becomes the symbol of that color. The gap of these conventions widens

because of change inlanguages as well as Red when in Sanskrit has so many synonyms but the when we translate into English it is Red for all the synonyms.

Reference texts:-

1. Bharat Muni; *Nātyaśāstra*
2. Translated into English by Manmohan Ghosh (1951); The *Nātyaśāstra*
3. Abbott, J (1932); The Keys of Power
4. Hastings, James, 1852-1922; Selbie, John Alexander, 1865-1931; Gray,louis H. (louis Herbert), 1875-1955; Encyclopaedia of Religion and Ethics

Other References:-

1. Amarsimha; The *Amarkosh*
2. Sri Taranatha Tarkavachaspati (1873); *Vācaspatam* A Comprehensive Sanskrit Dictionary.
3. Vaman Shivram Apte (1890), The Practical Sanskrit English Dictionary

भाषा संस्कृति की भारतीय एवं वैश्विक दृष्टि

Smt. Mohini. B. Kashid
Sahakar Maharshi Bhausaheb Santuji Thorat
College of Arts, Science & Commerce,Sangamner - 422 605

प्रस्तावना:-

भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य बोलकर, सुनकर, लिखकर व पढकर अपने मन के भावों या विचारों का आदान-प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में देखा जाए तो जिसके द्वारा हम अपने भावों को लिखित अथवा कथित रूप से दूसरों को समझा सके और दूसरों के भावों को समझ सके उसे भाषा कहते हैं। सार्थक शब्दों के समूह या संकेत को हम भाषा कहते हैं। भाषा शब्द संस्कृत के 'भाष्' धातु से बना है जिसका अर्थ बोलना या कहना है। संस्कृत भाषा सभी भाषाओं की जननी कही जाती है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' यह वाक्य संस्कृत भाषा की ही देन है।

विषय की प्रासंगिकता:-

भाषा संस्कृति की अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग है उसके मूल्य, विश्वास और रीति रिवाज को संप्रेषित करने के साधन के रूप में इसका एक महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य है और यह समूह की पहचान और एकजुट की भावनाओं को बढ़ावा देता है। यह वह साधन है जिसके द्वारा संस्कृति और इसकी परंपराओं और साझा मूल्यों को संप्रेषित और संरक्षित किया जा सकता है । हम जो भाषा बोलते हैं, वह हमारी सांस्कृतिक पहचान और हमारी सामाजिक गरिमा को प्रभावित करती है। संस्कृत कई भाषाओं की जननी है, कई भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत से ही अधिकांश शब्दावली ले गई है जो बहुत प्रभावित है अगर भारत में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन से भारतीय भाषाओं में अधिकाधिक एकरूपता आएगी

तो भारतीय एकता अधिक बलवती हो सकती है।

शोध पद्धतिः- साहित्य, सामग्री, द्वारा वर्णनात्मक संशोधन पद्धति से शोध कार्य पूर्ण करना।

भारतीय संस्कृत साहित्य में मानव अधिकारों का दृष्टिक्षेप :-

1)कवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् में लोकतंत्र अधिकारः-

महाकवि कालिदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में जब माता गौतमी गर्भवती शकुन्तला को वन से नगर में अर्ध-रात्रि के समय राजा दुष्यंत के महल के बाहर ले कर पहुँचती है तो महल के बाहर खड़े प्रतिहारी से पूछती है कि, "क्या यही राजा दुष्यंत का महल है ?" उत्तर में हाँ सुनने पर वो सामान्य वनवासिनी महिला फिर पूछती है कि, "क्या मैं इस समय राजा से मिल सकती हूँ ? " इस पर सहज भाव से व्यवस्था का सब से लघु सदस्य द्वारपाल उसे सूचित करता है कि-

"अविश्रमोयम लोकतंत्रस्य सर्वाधिकारः"- अभिज्ञान शाकुंतलम्

अर्थात् यह आप का नियमित लोकतान्त्रिक अधिकार है कि आप अपने राजा से किसी भी समय मिल सकते हैं ! इससे यह सिद्ध होता है कि लोकतंत्र की नींव सबसे पहले भारत में ही रखी गई !

2)कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजनीति शास्त्रः-

अर्थशास्त्र में समसामयिक राजनीति, अर्थनीति, विधि, समाजनीति, तथा धर्मादि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस विषय के जितने ग्रंथ अभी तक उपलब्ध हैं उनमें से वास्तविक जीवन का चित्रण करने के कारण यह सबसे अधिक मूल्यवान है। इस शास्त्र के प्रकाश में न केवल धर्म, अर्थ और काम का प्रणयन और पालन होता है अपितु अधर्म, अनर्थ तथा अवांछनीय का शमन भी होता है। यह प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ है, इसके रचनाकार का व्यक्तिनाम विष्णुगुप्त, गोत्रनाम कौटिल्य

('कुटिल' से व्युत्पत्न) और स्थानीय नाम चाणक्य (पिता का नाम 'चणक' होने से) था।

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।

अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदंकृतम् ॥

इस ग्रंथ की रचना उन आचार्य ने की जिन्होंने अन्याय तथा कुशासन से क्रुद्ध होकर नन्दों के हाथ में गए हुए शस्त्र, शास्त्र एवं पृथ्वी का शीघ्रता से उद्धार किया था। (अर्थशास्त्र, 15.431)

इस प्रकार मानव जन कल्याण का सदैव हित होने की इच्छा से संस्कृत साहित्य में सकारात्मक दृष्टिकोन से अनेक महत्त्वपूर्ण बाते बताई गई है।

संस्कृत भाषा विश्व के सबसे ऊंचाई पर विराजमान है, क्योंकि उसने पूरी दुनिया को अपनी दिव्य प्रभावी ज्ञान रूप प्रकाश से कृत-कृत्य किया है। आज भी हमें इस बात पर गर्व है क्योंकि वह केवल हमारी अन्य भाषाओं की जननी ही नहीं है तो वह हमारे संस्कारों की भी जननी है, यह केवल भाषा ही नहीं हजारों सालों से हमारी मार्गदर्शक भी रही है और हम सबके लिए अफसोस की बात यह है कि हमारी दिव्यवाणी को अपने अस्तित्व को लेकर झुँझना पड़ रहा है।

विश्व की दृष्टि से संस्कृत भाषा का महत्वः-

1)सांस्कृतिक प्रतिभा : -

संस्कृत का एक समृद्ध इतिहास और परंपरा है, और यह भारत और व्यापक दुनिया की सांस्कृतिक विरासत का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसका उपयोग भारतीय साहित्य और दर्शन के कुछ महान कार्यों के निर्माण के लिए किया गया है, और इसका क्षेत्र की संस्कृति और सभ्यता पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

2)भाषाई जटिलता :-

संस्कृत व्याकरण और वाक्य-विन्यास की अत्यधिक विकसित प्रणाली के लिए जानी जाती है, जो विचारों की अभिव्यक्ति में उच्च स्तर की सटीकता का परिचय देती है। यह अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों के लिए कई विशिष्ट शर्तों के साथ अपनी विशाल शब्दावली के लिए भी जाना जाता है।इसलिए, संस्कृत का अध्ययन भाषाविज्ञान और भाषा अध्ययन में एक महत्वपूर्ण आधार माना जाता है।

3)धार्मिक और आध्यात्मिक महत्व : -

हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म में मंत्रों और भजनों के पाठ सहित कई धार्मिक और आध्यात्मिक प्रथाओं में संस्कृत का उपयोग किया जाता है। इसे कई लोगों द्वारा एक पवित्र भाषा माना जाता है, और यह माना जाता है कि इसकी एक विशेष शक्ति और महत्व है।

4)अकादमिक अध्ययन : -

भाषा विज्ञान, इतिहास, दर्शन और धार्मिक अध्ययन सहित कई क्षेत्रों विद्वानों और शोधकर्ताओं द्वारा अभी भी संस्कृत का अध्ययन और उपयोग किया जाता है। यह भारत और दुनिया भर के स्कूलों और विश्वविद्यालयों में भी पढ़ायी जाती है।

5)अंतर्राष्ट्रीय रुचि :-

आधुनिक दौर में संस्कृत के अध्ययन में रुचि और ध्यान बढ़ रहा है, क्योंकि दुनिया भर के लोग भाषा और इसके सांस्कृतिक महत्व में अधिक रुचि रखते हैं। इसने संस्कृत बोलने वालों और उत्साही लोगों के बढ़ते समुदाय को जन्म दिया है, जो भाषा को संरक्षित और बढ़ावा देने के लिए काम कर रहे हैं।

शोध परिणाम:-

हमको सदैव यह प्रयास करना चाहिए की संस्कृत भाषा को भारत के एकता सूत्र में बांधकर रखें। संस्कृत का साहित्य अत्यंत प्राचीन विशाल और विविधतापूर्ण है इसमें अध्यात्म- दर्शन ज्ञान,विज्ञान और साहित्य का खजाना है इसके अध्ययन से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति को बढ़ावा देना चाहिए। संस्कृत को खोने का मतलब है भारत का अतीत खोना,अपनी अस्मिता खोना और अकूत ज्ञान राशि से हाथ धो बैठना। संस्कृत की ज्ञान-राशि की यह विशेषता है कि उसमें अद्भुत किस्म की बहुलता है और विचारों का प्रजातंत्र है जिसमें विविधता का आदर और स्वीकार है।' हमें यह याद रखना चाहिए कि भाषा केवल अक्षर और शब्द भंडार की यांत्रिक व्यवस्था नहीं होती है। यह अपने साथ बहुत सारे विचार भी लाती है, दुनिया को देखने का एक नजरिया भी देती है और एक वैकल्पिक विश्व भी रचती है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची:-

1. अभिज्ञान शाकुंतलम्
2. कौटिल्य अर्थशास्त्र-15.431
3. भारतीय संस्कृती एवम संस्कृत.

बौद्ध संस्कृत साहित्य में सांस्कृतिक संचेतना

डॉ. नीलम
असि0 प्रोफेसर (संस्कृत)
बी0डी0एम0म्यू0 कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
शिकोहाबाद, जिला– फिरोजाबाद।

भग्नं मारबलं येन निर्जितं भवपंजरम्।

निर्वाणपदमारूढं तं बुद्धं प्रणाम्यहम्।।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी संपूर्ण विश्व में आध्यात्मिक, सांस्कृतिक जागृति एवं वैचारिक क्रान्ति के लिए सुप्रसिद्ध है। यह वही समय था जब यूनान में पाइथागोरस, सुकरात व अफलातून, ईरान में जरथुस्त्र का, चीन में कन्फ्यूषियस और लाओत्से का तथा भारत में महात्मा बुद्ध व महावीरस्वामी का प्रादुर्भाव हुआ। इन सभी दार्षनिकों व विचारकों ने अपने–अपने भू–प्रदेष में जनमानस को आध्यात्मिक व सांस्कृतिक चेतना से उद्वेलित किया। संपूर्ण विश्व को अपने विचारों से नया मार्ग (मध्यम–मार्ग) दिखाने वाले महात्मा बुद्ध भारत की सांस्कृतिक विरासत के अमूल्य धरोहर हैं। भारतीय संस्कृति की अभिवृद्धि एवं भारतीय संस्कृति के विविध क्षेत्रों में बौद्ध संस्कृत साहित्य का योगदान भी अविस्मरणीय है।

महात्मा बुद्ध इस पुण्यधरा पर एक ऐसे आध्यात्मिक गुरू के रूप में अवतरित हुए हैं जिन्होंने एक तरफ जहां ब्रह्मविहार की भावना से मानव, समुदाय व राष्ट्र के मध्य संघर्ष एवं ईर्ष्याद्वेष पूर्ण विचार को हटाकर समन्वय, सहयोग, सामंजसय व सद्भाव के मार्ग को प्रशस्त किया वहीं दूसरी तरफ पंचषील सिद्वान्त के माध्यम से संपूर्ण विश्व को शांति, करूणा व सहिष्णुता के पथ पर चलने के लिए प्रेरित किया। वस्तुतः बौद्ध साहित्य हमारे देश के इतिहास एव संस्कृति का गौरव है और हम प्रबलतापूर्वक कह सकते हैं कि आज भी राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जीवन में सुख, शांति और समृद्धि देने के लिए स्पृहणीय है–

अनिच्चा वतसङ्खारा उप्पाद वय धम्मिनो।

उपज्जित्वा निरुझन्ति तेषं बूप्समोसुखो ति।।(1)

गृहत्याग से महापरिनिर्वाण पर्यन्त भगवान बुद्ध आलस्य रहित होकर लोक तापों से संतप्त जनों को घर–घर औषधि वितरित करते

रहे। इतने महान कार्य कुशल और लोक हितैषी महापुरूष संसार में बहुत कम अवतरित होते हैं। ऐसे महापुरूष की कीर्ति, ख्याति व प्रसिद्धि एक युग तकसीमित नहीं रहती अपितु उनका लोकहितकारी चिंतन त्रैकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वदेशिक होता है एवं युग–युगान्तर तक समाज व राष्ट्र का पथ प्रदर्षित करता है। भगवान बुद्ध भी हमारे समाज व राष्ट्र के ऐसे ही प्रकाश स्तंभ हैं जो अपने जीवन की अन्तिम घड़ी तक महर्षि मनु के संदेश मनुर्भवः अर्थात् पुरूष को पुरूष बनने के लिए उपदेष देते रहे। यही संदेष विश्व के ज्ञान ग्रंथ ऋग्वेद में भी स्पष्टतया परिलक्षित है–

तन्तु तन्वन्जसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्षधिया कृतान।

अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैत्यं जनम्।।(2)

बौद्ध स्सकृत ग्रंथों में मैत्री, करूणा, अहिंसा, सर्वजन हितैषिता पदे–पदे दृग्गोचर होती है। भगवान बुद्ध ने अपने अनुयाइयों को बार–बार मैत्री का अभ्यास करते रहने कासंदेष दिया है। भगवान बुद्ध ने मैत्री उस प्रेम भरी दया की संपूर्णता को कहा है जो सेवार्थ पूर्ण प्रेम के माधुर्य से रहित रहती है। सुत्तनिपात के मैत्रीसूक्त में कहा गया है– जैसे माँ अपने लिए जान का खतरा लेकर भी अपने इकलौते पुत्र को संरक्षण प्रदान करती है, उसी प्रकार आदमी को चाहिए कि वह सभी प्राणियों के प्रति अभ्यास करें–

माता यथा नियं पुत्तं आयुसाएकपुत्त मनुरक्खे।

एवं पिसम्बभूतेषु मानसं भावये अपरिमाणम्।।(3)

सुत्तनिपात के साधुसुत्त में बुद्ध द्वारा दान की महत्ता का प्रतिपादन भी सांस्कृतिकसंचेतना को प्रतिविम्बित कर रहा है। इस सुत्त में देवताओं द्वारा कहा जाता है कि भगवन्। दानकर्म बहुत उत्तम है धर्म से कमाये गये धन का दान उत्तम है।(4) देवताओं के इस कथन को बुद्ध द्वारा समर्थन प्राप्त होता है। वे समाज में धन का उपयोग दान देने में मानते हैं। धन मनुष्य के लिए मुख्य नहीं है अपितु उसका उचित उपयोग मुख्य है। कंजूसी करने वाला सदैव भयभीत रहता है व जीवन में सदैव निष्फल रहता है।(5) मेण्ढकावदान में भी दान और उसके फल की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है जिसमें बताया गया है कि प्रत्येक बुद्ध के लिए पिण्डदान देने का फल इतनी जल्दी मिलता है जिससे गृहपति परिवार के सभी मनोरथ उसी दिन पूर्ण हो जाते हैं। राजा ब्रह्मदत्त दान की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं–

अहोगुणमयं क्षेत्रंसर्वदोष विवर्जितम्।

यत्रोप्तं बीजमसैव असैव फलदायकम्।।(6)

अतिथि देवो भवः का उद्घोष भी बौद्ध ग्रंथों में पूर्णतया परिलक्षित है। दिव्यावदान में प्रत्येक बुद्ध के ऋषि के रूप में आगमन का राजा श्रद्धा पूर्वक स्वागत करता है और उन्हें निर्दिष्ट आसन पर बैठने का अनुरोध करता है– **ऋषि रेषोऽसमाकमनु कम्पयेहगच्छति**(7) रूद्रायणावदान में राजा बिम्बसार रूद्रायण के आगमन का समाचार सुनकर उनके आतिथ्य के विषय में विचार करते हैं–

न मम प्रतिरूपंसयासदहं राजानं क्षत्रियं मूर्धा भिषिक्तमेवयेव प्रवेषयेयम्। महतासत्कारेण प्रवेषयामीति।।(8) साथ ही अतिथि निरादर को अनुचित बताते हुए भी कहा है – **गृहपते, त्वामुदिदष्याहमिहागतः त्वं च द्वारं बद्धवा सिथतः। युक्तमेतदेवमतिथेः प्रतिपत्तु यथा त्वं प्रतिपन्न इति।।**(9)

तथागत बुद्ध ने वर्ण एवं जाति–विहीन समाज की स्थापना करने का प्रयास कर समाज व्यवसथा को सुदृढ़ व सुंदर रूप में परिवर्तित करने हेतु भी महत्वपूर्ण कार्य किया। इस सम्बन्ध में तथागत ने कहा कि– जिस तरह गंगा, जमुना, घाघरा आदि अनेक नदियां समुद्र में मिलने पर एक समान हो जाती हैं उनमें कोई अन्तर नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्ग बौद्ध संघ में प्रवेष पाने पर संघ रूप हो जाते हैं।(10) जातिवाद से ऊपर उठकर कर्मवाद को बौद्ध साहित्य में प्रधानता दी गई। बुद्ध ने कहा था कि जन्म से कोई भी ब्राह्मण अथवा शूद्र नहीं होता वह तो कर्म से होता है –

न जच्चा बसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।

कम्मुना बसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणों ति।।(11)

इसी संदर्भ में बुद्ध का यह उपदेश भी प्रासंगिक है कि– जो जल में विचरण करता है वह मत्स्य है, जो पंख की सवारी पर विचरण करता है वह विहंगम अथवा पक्षी है। जिस प्रकार इन जातियों में भिन्न–भिन्न जातिमय लक्षण नहीं है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी भिन्न–भिन्न जातिमय लक्षण नहीं है–

यथाएतासु जातीसु लिङ्गं जातिमयं पुथु।

एवं नत्थि मनुससेसु, लिङ्गं जातिमयं पुथु।।(12)

समाज में मनुष्य के व्यक्तित्व उत्थान हेतु विभिन्न संस्कारों का समायोजन भी बौद्ध साहित्य में प्राप्य है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य का

जीवन संस्कारों पर निर्भर करता था। ये मानव के आध्यात्मिक, शारीरिक और मानसिक शुद्धि के साथ ही साथ आदर्ष व भावी जीवन को श्रेष्ठता प्रदान करते थे। व्यक्ति के जीवन को क्रमषः उन्नत बनाने के लिए किये जाने वाले परिवर्तनों को बौद्ध साहित्य में संस्कार कहा गया है।(13) प्रवज्या एवं उपसम्पदा बौद्धों का महत्वपूर्ण संस्कार था जिसमें मूँछ, सिर व दाढ़ी को मुड़ाकर कषाय वस्त्र धारण किये जाते थे।(14)

संस्कृत बौद्धसाहित्य में व्यक्ति व समाज के उत्थान में परिवार को समाज की मूल प्रतिष्ठा बताया गया है। परिवार में रहकर मनुष्य पुरूषार्थ के धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों उद्देष्यों की पूर्ति करता था। महावस्तु में महापरिवार, आश्रम परिवार, अनुरक्त परिवार और अभेस परिवार का उल्लेख प्राप्त होता है।(15)संस्कृत बौद्ध साहित्य में पारिवारिक जीवनसंयुक्त परिवार का जीवन था। जिसमें परिवार के सभी सदस्य प्रेम पूर्वक सुखी जीवन व्यतीत करते थे।

मानव जीवन को समग्रता पूर्वक व्यवसिथत रूप प्रदान करने के लिए और आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उसे आश्रमों में विभाजित करने का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में समुचित रूप से प्राप्य है। ब्राह्मण संस्कृति में ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों का उल्लेख मिलता है किंतु संस्कृत बौद्धसाहित्य में वानप्रस्थ के अतिरिक्त समस्त आश्रमों का उल्लेख मिलता है।

समरससमाज स्थापित करने के उद्देश्य प्रस्तुत तर्क भी यहां उल्लेखनीय है कि– जिस प्रकार राजा या दरबारी को सारा राजस्व अपने लिए नहीं रखना चाहिए, उसी प्रकार ब्राह्मणों और श्रमणों को ज्ञान का सर्वाधिकार नहीं जमाना चाहिए। बौद्ध विचारों के अनुसार किसी भी जाति का कोई व्यक्ति शिक्षक बन सकता है और शिक्षक चाहे शूद्र व चण्डाल हो वह हमेसा ासम्मान का हकदार होता है।(16)

यत्र नार्यसतु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः के उद्घोष को भी पूर्णतया चरितार्थ करते हुए बुद्ध ने समाज में नारी को ज्ञानी, मातृत्वशील, सृजनात्मक, भद्र व सहिष्णु के रूप में स्वीकार किया है। तत्कालीन समय में बुद्ध के संघ में कई ऐसी महिलाएं थी जो मानसिक एवं दैहिक दुःखों से पूर्ण मुक्त होकर अर्हत् बनी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण प्राप्य हैं कि महिलाएं कर्ता एवं शिक्षक के रूप में सम्मान जनक स्थान प्राप्त किए हुए थी।

निष्कर्षतः बौद्ध धर्म का अभ्युदय और उसका विश्वव्यापी प्रचार भारतीय संस्कृति के लिए जीवनदायी सिद्ध हुआ। इस धर्म ने भारतीय जीवन में अहिंसा, दया, परोपकार, सहिष्णुता, नैतिकता, विश्व बंधुत्व, मानवकल्याण आदि सांस्कृतिक आदर्शों के साथ ही जाति–प्रथा का विरोध कर मानवतावादी धारणाओं का प्रचार किया। यही नहीं सांस्कृतिक दृष्टि से बौद्ध धर्म ने शक, पर्थियन, कुषाण आदि विदेषी आक्रमणकारियों को भारतीय संसकृति में आकण्ठ निमग्न किया इस धर्म के प्रचार के साथ चीन, जापान, लंका, वर्मा आदि देशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार व प्रसार हुआ। आज के विषम युग में भी बुद्ध के आदर्ष नैतिकता, विष्वबंधुत्व, विश्व–शांति और मानववाद का प्रचार करने की पूर्ण क्षमता रखते हैं।

संदर्भ–ग्रंथ–सूची

1. महापरिनिब्बानसुत्त पृ. 176
2. ऋग्वेद – 10/53/06
3. सुत्तनिपात मेत्तसुत्त पृ. 31
4. संयुक्त निकाय,साधुसुत्त पृ. 22
5. संयुक्त निकाय, मच्छरीसुत्त पृ. 20
6. दि0 अव0 पृ. 34/10
7. वही पृ. 182/20
8. वही पृ. 472/37
9. वही पृ. 79/9, 80/9
10. खुद्दक निकाय –सोणसुत्त पृ. 57
11. सुत्तनिपात, वसलसुत्त गाथा–27
12. सुत्तनिपात 3/9/206 पृ. 364
13. अवदान 2/25/2 पृ. 171
14. जातक अट्ण्कथा भाग–1, पृ. 123, 135
15. महावसतु भाग 2, 2/1–2
16. प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म, पृ. 133

बङ्किमसाहित्ये संस्कृतं, संस्कृतिः, राष्ट्रियता वैश्विकता च

Dr. Pranab Kumar Bar
Assistant Professor in Sanskrit
Ghatal Rabindra Satabarshiki Mahavidyalaya(UG & PG) Affiliated from Vidyasagar University, Ghatal, Pashchim Medinipur, West Bengal

मंगलाचरणम् -

रत्नाकरधौतपदां हिमालयकिरीटिनीम्।

ब्रह्मराजर्षिरत्नाढ्यां वन्दे भारतमातम्॥

बन्दे मातरम्।

किमर्थं बङ्गसाहित्यिकस्य वङ्किमचन्द्रचट्टोपाध्यायस्य साहित्यम् आलोच्यमिति प्रश्ने सति-वक्तव्यं भारतीयराष्ट्रियतायाः मन्त्रस्य उद्गाता, व्यक्तेः अन्तः परमेश्वरस्य अनुभवः, तथैव व्यक्त-समाज-राष्ट्र-विश्वचराचरे परमात्मनः महामायायाः च अनुभवस्य दर्शनं कारयति सः अतः वैश्विकशान्तिसौभ्रातृत्वस्य साधनार्थं बङ्किमसाहित्यस्य चर्चा एव परमपाथेयस्वरूपा।

वर्तमानपरिप्रेक्षः-

समग्रं जगत् नित्यं युद्ध-मारी-क्षोभानां प्रवाहेण प्लावितं वर्तते। किन्तु यथा तमः अस्ति तथैव प्रकाशः अपि अस्ति। अस्मिन् अन्धकारव्याकुलकाले अस्माकं देशस्य गमनमार्गः नित्यप्रकाशमार्गे अस्ति। अस्मिन् प्रकाशमार्गे सहयात्रिकैः सह अस्माकं देशस्य नित्ययात्रा। अस्मिन्नावहे अस्माकं मातृभूमिः कर्मभूमिः मोक्षभूमिः

जन्मभूमिः भारतवर्षं नूतनसूर्योदयवत् उदेति।

अतीतभारतम्:-

वर्षसहस्राणि यावत् देशोयम् विदेशीयपर्यटकानाम् कृते सुवर्णपक्षी (सोने की चिडिया) इति आसीत्। सनातनं भारतम् चिरात् शान्तिसुखोत्कर्षतायाः मार्गं प्रदर्शयत् अस्ति। यः देशः अद्यावधि राज्यविस्तारार्थं युद्धाय शस्त्राणि ग्रहीत्वा स्वदेशसीमां न लङ्घितवान्, अपितु समग्रं जगत् दयाकरुणाहिंसाशान्तिप्रज्ञानां जैविकं पारमार्थिकं च उत्कृष्टतां शिक्षितवान्। परन्तु हा हन्त! सः उज्ज्वलः सूर्यः गतशताब्दीनां क्षयस्य पतनस्य वा परिणामेन पराधीनतायाः लुण्ठनस्य च ग्रहणदशायां पीडितः आसीत्।

वैदेशिकाक्रमणात् अतिलुण्ठनेन च जातम् अस्य देशस्य दुःखम्-

सः इतिहासः अस्माकं कृते सुप्रसिद्धः अस्ति। गौरीधर्मपालस्य 'द्य ब्यूटीफुल् ट्री'(The Beautiful Tree) इति पुस्तके तस्य उल्लेखः अस्ति। ऋषिः बङ्किमः तस्य साहित्ये बङ्गदेशे "षड्वप्ततेः मन्वन्तरम्" इति कुख्यातमहामारेः[1] विवरणं कृतवान्। आनन्दमठात् उदाह्रीयते-

"लोके प्रथमे ভিক্ষা করিতে আরম্ভ করিল, তার পরে কে ভিক্ষা দেয়! - উপবাস করিতে আরম্ভ করিল। তার পরে রোগাক্রান্ত হইতে লাগিল। গোরু বেচিল, লাঙ্গল, জোয়াল বেচিল, বীজধান খাইয়া ফেলিল, ঘরবাড়ী বেচিল। জোত জমা বেচিল। তার পর মেয়ে বেচিতে আরম্ভ করিল। তার পর ছেলে বেচিতে আরম্ভ করিল। তার পর স্ত্রী বেচিতে আরম্ভ করিল। তার পর

[1]epidemics

মেয়ে, ছেলে, স্ত্রী কে কিনে? খরিদ্দার নাই, সকলেই বেচিতে চায়। খাদ্যাভাবে গাছের পাতা খাইতে লাগিল, ঘাস খাইতে আরম্ভ করিল, আগাছা খাইতে লাগিল। ইতর ও বন্যেরা কুক্কুর, ইন্দুর, বিড়াল খাইতে লাগিল। অনেকে পলাইল, যাহারা পলাইল, তাহারা বিদেশে গিয়া অনাহারে মরিল। যাহারা পলাইল না, তাহারা অখাদ্য খাইয়া, না খাইয়া, রোগে পড়িয়া প্রাণত্যাগ করিতে লাগিল।" [1]

एतस्य शिवचरणशर्माकृतसंस्कृतानुवादं पश्यामः तावत्-

"जनाः भिक्षायाचनं प्रारब्धवन्तः, परन्तु भिक्षां कः वा दद्यात्? उपवासः समारब्धः। जनता रोगग्रस्ता अभवत्। ग्रामाः निर्जनाः अभवन्। पशवः अपि बुभुक्षया व्याकुलाः आसन्। धान्यस्य अभावे जनाः वृक्षाणां पत्राणि अभक्षयन्। निम्नवर्गीयाः जनाः कुक्कुरान् मार्जारीः मूषकान् चापि भक्षितवन्तः। ये पलायिताः ते अन्यदेशं गत्वा बुभुक्षया व्याकुलाः अभवन्। ये न पलायिताः ते तत्र एव विनाशोन्मुखाः अभवन्। ज्वर-विसूचिका-क्षय-शीतलाज्वरादयः रोगाः प्रसृताः। शीतलाज्वरस्य महान् प्रकोपः आसीत् जनाः महामार्या मरणोन्मुखाः अभवन्। कश्चित् कस्यचित् चिकित्सां कर्तुं न अशक्नोत्। जनेषु मृतेषु सत्सु शवानाम् आहरणाय कश्चित् अपि न आसीत्। शीर्यमाणेभ्यः शवेभ्यः दुर्गन्धस्य प्रसारः भवति स्म। येषु गृहेषु शीतलाज्वरः प्रसृतः तेषां गृहाणां निवासिनः जनाः रोगिणः त्यक्त्वा पलायनम् अकुर्वन्।"[2]

---

[1]आनंदमठ, बंकिम रचनावली (उपन्याससमग्र), शुभम्, कोलकाता, 2009, प्रथम खण्डः, पृ-1

[2]आनंद मठ, शिवचरण शर्मा, संस्कृत भारती, नई दिल्ली, 2011, पृ-2

राष्ट्रत्वेन भारतस्य शक्तिकेन्द्रम्-

राष्ट्रत्वेन भारतस्य शक्तेराधारः तस्य आध्यात्मिकता ऋषिपरम्परा पारमार्थिकानुभवः च। वर्तमाने भारतेन ऋषिभिः निर्धारितः मार्गः अनुसर्तुम् आरब्धः-

विश्वगुरौ के गुणाः शक्तयः वा अपेक्षिताः? इति पृच्छायाम्-

काश्चन शक्तयः सुदीर्घकालात् सम्पूर्णे जगति प्रसारिताः सन्ति। सैन्यशक्तिः, धनशक्तिः, जनशक्तिः, विज्ञानप्रौद्योगिकीशक्तिः, उपासनापद्धतिगता साम्प्रदायिकशक्तिः, कमिउनिजमितिवादस्य राजनैतिकशक्तिः, कट्टरराष्ट्रवादः - एतेषां प्रयासः कृतः असफलः च।

विश्वगुरुत्वेनापेक्षिता-

सा शक्तिः- न केवलं **सैन्यशक्तिः**। राक्षसानां, दानवानां, पशूनां चापि सा शक्तिः भवति। अतः न सा शक्तिः।

सा शक्तिः- न केवलं **आर्थिकशक्तिः**। चौर-लुण्ठक-तस्करादीनामपि धनशक्तिः भवति।

सा शक्तिः - न केवलं **जनसंख्याशक्तिः**। जनसंख्याशक्तिः पशुषु अपि भवति किल। तदाधारितशक्तिः विश्वशक्तिः नास्ति इति चीनदेशः प्रमाणम्।

सा शक्तिः - न केवलं **प्रौद्योगिक-तान्त्रिकशक्तिः**। हिरोशिमा-नागासाकी-नगरयोः वयं दृष्टवन्तः यत् धर्मं नीतिं च विना प्रौद्योगिकीशक्तिः कथं भयंकरी भवितुम् अर्हति। भवतु नाम covid युगे अपि तस्य दर्शनं प्राप्तम्। अनेके अस्य प्रतिषेधकस्य निर्माणं, प्रसारणं, तस्य टीकाविक्रयणं च कृत्वा कोटि-कोटि-रूप्यकाणां लाभं

प्राप्तुं कुत्सित-षडयन्त्रस्य सम्भावनाविषये उक्तवन्तः।

सा शक्तिः - **पूजापद्धतिगतसाम्प्रदायिकशक्तिः** न। तस्याः शक्तेः भयावहता गतद्विसहस्रेषु वर्षेषु सर्वैः अवगता। मध्यप्राच्ये सा शक्तिः कीदृशी भयंकरी भवितुम् अर्हति इति अपि सर्वैः दृष्टम्। सम्प्रतिः दरीदृश्यते।

सा शक्तिः- **कमिउनिजमिति राजनैतिकवादः** अपि प्रायः न। अपरतः चीन-रूश-आदिषु कमिउनिजमिति वादस्य सामर्थ्यं वयं दृष्टवन्तः तेषां क्रूरतायाः, अक्षमतायाः, नरसंहारस्य इतिहासः। सा शक्तिः अपि जगतः मार्गदर्शनं कर्तुं असफलतां प्राप्तवती1

सा शक्तिः- **अत्यन्तं जात्याभिमानस्वरूपा** अपि न। अत्युग्रराष्ट्रवादस्य परिणतिः अपि फ्रान्स् जार्मान प्रभृतिषु देशेषु दृष्टा। तेषां दर्शितं हिंसात्मकरूपं क्रूररूपं अनिर्वचनीयम्।

तर्हि अस्मिन् समये जगतः मार्गदर्शनं कः कर्तुं शक्नोति? - अस्माकं ऋषिः तस्य उत्तरं दत्तवान् तस्य आनन्दमठे माता कथम् आसीत्-माता कीदृशः अभवत्-पुनः माता कथं भविष्यति! वर्तमाने भारतेन ऋषिबङ्किमविहितमार्गस्य अनुसरणम् आरब्धम् अस्ति इति भाति। सुप्रसिद्धप्राचीनशक्तेः कारणात् भारतं पुनः विश्वसभायाम् जगद्गुरोरासनं प्राप्स्यतीति मे विश्वासः। तेन भविष्यस्य स्वप्नाः अपि प्रदर्शिताः आनन्दमठे। यत्र देशमातृकायाः जगन्मातृत्वेन दशभूजादुर्गारूपेण उपस्थापनं कृतम्।

"त्वम् हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी"

प्राचीन भारते शक्तित्रयम्-

कौटिल्यस्य अर्थशास्त्रे शक्तयः तिस्र इति उल्लिखितम् - प्रभुशक्तिः-मित्रशक्तिः-मन्त्रशक्तिः चेति।

प्रभुशक्तिः- इत्युक्ते नेतृत्वशक्तिः, नेतृत्वकर्तृणां निष्कपटशक्तिः, अमात्य-मन्त्रिणः अन्तर्भवन्ति तत्र।

मित्रशक्तिः- मित्रता राष्ट्रात् बहिः अन्तः च सर्वत्र तिष्ठेत्, आन्तरिकं च भवेत्।

मन्त्रशक्तिः- प्रेरणा, दर्शनं, राष्ट्रतन्त्रगतमानसिकशक्तिः, प्रशासनिकचालकशक्तिः, रणनीतिज्ञानम्, तथा चिन्तनगतशक्तिः एव मन्त्रशक्तिरूपेण परिगणिताः भवेयुः। एतादृशी प्रेरकशक्तिः एव अन्येषां कृते प्रभावं जनयितुं शक्नुवन्ति। एतस्य विप्लवेनैव सराष्ट्र सप्रजा राजा निहतः भवति। स एव विप्लवः खलु मन्त्रविप्लवः इति उच्यते।[1]

बङ्किमचन्द्रचट्टोपाध्यायः प्रभुशक्तेः अंशः मन्त्रशक्तेः वाचकः च-

बङ्किमचन्द्रः पराधीनभारतस्य राजशक्तेः समाहर्तृरूपेण प्रभुशक्तेः **अंशः** आसीत् – स एव अस्मिन् देशे मन्त्रशक्तेः अग्रणी चिन्तकः अपि आसीत्। सः न केवलं दार्शनिकः, सः कविः क्रान्तप्रज्ञः कविरपि आसीत्। सः ऋषिः कविः युगद्रष्टा क्रान्तप्रज्ञः बङ्किमचन्द्रचट्टोपाध्यायः।

केवलं शास्त्रोपदेशस्य शासनं यः करोति सः शिक्षकः। आचरति सः आचार्यः। मनने निरतः सः मुनिः। ऋषिः शब्दार्थः प्राचीनकोषे–

[1]एकं विषरसं हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते। सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः।।

ज्ञानसंसारयोः पारगन्ता - सत्यवाक् - सत्यं धर्मं व्रुते- इति। ननु सः ज्ञानलोकं पारं प्राप्तुं समर्थः अभवत्। सः सत्यवादी आसीत्। पारमार्थिकं सत्यं कदापि न त्यक्तवान् सः।

बङ्किमचन्द्रः, राष्ट्रपुरुषस्य पारमार्थिककण्टकाकीर्णमार्गस्य पथिकः

तस्य साहित्यकार्यमार्गः कण्टकयुक्तः एवासीत्। तस्य स्वकीया साहित्यशैली बहुभिः न पच्यते स्म। मुक्ततया साहित्यसभायां विद्वत्समागमे समकालीनलेखकाः तस्य विरुद्धाः एव आसीत्। तथैव तस्य आलोचनाः नियमितरूपेण विविधपत्रेषु प्रकाशमानाः आसन्। सः प्रायः तस्मिन् विषये उदासीनः एव आसीत्। तेन केवलं एकस्य एव समालोचनायाः प्रत्युत्तरं प्रदत्तम् - एतदेव मम प्रथमा अन्तिमा च प्रतिक्रिया इत्यपि उक्तवानासीत् बङ्किमः। सः समालोचकः रवीन्द्रनाथः एवासीत्- .

अस्य पत्रस्य आरम्भे कथयति- .

"ইহা আমার পক্ষে কিছুই নুতন নহে৷ রবীন্দ্রবাবু যখন ক, খ, শিখেন নাই তাঁহার পূর্ব হইতে এরূপ সুখ-দুঃখ আমার কপালে অনেক ঘটিয়াছে৷ আমার বিরুদ্ধে কেহ তখন কোন কথা লিখিলে বা বক্তৃতায় বলিলে এ পর্যন্ত কোন উত্তর করি নাই৷ কখন উত্তর করিবার প্রয়োজন হয় নাই৷ এবার উত্তর করিবার একটু প্রয়োজন করিয়াছে৷ না করিলে যাহারা আমার কথায় বিশ্বাস করে, (এমন কেহ থাকিলে থাকিতে পারে) তাহাদের অনিষ্ট ঘটিবে৷"

"एतत् मम कृते किमपि नवीनं नास्ति। यदा रवीन्द्रबाबुः कं, खं न पठितवान् तदा तस्मात् पूर्वतः एव मम भाग्ये एतादृशानि सुखानि दुःखानि च बहु संघटितानि। मम विरुद्धे कोपि तदा किमपि

लिखितवान् उक्तवान् वा चेदपि एतावत्पर्यन्तम् अहम् किमपि प्रत्युत्तरं न कृतवान्। कदापि उत्तरं प्रदातुं आवश्यकता नानुभूता। सम्प्रतिः उत्तरं दातुं किञ्चित् प्रयोजनं दृश्यते। यदि तथा न करोमि तर्हि ये मम वचने विश्वासं कुर्वन्ति (तथा कोपि स्यात्) तेषां हानिः भविष्यति। "[1]

अन्ते च लिखितवान्-

"सत्यस्य माहात्म्यकीर्तनं कर्तुं केवलं मौखिकसत्यस्य प्रचारं कुर्वन्, आन्तरिकसत्याय उदासीनता, रवीन्द्र(बाबु)महोदयस्य यत्ने तथा न भवेत्, अहं तावदेव सावधानं कारयामि। अहं न वदामि यत् तथैव घटितं, परन्तु मार्गः अतीव स्खालकः अस्ति, अतः एव मया एतत् उक्तं, कृपया मां क्षमस्व। अहं तस्मिन् बहु विश्वसामि, अत एव अहम् अवदम्। एतावता अल्पवयसि अपि बङ्गस्य प्रदीप्तमणिः अस्ति सः— दीर्घं जीवतु, स्वप्रतिभया पर्याप्तं देशस्य समृद्धिं साधयतु" इति। [2]

"সত্যের মাহাত্ম্য কীর্তন করিতে গিয়া কেবল মৌখিক সত্যের প্রচার, আন্তরিক সত্যের প্রতি অপেক্ষাকৃত অমনোযোগ, রবীন্দ্রবাবুর যত্নে এমনটা না ঘটে, এইটুকু সাবধান করিয়া দিতেছি। ঘটিয়াছে এমন কথা বলিতেছি না, কিন্তু পথ বড় পিচ্ছিল, এজন্য এটুকু বলিলাম, মার্জনা করিবেন। তাঁহার কাছে অনেক ভরসা করি, এইজন্য বলিলাম। তিনি এত অল্প বয়সেও বাঙ্গালার উজ্জ্বল রত্ন—আশীর্বাদ করি, দীর্ঘজীবী হইয়া আপনার প্রতিভার উপযুক্ত পরিমাণে দেশের উন্নতি সাধন করুন।"

আধুনিকসাহিত্যস্য সন্দর্भে रवीन्द्रनाथठाकुरः "बङ्किमः" इति

---

[1]আদি ব্রাহ্ম সমাজ ও "নব হিন্দু সম্প্রদায়" - वङ्किमचन्द्रचट्टोपाध्यायः। — 'প্রচার', অগ্রহায়ণ ১২৯১, পৃ. ১৬৯-১৮৪।

[2] तदेव

शीर्षके निबन्धे लिखति-

"रचनायाः समालोचनायाश्च उभयकार्यभारं गृहीतवान् अतः एव बङ्किमः बङ्गसाहित्यस्य एतादृशं तीव्रं विकासं कर्तुं समर्थः अभवत्। अस्य कठिनव्रतस्य परिणामः तेन भोक्तव्यः अभवत्। स्मरामि, यदा सः बङ्गदर्शने समीक्षकपदे उपविष्टः आसीत् तदा तस्य क्षुद्रशत्रूणां संख्या अल्पा न आसीत्। शतशः अक्षमाः तम् ईर्ष्यन्ति स्म, तस्य श्रेष्ठतां निराकर्तुं चेष्टा कदापि न त्यक्तवन्तः" इति। [1]

१८५८ तमवर्षात् १८९१ तमवर्षं यावत् तस्य ३३ वर्षाणां कर्मजीवने तेन न्यूनातिन्यूनं २० वारं स्थानान्तरणम् अवकाशग्रहणं करणीयम् अभवत्। एतस्मात् संक्षिप्तसूचनात् तस्य कार्यक्षेत्रं कियत् कण्टकाकीर्णमासीत् इति अनुमातुं शक्यते। अत्रान्तरे कर्णेल डफरिन् इत्यनेन सह सहसा तस्य अवाञ्छितशारीरिकदुर्व्यवहारः अभवत्, तत् युद्धं न्यायालयपर्यन्तं गतम्, डफरिन् इत्यनेन क्षमा याचना कर्तव्या आसीत्।

न्यायालयस्य घटनायाः कारणात् कर्णेल डफरिन् इत्ययं अन्यैः यूरोपीयैः सह अधिकं क्रुद्धः अभवत्। मुक्तन्यायालये भारतीयात् क्षमायाचना ब्रिटिशसाम्राज्यवादस्य पूर्णतया अपमानः एव। फलतः ते बङ्किमचन्द्रस्य गुप्तहत्यायाः परिकल्पनाम् आरब्धवन्तः। एतस्मिन्नन्तरे राजा योगिन्द्रनारायणरायः कथञ्चित् तस्य षडयन्त्रस्य विषये ज्ञात्वा बङ्किमचन्द्रस्य रक्षणार्थं तं लालगोलानगरम् आमन्त्रितवान्। अस्मिन् समये सः अवकाशे आसीत्।

सः लालगोलायां राजाश्रये हिन्दुमन्दिरैः वेष्टिते अतिथिगृहे

[1]বঙ্কিমচন্দ্র, আধুনিক সাহিত্য, রবীন্দ্রনাথ ঠাকুর

उषितुम् आरब्धवान्। जगद्धात्री दुर्गा काली महामाया चेत्यादीनां मन्दिराणि आसन्। तदा आसायं ध्यानशास्त्रपाठादिषु कार्येषु निरतः तिष्ठति स्म सः। सः क्रमेण आध्यात्मिकः अभवत्, मायालोकं अविद्यां त्यक्त्वा विद्यारूपेण महामायालोकं प्रति आत्मानं समर्पितवान्। परन्तु तस्मिन् क्षेत्रे घटितस्य घटनां विस्मर्तुं न शक्तवान् सः। सः आङ्ग्लानां उत्पीडनस्य विरुद्धं 'मन्त्रेण' बङ्गं भारतं च प्रेरयितुं चिन्तयितुं आरब्धवान्। अन्ततः 31 जनवरी 1874 तमे वर्षे 'माघी पूर्णिमा' इत्यस्याः रात्रौ बङ्किमचन्द्रचट्टोपाध्याय इत्यनेन असामान्यमन्त्रस्य- 'वन्दे मातरम्' इत्यस्य आरम्भः कृतः। सः मन्त्रः शोषितानां दरिद्राणां स्वदेशभक्तानां भारतीयानां कृते आत्मोद्धाराय वीजमन्त्ररूपेण प्रतिष्ठितः।

बङ्किमचन्द्रः राष्ट्रमन्त्रस्य द्रष्टा, काव्यशिल्पकारः, ऋषिः, युगद्रष्टा, क्रान्तप्रज्ञः कविः च-

श्रीअरबिन्दः तस्य विषये कथयति यत्-

"सम्प्रतिः किमर्थं वयं बङ्किमं पूजयामः? किं तस्य वचनं किं वा तेन दृष्टम्? सः महान् कविः, सुन्दरभाषायाः कुशलः कलाकारः, कल्पनाजगति सुन्दरमायापात्राणां कुशलः निर्माता च अस्ति; परन्तु बङ्गदेशः सम्प्रतिः तस्य कविं चित्रकारम् उपन्यासकारं वा न समादरति। भविष्यस्य साहित्यसमीक्षकाः 'कपाल कुण्डला', 'विषबृक्ष', 'कृष्णकान्तेर उइल' चेत्येतानि बङ्किमस्य साहित्यानि सर्वोत्तमयोगदानं इति प्रतिष्ठापयिष्यन्ति, तथा च 'देवी चौधुरानी', 'आनन्दमठ', 'कृष्णचरित्र' अथवा 'धर्मतत्त्व' इत्येतानि सीमितप्रशंसनं प्राप्नुयुः। तथापि शेषोक्तरचनानां स्रष्टा बङ्किमचन्द्रः एव

आधुनिकभारतस्य अन्यतमनिर्मातृरूपेण स्वीकृतः भविष्यति, सर्जनात्मकग्रन्थानां कर्ता रूपेण न। आदौ सः कश्चित् सर्जनात्मकग्रन्थानां लेखक एवासीत् किन्तु उत्तरकाले स एव कविः राष्ट्रस्य द्रष्टा शिल्पकारः मन्त्रद्रष्टा ऋषिः युगद्रष्टा क्रान्तप्रज्ञकविः जातः। [1]

"কিসের জন্য আজ আমরা বঙ্কিমের পুজা করি? কি তাঁর বাণী বা কি তিনি দেখেছেন? তিনি একজন বড় কবি, সুন্দর ভাষার দক্ষ শিল্পী এবং কল্পনার জগতে রূপলাবণ্যময় মায়া চরিত্রের দক্ষ স্রষ্টা; কিন্তু কবি, রূপকার বা ঔপন্যাসিক হিসাবে বাংলাদেশ আজ তাকে সম্মান করে না। ভবিষ্যতের সাহিত্য সমালোচক হয়তো 'কপালকুণ্ডলা', 'বিষবৃক্ষ', ও 'কৃষ্ণকান্তের উইল'-কে শিল্পী বঙ্কিমের শ্রেষ্ঠ অবদান বলে গণ্য করবে এবং 'দেবী চৌধুরাণী", 'আনন্দমঠ', 'কৃষ্ণচরিত্র' অথবা 'ধর্মতত্ত্ব' পাবে সীমিত প্রশংসা। তবুও এই শেষোক্ত রচনাবলীর স্রষ্টা বঙ্কিমই আধুনিক ভারতের অন্যতম নির্মাতা হিসেবে স্বীকৃতি পাবেন, মহান সৃষ্টিধর্মী শ্রেষ্ঠ গ্রন্থসমূহের রচয়িতা বঙ্কিম নয়। প্রথম দিককার বঙ্কিম কেবলমাত্র একজন কবি ও বিশিষ্ট রচনাশৈলীসম্পন্ন লেখক কিন্তু পরবর্তী বঙ্কিম একজন দ্রষ্টা ও জাতির স্থপতি।" [2]

<u>सः अस्मान् राष्ट्रियसत्तायाः दर्शनं कारितवान्-</u>

सप्तम्याः (नवरात्रौ दुर्गापूजायां वा) पूजायाः रात्रिः। बङ्किमचन्द्रः प्रतिमायाः दर्शनं कृतवान्। सहसा तस्य हृदयं कम्पितम्। सा अनुभूतिः काचित् ब्रह्मोपलोब्धिः इव। बङ्किमस्य स्वस्य वचनं उद्धियते अत्र-

---

[1] "वन्देमातरम्" 16 अप्रैल 1907

[2] *"বন্দেমাতরম" ১৬ই এপ্রিল ১৯০৭*

"দেখিলাম- অকস্মাৎ কালের স্রোত, দিগন্ত ব্যাপিয়া প্রবল বেগে ছুটিতেছে-আমি ভেলায় চড়িয়া ভাসিয়া যাইতেছি। দেখিলাম-অনন্ত অকুল, অন্ধকারে, বাত্যাবিক্ষুব্ধ তরঙ্গ সঙ্কুল সেই স্রোত - মধ্যে মধ্যে উজ্জ্বল নক্ষত্রগণ উদয় হইতেছে, নিবিতেছে - আবার উঠিতেছে। আমি নিতান্ত একা - একা বলিয়া ভয় করিতে লাগিল - নিতান্ত একা - মাতৃহীন - মা! মা। করিয়া ডাকিতেছি। আমি এই কালসমুদ্রে মাতৃসন্ধানে আসিয়াছি। কোথা মা। কই আমার মা? এ ঘোর কালসমুদ্রে কোথায় তুমি? সহসা স্বর্গীয় বাদ্যে কর্ণরন্ধ্র পরিপূর্ণ হইল - দিঙ্মণ্ডলে প্রভাতারুণোদয়বৎ লোহিতোজ্জ্বল আলোক বিকীর্ণ হইল - স্নিগ্ধ মন্দপবন বহিল - সেই তরঙ্গসস্থল জলরাশির উপরে, দূরপ্রস্তে দেখিলাম - সুবর্ণমণ্ডিতা, এই সপ্তমীর শারদীয়া প্রতিমা। জলে হাসিতেছে, ভাসিতেছে, আলোক বিকীর্ণ করিতেছে। এই কি মা? হাঁ, এই মা। চিনিলাম, এই আমার জননী - জন্মভূমি এই মৃন্ময়ী - মৃত্তিকারূপিণী - অনন্তরত্নভূষিতা - এক্ষণে কালগর্ভে নিহিতা। রত্নমণ্ডিত দশভূজ - দশ দিক্ -দশ দিকে প্রসারিত, তাহাতে নানা আয়ুধরূপে নানা শক্তি শোভিত, পদতলে শত্রুবিমর্দিত, পদাশ্রিত বীরজন কেশরী শত্রু নিপীড়নে নিযুক্ত। এ মূর্তি এখন দেখিব না- আজি দেখিব না, কাল দেখিব না - কালস্রোত পার না হইলে দেখিব না - কিন্তু একদিন দেখিব - দিগভুজা, নানা প্রহরণ প্রহারিণী, শত্রুমর্দিনী, বীরেন্দ্রপৃষ্ঠবিহারিণী - দক্ষিণে লক্ষ্মী ভাগ্যরূপিণী, বামে বাণী বিদ্যাবিজ্ঞানমূর্তিময়ী, সঙ্গে বলরূপী কীর্ত্তিকো কার্যসিদ্ধিরূপী গণেশ, আমি সেই কালস্রোতের মধ্যে দেখিলাম, এই সুবর্ণময়ী বঙ্গপ্রতিমা।"[1]

[1] মহাষ্টমীর রাত্রির দশভূজা দেবী ও বৈষ্ণবপদকর্তার গান দুয়ে যেন ওতপ্রোতভাবে জড়িয়ে গেল। মহাষ্টমীর দেবী দুর্গাই হলেন বঙ্গভূমির রূপক।"-ভবতোষ দত্ত, 'চিন্তানায়ক বঙ্কিমচন্দ্র, পৃ. ১৬২।

अहं दृष्टवान् - सहसा कालस्य धारा, दिगन्तं व्याप्य प्रवलवेगेन धावति - अहम् उडुपेन प्लवमानः अस्मि। दृष्टवान् - अनन्ते अकुले अन्धकारे, वात्याविक्षुब्धतरङ्गसङ्कुलः सः स्रोतः - मध्ये मध्ये उज्ज्वलाः तारकाः उदीयन्ते, अस्तं गच्छन्ति - पुनः उदीयन्ते इति। अहं सर्वथा एकाकी - एकाकी अस्मि अतः भयम् प्राप्तम् - सर्वथा एकाकी - मातृहीनः - मात!मात! इति आह्वानं कुर्वन् अस्मि। मातरं अन्वेष्टुं कालसमुद्रमागतोऽस्मि। माता कुत्र अस्ति कुत्र मम माता? ... कुत्र त्वम् अस्मिन् कालसमुद्रे? सहसा कर्णरन्ध्राः स्वर्ग-सङ्गीतेन पूरिताः - दिङ्मण्डले प्रभातारुणवत् लोहितोज्ज्वलालोकः विकीर्णः अभवत् - स्निग्ध-मन्द-पवनः प्रवाहितः जातः - तस्य तरङ्गायितसस्थलजलस्य उपरि, दूरं मया दृष्टम् - सुवर्णमण्डितम्, अस्याः सप्तम्याः शरद-प्रतिमा। जलं हसति, प्लवति, प्रकाशं विकीर्णयति। किं एषा एव माता? आम्, एषा एव माता अस्ति। अहं अभिज्ञातोस्मि, एषा मम जननी - जन्मभूमि इयं मृन्मयी - मृत्तिकरूपिणी - अनन्तरत्नभूषिता - एसानेस कलागर्भे निहिता। रत्नमयः दाशभुजः - दशदिक् - दशदिशि प्रसृतः, नानाशस्त्ररूपेण नानाशक्तिभिः अलङ्कृतः, पदतले विमर्दितशत्रुः, पादाश्रितः वीरजनकेसरी शत्रुपीडने प्रवृत्तः। तां प्रतिमां इदानिं न पश्यामि- अद्य न पश्यामि, श्वः न पश्यामि - कालस्रोते पारे गते न पश्यामि - किन्तु एकदा द्रक्ष्यामि - दिग्भुजा, नानप्रहारणप्रहारिणी, शत्रुमर्दिनी, वीरेन्द्रपृष्टविहारिणी - दक्षिणे लक्ष्मी भाग्यरूपिणी, वामे वाणी विद्यामूर्तिमयी, बलरूपी कीर्त्तिकेय, कार्यसिद्धिरूपी गणेशः तया सह। तस्मिन् कालस्रोते बङ्गस्य एषा सुवर्णप्रतिमा मया दृष्टा।

कमलाकान्तस्य छद्मलेखण्याम् ऋषिः बङ्किमचन्द्रः लिखितवान्

अन्तःकरणस्य आध्यात्मिकसाक्षात्कारस्य विषये। तस्य बीरेन्द्रप्रिष्ठबिहारिणी दुर्गातिनाशिनी दुर्गा एकस्मिन् एव काले सर्वमङ्गला शिवे सर्वार्थसाधिका स्वदेशजनी। यः चिन्मयी सा एव मृण्मयी। माता मृत्तिका च भिन्नाः नास्ति। देशस्य मृत्तिकां मात्रेव पूजयितुं यः न शक्नोति सः मातृहीनः अस्ति। बङ्किमस्य वचने "मातृहीणानां कृते देशः नास्ति" इति।

बङ्किमचन्द्रः लिखति, "आगच्छ, अन्धकारे भयं किम्? तां सुवर्णप्रतिमां शिरसि आनयम्। भयं किम्? निमज्जयेयं वा। मातृहीनजीवनेन किं कार्यम्?" [1]

<u>महाभारतस्य रामायणस्य च ऐतिहासिकतां स्वीकृत्य राष्ट्रस्य इतिहासस्य पुनर्निर्माणस्य वादमुपस्थापितम् -</u>

भारतस्य इतिहासं विकृत्य एतस्य देशस्य पतनं दीर्घयितं कृतवन्तः आक्रमणकारीणः विदेशीयशक्तयः। अस्य देशस्य इतिहासस्य पुनर्नगठनम् अतीव आवश्यकम् इति तेन स्वीकृयते स्म। स च देशस्य स्वकीयः इतिहासः भवेत्, यः अस्य देशस्य परिचयं करिष्यति। महाभारतस्य रामायणस्य च ऐतिहासिकता अङ्गीकृता तेनोक्तम् -

"अधुना भारतस्य सर्वप्राचीनग्रन्थेषु केवलं महाभारतस्य अथवा केवलं महाभारतस्य रामायणस्य चेत्येतयोः इतिहासौ इति नामकरणं कृतम् अस्ति। यत्र महाभारतं इतिहासपदवाच्यम्, यदा न्यूनातिन्यूनम् रामायणात् परं अन्यत् पुस्तकम् एतत् नाम न प्राप्तम्, तदा तस्य

---

[1] ("এসো, অন্ধকারে ভয় কি? সেই স্বর্ণপ্রতিমা মাথায় করিয়া আনি। ভয় কি? না হয় ডুবিব। মাতৃহীনের জীবনে কাজ কি?")
বন্দেমাতরম, অমলেশ ভট্টাচার্য, লোকপ্রজ্ঞা (Page - 19)

विशेषैतिहासिकता अस्ति इति विचारणीयम्। सत्यं तु एतत् यत् महाभारते बहवः विषयाः सन्ति यत्, स्पष्टतया अलिकाः, असम्भवाः, अऐतिहासिकाः च सन्ति। तान् सर्वान् अलीकान् विषयान् अनैतिहासिकान् चेति मत्वा परित्यक्तुं शक्नोमि। किन्तु यस्मिन् भागे तथा किमपि नास्ति तां भागं अनैतिहासिकं मत्वा किमर्थं परित्याजामः? सर्वेषु राष्ट्रेषु प्राचीने इतिहासे एतादृशाः ऐतिहासिकाः अनैतिहासिकाः च सत्याः असत्यः च मिश्रिताः सन्ति। रोमन-इतिहासवेत्ता यथा निबि प्रभृतयः, यव-इतिहासकाराः हेरोडोटस् इत्यादयः, मुस्लिम-इतिहासकाराः फेरेस्ता इत्यादयः - ऐतिहासिकवृत्तान्तेन सह अप्राकृतिकं-अनैतिहासिकविवरणानि मिश्रितवन्तः। तेषां पुस्तकानि इतिहासत्वेन स्वीक्रियन्ते, महाभारतं किमर्थम् अनैतिहासिकत्वेन सर्वथा परित्यक्तव्यम्? अधुना तेभ्यः सर्वेभ्यः विदेशीय-इतिहास-पुस्तकेभ्यः अपेक्षया महाभारते अधिकाः अप्राकृतिकाः घटनाः सन्ति इति अपि स्वीक्रियताम्। तत्रापि यथावत्प्रकृतं सम्भवं च प्रकरणस्य इतिवृत्तं दृश्यते, तावत् स्वीकर्तुं कस्यापि अनाग्रहः न दृश्यते। अन्यदेशानां प्राचीन-इतिहासात् अपेक्षया महाभारते अधिकानि काल्पनिकविषयाणि सन्ति, एतस्यापि विशेषकारणम् अस्ति1 इतिहासपुस्तकेषु अनैसर्गिकी मिथ्या वा घटनाः कारणद्वयेन अन्तर्भवति। प्रथमं लेखकः ताः सर्वाः जनश्रुतिः सत्यं मत्वा लोकमतमेव अवलम्बते" इति।"

"এখন, ভারতবর্ষের প্রাচীন গ্রন্থ সকলের মধ্যে কেবল মহাভারতই অথবা কেবল মহাভারত ও রামায়ণ ইতিহাস নাম প্রাপ্ত হইয়াছে। যেখানে মহাভারত ইতিহাস পদে বাচ্য, যখন অন্ততঃ রামায়ণ ভিন্ন আর কোন গ্রন্থই এই নাম প্রাপ্ত হয় নাই, তখন বিবেচনা করিতে হইবে যে, ইহার বিশেষ ঐতিহাসিকতা

আছে বলিয়াই এরূপ হইয়াছে৷

সত্য বটে যে, মহাভারতে এমন বিস্তর কথা আছে যে, তাহা স্পষ্টতঃ অলীক, অসম্ভব, অনৈতিহাসিক৷ সেই সকল কথাগুলি অলীক ও অনৈতিহাসিক বলিয়া পরিত্যাগ করিতে পারি৷ কিন্তু যে অংশে এমন কিছুই নাই যে, তাহা হইতে ঐ অংশ অলীক বা অনৈতিহাসিক বিবেচনা করা যায়, সে অংশগুলি অনৈতিহাসিক বলিয়া কেন পরিত্যাগ করিব? সকল জাতির মধ্যে, প্রাচীন ইতিহাসে এইরূপ ঐতিহাসিকে ও অনৈতিহাসিকে, সত্যে ও মিথ্যায়, মিশিয়া গিয়াছে৷ রোমক ইতিহাসবেত্তা নিবি প্রভৃতি, যব ইতিহাসবেত্তা হেরোডোটস্ প্রভৃতি, মুসলমান ইতিহাসবেত্তা ফেরেশ্তা প্রভৃতি এইরূপ ঐতিহাসিক বৃত্তান্তের সঙ্গে অনৈসর্গিক এবং অনৈতিহাসিক বৃত্তান্ত মিশাইয়াছেন । তাঁহাদিগের গ্রন্থ সকল ইতিহাস বলিয়া গৃহীত হইয়া থাকে মহাভারতই অনৈতিহাসিক বলিয়া একেবারে পরিত্যক্ত হইবে কেন? এখন ইহাও স্বীকার করা যাউক যে, ঐ সকল ভিন্নদেশীয় ইতিহাসগ্রন্থের অপেক্ষা মহাভারতে অনৈসর্গিক ঘটনার বাহুল্য অধিক৷ তাহাতেও, যেটুকু নৈসর্গিক ও সম্ভব ব্যাপারের ইতিবৃত্ত, সেটুকু গ্রহণ করিবার কোন আপত্তি দেখা যায় না৷ মহাভারতে যে অন্য দেশের প্রাচীন ইতিহাসের অপেক্ষা কিছু বেশী কাল্পনিক ব্যাপারের বাহুল্য আছে, তাহার বিশেষ কারণও আছে৷ ইতিহাসগ্রন্থে দুই কারণে অনৈসর্গিক বা মিথ্যা ঘটনা সকল স্থান পায়৷ প্রথম, লেখক জনশ্রুতির উপর নির্ভর করিয়া, সেই সকলকে সত্য বিবেচনা "[1]

[1]কৃষ্ণ চরিত্র, পৃষ্ঠা - ১৫-১৬ https://bit.ly/48zpPhR, বঙ্গীয় সাহিত্য পরিষত্, ১৮৮৬.

<u>तस्य संस्कृतनिष्ठं बङ्गलाभाषायाः वाग्व्यवहारशैली- काव्यशास्त्रनिकषे सुसमुत्तिर्णम् -</u>

सरलविचारे अद्यत्वे वयं सम्पूर्णे भारते यान् प्रायः सर्वान् उच्चवर्गीयसाहित्यिकाः इति वदामः, ते संस्कृतनिष्ठप्रान्तीयभाषायाः अनुकूलाः आसन्। यतः स एव स्वाभाविकः मार्गः स्यात्। बङ्किमः तस्मिन् मार्गे आसीत्। यतः सः जानाति स्म यत् भाषा संस्कृतेः वाहिका अस्ति। तस्य बङ्गभाषायां विरचितं साहित्यम् आन्तरिकतया अत्यन्तं संस्कृतनिष्ठम् अस्ति। तथा प्रकारेण तेन आधुनिकतया, समयानुकूलतया, सावधानतया च प्राचीनभारतस्य अलङ्कारस्य प्रयोगः कृतः अस्ति। तत्र सः नूतनां अलङ्कारशैलीं प्रवर्तयति स्म, या आलोचिता प्रशंसिता च अभवत्। बाणभट्टस्य प्राचीनवाग्व्यवहारशैल्याः उत्तराधिकारत्वं तस्मिन् विद्यते इति वक्तुं शक्यते। परन्तु सर्वेषामपि उपरि तस्य साहित्ये भारतस्य ज्ञानपरम्परायाः उत्तराधिकारः तीक्ष्णखड्गवत् प्रदर्शितः आसीत्। अनावश्यकान् कालातीतसंस्कारान् प्रक्षिप्य परित्यज्य भारतस्य पारम्परिकसाहित्यिकशिष्टाचारान् रक्षयन् सुनिपुणं काव्यादर्शं प्रस्तुतवान्। कथ्यते यत् गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। तस्य निकषस्य कठिनपरीक्षायां समुत्तीर्णवान् सः।

रवीन्द्रनाथः तस्य विषये वदति-

"एकदा अस्माकं बङ्गभाषा एकतन्त्री वाद्यवत् एकस्मिन् तन्त्रेण बद्धा आसीत्, केवलं सरलस्वरेषु धार्मिकजपार्थं योग्या आसीत्; बङ्किमः अद्य स्वहस्तेन एकैकां तन्त्रीं योजियित्वा वीणारूपेण परिणामितवान्। पूर्वं केवलं स्थानीयग्रामीणसंगीतमेव वाद्यते स्म, अद्य

विश्वसभायां श्रावयितुं युक्ता ध्रुपादाङ्गस्य कलावतीगिण्याः आलापयोग्या अभवत्। " .("একদিন আমাদের বঙ্গভাষা কেবল একতারা যন্ত্রের মতো ক তারে বাঁধা ছিল, কেবল সহজ সুরে ধর্ম সংকীর্তন করিবার উপযোগী ছিল; বঙ্কিম স্বহস্তে তাহাতে এক-একটি করিয়া তার চড়াইয়া আজ তাহাকে বীণাযন্ত্রে পরিণত করিয়া তুলিয়াছেন। পূর্বে যাহাতে কেবল স্থানীয় গ্রাম্য সুর বাজিত তাহা আজ বিশ্বসভায় শুনাইবার উপযুক্ত ধ্রুবপদ অঙ্গের কলাবতী রাগিণী আলাপ করিবার যোগ্য হইয়া উঠিয়াছে।")

<u>उपसंहारः-</u>

येन वन्देमातरमिति मन्त्रेण अस्माकं राष्ट्रियतायाः बोधः आन्दोलितः, येन मन्त्रेण अस्माकं देशे जनमानसे सौभ्रातृत्वस्य बोधः जाग्रतः जातः, स एव मन्त्रस्य उद्गाता ऋषिबङ्किमचन्द्रचट्टोपाध्यायः सर्वकालिकचर्चायाः विषय एव। समग्रे विश्वे हिंसायाः विद्वेषस्य यः अन्धकारः प्रसारितः, तस्य निराकरणमपि बङ्किमसाहित्ये एव निहितम् अस्ति इति बहूनां मतम्। अतः अस्माकं शोधकार्यं, चिन्तनं, विमर्षः च बङ्किमचन्द्रादिष्टप्रवाहे प्रवहणीयम्। राष्ट्रस्य पुनरुत्थानस्य एषः एव मार्गः इति चिन्तयामि। अस्मिन् एव मार्गे तेन या ज्योतिः प्रज्वलिता, तेन प्रकाशमानमार्गेण वयं भारतमातरं विश्वसभायां श्रेष्ठासनासीनां द्रक्ष्यामः।

<u>बन्दे मातरम्</u>

<u>सहायक-ग्रंथ-सूचीः-</u>

- बंकिम रचनावली (उपन्याससमग्र), शुभम्, कोलकाता, 2009
- बंदेमातरम, अमलेश भट्टाचार्य, लोकप्रज्ञा, कोलकाता, 2022

- विडाल, अरिजिदगुप्ता, कथासरित, तरंगा - 11 (बांलामूलम् - कमला कान्तेर दफ्तर)
- आनंद मठ, शिवचरण शर्मा, संस्कृत भारती, नई दिल्ली, 2011 (बांलामूलम्-आनंद मठ)
- वङ्किमचन्द्र, रवीन्द्रनाथठाकुर, वर्णमाला, कोलकाता, 2022

संस्कृत वाङ्मये वेदस्य स्थानं तथा तस्य संक्षिप्त परिचयः

Mrs. Archana Tandale (अर्चना तांदळे)
Assistant Professor - Sanskrit Samhita and Shiddhant dept., Sumandeep Ayurved Medical college and Hospital, Piparia, Vadodara, Gujarat

Abstract- सारांशः-

वेदः शब्दस्य व्युत्पति संस्कृतस्य 'विद्' धातु, लट् लकार, परस्मैपद- वेद / वेत्ति प्रथम पुरुष एक वचने प्राप्तं अभवत्। " विद् " शब्दस्य अर्थ- ज्ञानार्थ- to know भवति। संस्कृतवाङ्मये वेदानां स्थानं सर्वोपरि वर्ततेl अस्मिन भूमण्डले प्राचिन ग्रन्थेषु वेदाः विविधभाषासु प्राचीनतम् इति कथ्यते।

सायणाचार्य उक्तम्–विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिधर्मादि पुरुषार्था :।

अर्थात धर्मः, अर्थः, कामः, मोक्षः, चत्वार पुरुषार्था ज्ञातुं शक्नोति तस्य वेदः कथ्यते।

स्मृतिपुराण उक्तम यत् अपौरुषयं वाक्यं वेदः। वेदः अनेक नामानि श्रुतिः, आगमः, आम्नाय, वेदवाणी इत्यादिनापि प्रसिद्धम्। तस्य उच्चारणेन उदात्तानुदात-स्वरितानां परम्परा प्राप्तः प्रयोगः सुनिश्चत भवति।

Research Idea- शोधविचार:

वेदा: चतुर्विधा: सन्ति ऋग्वेद:, यजुर्वेद:, सामवेद:, अथर्वेद:, तत्रापि संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक -उपनिषद वेदस्य चतुर्विभागा: सन्ति। एतेषु चतुर्षु विभागेषु मन्त्ररूपेण स्तुति वैदिक महर्षिभि: साक्षात्कृते मुख्य विभागा : संहिता शब्देन दृश्यते। ऋग्वेद: यजुर्वेद:, सामवेद: वेदत्रयी इति कथ्यते।

चत्वार: आश्रमा: विभागा च।

१ संहिता-ब्रह्मचर्याश्रम- वेद मन्त्राध्ययन - Preparation.

२. ब्राह्मण : गृहस्थाश्रम -यज्ञविधि -Activity.

३. आरण्यक–वानप्रस्थाश्रम- यज्ञ अर्थ ज्ञान तथा यज्ञधर्म- Analysis and interpretation.

४. उपनिषद -सन्यासाश्रम-तत्त्वज्ञान -Understanding.

१. संहिता-परिचय-

१. ऋग्वेद : संहिता - स्तुति मन्त्राणां संग्रह: विद्यते।

२. यजुर्वेद: संहिता – याजकीयाना मन्त्राणां संग्रह: विद्यते।

३. सामवेद: संहिता – गायन मन्त्राणां संग्रह: विद्यते।

४. अथर्वेद: संहिता–विविध विघ्न विनाशकाडडभिचारिक मन्त्राणां संग्रह: विद्यते

ऋग्वेदसंहिता:-

ऋग्वेदस्य ऋचाया: (मन्त्र) ऋक् कथ्यते। ऋक् संहिता एव ऋग्वेद:। चत्वार वेदानां ऋग्वेदस्य महत्वं अति गौरवपूर्ण अस्ति। ऋग्वेदे पञ्चशाखा श्रूयन्ते।

१ . शाकलशाखा २ . बाष्कलशाखा ३. आश्वलायनशाखा ४.शांखायनशाखा ५. माण्डूकायनशाखा

एताषु शाखाषु पूर्व रूपेण केवलम् शाकलशाखा उपलभ्यते। ऋग्वेदस्य ऋत्विक् होता तथा मुख्याचार्य पैल अस्ति। ऋग्वेदस्य उपवेद : आयुर्वेद : कथ्यते।

यजुर्वेदसंहिता:-

यजुर्वेदस्य मन्त्र: यजुस कथ्यते। चतुर्षु वैदिक संहितासु यजुर्वेद संहिताया : अतीव महत्व पूर्ण स्थानं वर्तेते। अस्यां संहितायामेव सर्वविधानां यागादिकानां वर्णनमुपलभ्यते।

अस्या : संहिताया: भेदा: द्रयं विद्यते। १. शुक्लयजुर्वेद संहिता २ . कृष्णयजुर्वेद संहिता।

-शुक्लयजुर्वेद शाखा प्राप्तं अभवत् -१. काण्व २ माध्यन्दिन्

-कृष्णयजुर्वेदे शाखा प्राप्तं अभवत्- १ तैत्तिरीय २ मैत्रायणी ३.कपिष्ठल / कापिंजल ४ कठ् यजुर्वेदस्य ऋत्विक अध्वर्यु : तथा मुख्याचार्य वैशम्पायन अस्ति। यजुर्वेदस्य उपवेद: धर्नुवेद : अस्ति।

सामवेदसंहिता:-

अत्र " सा " अर्थात ऋक् तथा अम् अर्थात गान्धारदय : सप्तस्वरा : अभिहिता: सन्ति। सामवेदे तिस्त्र : शाखा उपलभ्यन्ते। १ . कौथुमीय शाखा २. राणायनीय शाखा ३.जैमिनीय शाखा।

सामवेद संहितायां सर्वे गेय-मन्त्रा : एव संगृहीता: पुर्वार्चिक - उत्तरार्चिक संहितायाम भाग द्रयं वर्णिता अस्ति। इत्यं सामवेदस्य कौथुमीय – शाखायाम् पुर्वार्चिक ६५० मन्त्रा: तथा उत्तरार्चिक १२२५ मन्त्रा : वर्णिता सन्ति अर्थात सामवेदे कौथुमीय – शाखायाम् १८७५ मन्त्रा : सन्ति। एतेषु मन्त्रेषु ऋग्वेदीया: मन्त्रा १५०४ सन्ति। सामवेदेस्य ऋत्विक '' उद्गाता " तथा मुख्याचार्य जैमिनि इत्युच्यते। सामवेदेस्य उपवेद: गान्धर्व वेद: अस्ति।

अथर्ववेदसंहिता:-

अथर्ववेदस्य अनेक नामानि समउपलभ्यन्ते – ब्रह्मवेद:, अथर्वागिरस् वेदा:, अंगिरोवेद:, इत्यादिनि नामानि प्रमुखा सन्ति। "थर्व " धातु हिंसावाचक अस्ति। वेदेडस्मिन मारण, ज्वर,

आदिरोग विनाशका मन्त्रणां संग्रहोडस्ति। अत्र वेदेडस्मिन २० काण्डानि, ३४ प्रपाठका:, १११ अनुवाका:, ७३१ सुक्तानि, ५९८७ मन्त्रा सन्ति। अस्य ऋत्विक '' ब्रह्मा'' इत्युच्यते तथा मुख्याचार्य सुबन्धु अस्ति। अथर्ववेदस्य उपवेद: स्थापत्य वेद: अस्ति।

5. ब्राह्मणग्रन्थ:

ब्राह्मण साहित्य अतीव विशालं तथा व्यापकम् अस्ति। ब्राह्मण ग्रन्थेषु शाकटायन-ब्राह्मणम् अत्यन्त मत्वपूर्णम् अस्ति। ऋग्वेदे- ऐतरेय

ब्राह्मण, शाङ्गायन ब्राह्मण, यजुर्वेदे- शतपथब्राह्मण, तैत्तीरीयब्राह्मण, सामवेदे -ताण्डयमहाब्राह्मणम्, सामविधानब्राह्मणम्, आर्षेयब्राह्मणम्, दैवतब्राह्मणम्, षडविंशब्राह्मणम्, उपनिषदब्राह्मणम्, संहितोपनिषद ब्राह्मणम्, अथर्ववेदे – गोपथब्राह्मणम्, इत्यादि वर्णिता अस्ति।

६. आरण्यकग्रन्थ:

आरण्यक ग्रन्था: ब्राह्मण भागस्य सन्ति। आरण्यक - ऐतरेयारण्यकम्, शांङखायनारण्यकम्, ब्रुह्दारण्यकम्, तैत्तीरीयारण्यकम्, इत्यादि वर्णिता सन्ति।

७ . उपनिषद:–

उप+नि+षद् = उपनिषद् शब्दस्य अर्थ सामान्यं निरुपयन् आचार्यवर: शंकर : प्राह, "उप" शब्दस्य अर्थ समीप्य तथा "नि" उपसर्ग " षद "शब्दस्य अर्थ: निश्चयार्थ :। sitting down near -The disciple to sit near the Guru for the attainment of Brahma Vidya.

ईश केन कण्ठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिर :।

ऐतरेयं च – छान्दोग्यं ब्रुह्दारण्यक दश।।

ऋग्वेद– ऐतरेयोपनिषद।

कृष्ण यजुर्वेदे - कण्ठोपनिषद, तैत्तीरीयोपनिषद।

शुक्ल यजुर्वेदे - ईशावास्योपनिषद, ब्रुह्दारण्यकोपनिषद।

सामवेदे – छान्दोग्योपनिषद, केनोपनिषद।

अथर्ववेदे - प्रश्नोपनिषद, मुण्डकोपनिषद, माण्डूक्योपनिषद।

वेदाङागानि परिचय:-

वेदार्थज्ञानाय येषां शास्त्राणांज्ञान आवश्यकं भवति। शिक्षा - कल्प -व्याकरणं- निरुक्त- छन्द- ज्योतिष इति शास्त्राणि वेदाङागानि कथ्यते।

शिक्षा - कल्पो – व्याकरणं – निरुक्तं - छन्दसां चय :।

ज्योतिषामयनं चैव, वेदाङागानि षडेव तु।।

वैदिकवाङ्मये सर्वप्रथमवेदमन्त्राणां यथोच्चारणम् आवश्यकता अस्ति। अस्मिन् उच्चारण कर्मणि उपकारकं वेदाङागं शिक्षेति कथ्यते। वेदाध्यनस्य मुख्य प्रयोजनं यज्ञ यज्ञादिकस्य, कर्म काण्डस्य अनुष्ठानम् अस्ति। एतस्मिन अर्थ प्रवृतस्य वेदाङास्य नाम कल्पोडस्ति। शब्दस्य समुचितं ज्ञानं व्याकरणं विना असम्भवम् अस्ति। वेदा : छन्दोबध्दा: सन्ति। अत एव तेषामुच्चारणाय छन्दोज्ञानम् आवश्यकम् अस्ति। एतेषां षडवेदांगानां विभाजनं पाणिनीय शिक्षायां प्रकारेण अस्ति।

छन्द: पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोडथ उच्यते।

ज्योतिषामयनं चक्षु:, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।

शिक्षा प्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं समृतम्।

तस्मात् साङगमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते।।

शिक्षाशास्त्रम् – येन शास्त्रेण वेदमन्त्राणां शुद्धोच्चारणे सरल्यं साहाय्यं च भवति। त्वछास्त्र शिक्षेति कथ्यते। शिक्षा साहित्यमतीव विशालं वर्तते। यथा पाणिनीयशिक्षा, व्यासशिक्षा, भरद्वाजशिक्षा, याज्ञव्ल्कयशिक्षा, केशवीशिक्षा, वाशिष्ठीशिक्षा, पाराशरीशिक्षा,

कात्यायनीशिक्षा, माध्यन्दिनिशिक्षा, अमोधानन्दिनीशिक्षा, माण्डव्यशिक्षा, स्वरांकुशशिक्षा, नारदीयशिक्षा, माण्डुकीशिक्षा, स्वरभक्तिलक्षणशिक्षा, अवसान निर्णयशिक्षा, वर्णरत्नप्रदिका शिक्षा, षोडशश्लोकी शिक्षा इत्यादय :

कल्पसूत्रम् –वेदविहितानां कर्मणा व्यवस्थापकं शास्त्रं कल्प:। कल्प सूत्राणि चत्वार सन्ति। १ . श्रौतसूत्राणि २ .धर्मसूत्राणि ३. गृह्यसूत्राणि ४ शूल्बसूत्राणि

व्याकरण शास्त्रम्-वेद पुरुषस्य मुख रूपेण कल्पितमस्ति। ऋग्वेद कालत: एव व्याकरण

शास्त्रस्य निर्देश: उपलभ्यते। व्याकरणस्य उत्पति कथा तैत्तिरीयसंहितायां वर्णिता अस्ति।

निरुक्तम्- ग्रन्थे वैदिकशब्दानाम अर्थज्ञानस्य प्रकिया वर्णिता सन्ति। अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्त निरुक्तम्।

छन्द शास्त्रम्- वैदिक मन्त्रोच्चारण प्रयोजनस्य कृते छन्दज्ञानमावश्यकमस्ति। वैदिकग्रन्थे एकविंशति छन्दांसि उपलभ्यन्ते।

ज्यौतिषशास्त्रम् – मुहूर्तज्ञानं, दिग्ज्ञानं, तिथि वार नक्षत्र करण योगादिज्ञानश्च ज्योतिष शास्त्रादेव येन विना व्यवहार : एव न शिध्ध्यति अत : स्पष्टमेव अस्य ज्यौतिषशास्त्रस्य व्यवहारे जीवनेडपि अत्यन्तं महत्वम्। ज्यौतिषं वेदस्य चक्षु : स्वरूपमस्ति।

Conclusion–उपसंहार:

वेदा भारतीयानां प्रमुख धर्मग्रन्था: सन्ति। भारतीय दर्शनानां

रहस्यं एवं भारतीय संस्कृतिरहस्यं तथा तेषां विकासस्य वैविध्यं च वेदः साहाय्येन ज्ञातुं शक्नोति। अतः वेदाः अध्ययनीया अतीव आवश्यकम्। ज्ञानस्य विमलाधारा वेदे प्राप्तं भवति।

वेदशास्त्रार्थ तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।

इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते।। १२.१०२ मनुस्मृति।।

अर्थात - यो वेदत्त्वं जानाति सः लोके मोक्षं प्राप्नोति, यस्मिन् आश्रमे वर्तते तदपेक्षया।

He who knows the essence of the Vedas attains salvation in this world, no matter what ashram he is in.

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचीः–

१. संहिता २. ब्राह्मणग्रन्थ

३. आरण्यक ग्रन्थ ४. उपनिषद

५. मनुस्मृति

श्रीमद्भगवद्गीतायां योगसूत्रेषु चेश्वरप्रणिधानविचारः

डॉ. शैलेश पवार
सहायकप्राध्यापकः (सं), केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
श्रीराजीवगान्धीपरिसरः, शृङ्गेरी- 577139 (कर्णाटकम्)

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

शरीरस्य मनसः च आरोग्यसम्पादनार्थं पतञ्जलिमहर्षिणा लोके प्रख्यापिते योगशास्त्रे अष्टौ अङ्गानि वर्तन्ते – यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तेषु अहिंसा-सत्य-अस्तेय- ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः पञ्च यमाः, शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः। स्थिरसुखम् आसनम्। तस्मिन्नसति श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः। स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहारः। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

एतेषु नियमान्तर्गतम् ईश्वरप्रणिधानम्। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम् इत्युक्तम् पातञ्जलयोगसूत्रस्य व्यासभाष्ये।[1] तेन परमात्मनि प्रकृष्टरूपेण सर्वात्मना शरणागतिरिति तस्य तात्पर्यमिति ज्ञायते। शरीरमनोबुद्ध्यादीनां समेषामपि तस्मै समर्पणम् इत्यस्य अयमभिप्रायः, यत् योगसाधकः स्वकर्माणि असक्तभावेन कृत्वा तानि

[1]पातञ्जलयोगसूत्रम् 2.32 (व्यासभाष्यम्)

कर्माणि तेषां फलानि च परमगुरौ ईश्वरे समर्प्य तमेव शरणं व्रजेदिति। तदेवमुक्तम्-"ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।"[1]

धर्मप्रतिपादकेषु महाभारतादिग्रन्थेषु, तत्रापि भगवद्गीतायाम् ईश्वरप्रणिधानं योगसाधनायाः महत्त्वपूर्णमङ्गमिति प्रतिपादितम्। कायेन, वाचा, मनसा च कर्माणि सम्पाद्यन्ते। अतः तानि भगवते समर्पणीयानि इति भगवता बहुधा प्रतिपादितमस्ति गीतायाम्। महाभारतयुद्धारम्भात् प्राक् व्यामूढचेतसम् अर्जुनं युद्धार्थं प्रेरयन् गीताचार्यः वदति-"हे अर्जुन! त्वं यद्यत्कर्म करोषि, यद्यत् खादसि, यद्यत् हवीरूपेण जुहोषि, यच्च दानरूपेण ददासि, यद्यत्तपः करोषि, तत्सर्वं मह्यं समर्पय":–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥[2]

मामेव लक्ष्यीकृत्य एतत्सर्वं कुरु, तदा त्वम् उत्तमं कार्यं करोषि उत्तममाहारं सेवसे, उत्तममेव वस्तु हवते, उत्तममेव अन्येभ्यो दीयते, न त्वनुपयुक्तं किञ्चित्, तपोऽपि उत्तमं क्रियते इत्यभिप्रायः।

एतत्सर्वं तदैव सम्भवति यदा साधकस्य मनः ईश्वरे सम्पूर्णतया संलग्नं भवति। अतः तदर्थं किं करणीयमिति श्रीकृष्णः वदति अर्जुनाय - मयि एव तव मनः निधीयताम् (न तु नश्वरवस्तुषु) बुद्धिमपि मय्येव स्थापय (येन अनावश्यकचिन्तनं न भवति), मयि एव वासं कुरु (न तु

---

[1]पातञ्जलयोगसूत्रम् 2.1 (व्यासभाष्यम्)

[2]श्रीमद्भगवद्गीता- ९/२७

बाह्यजगति) इत्यादि-

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥[1]

सिद्धिप्राप्तेः साधनेष्वन्यतमम् ईश्वरप्रणिधानम्। यः साधकः ईश्वरनिष्ठः भवति तेन सर्वाणि कर्माणि ईश्वरमुद्दिश्यैव क्रियन्ते। तेनापि सिद्धिंप्राप्नोति साधकः-

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।[2]

ईश्वरे सम्पूर्णतया समर्पणं साधकस्य झटिति न भवति, किन्तु शनैः शनैः एव। दातरि स्वीकर्तरि, सर्वेषु वस्तुषु च ईश्वरस्यैव दर्शनं तस्य भवति। कस्यचिद्दरिद्राय कश्चन अन्नं ददाति चेत् ईश्वर एव अन्नं ददाति, ईश्वर एव स्वीकरोति इति सः भावयति। अर्थादुभयोरपि स ईश्वरमेव पश्यति। न केवलं तावदेव, अपि तु जडेषु, चेतनेषु, प्रत्येकं जीवेषु वर्तमानं परमात्मानं पश्यति सः। तदा तस्य ईश्वरसमर्पणभावः पूर्णतामेति।

सर्वाणि कर्माणि यदि ईश्वराय समर्प्यते तर्हि तेषां कर्मणां फलस्य भोक्ता कः? ईश्वरः उत साधकः इति प्रश्नः उदेति। तस्य उत्तररूपेण विज्ञानभिक्षुः वदति यत्, कर्मफलानामीश्वरो भोक्तेति चिन्तयन् कर्मफलसंन्यासः[3] इति। मया क्रियमाणानां कर्मणां फलस्य भोक्ता ईश्वर इतिचिन्तनमेव ईश्वर-प्रणिधानम्। भगवान् श्रीकृष्णोऽपि

---

[1]श्रीमद्भगवद्गीता-१२/८

[2]श्रीमद्भगवद्गीता-१२/१०

[3]योगवार्तिकम्-पातञ्जलयोगसूत्र- २/१

श्रीमद्भगवद्गीतायाम् एवंवदति-

भोक्तारं यज्ञतपसां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।[1]

अस्यां स्थितौ साधकस्य फलापेक्षा सम्पूर्णं नश्यति। असक्तः सन्नेव कर्म करोति सः, फलविषये न चिन्तयत्येवl एवं निष्कामभावेन क्रियमाणं कर्म भर्जितं बीजमिव भवति, येन पुनः किमपि फलं नोत्पद्यते। तत्फलरूपेण साधकः स्वस्य कर्मणां फलभाग् न भवति। भगवान् श्रीकृष्णः वदति यत्, "सर्वाणि कर्माणि यदि संन्यस्यन्ते त्वया तदा त्वं संन्यासयोगयुक्तचित्तः भवसि मामेव प्राप्नोषि-

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥[2]

केचन साधकाः सम्पूर्णतया ईश्वरे आत्मसमर्पणं कर्तुं न शक्नुवन्तिl किन्तु तैः चिन्तनीयं नास्ति। यतः यत्कर्माणि क्रियन्ते तानि ईश्वरे समर्पयति चेदपि अर्थात् रागद्वेषैर्विमुक्तः सन् ईश्वरार्थं कर्म क्रियते चेदपि सिद्धिः प्राप्यते-

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुत्मवान् ॥[3]

एवं यद्यपि 'ईश्वरप्रणिधानम्' इति नाम श्रीमद्भगवद्गीतायां कुत्रापि नोक्तं तथापि ईश्वरप्रणिधानस्य अनेके प्रकाराः तत्र उक्ताःl न

---

[1]श्रीमद्भगवद्गीता-५/२९

[2]श्रीमद्भगवद्गीता - ९/२८

[3]श्रीमद्भगवद्गीता-१२/११

केवलं तस्य प्रकाराः अपि तु तत्साधनाजन्यसिद्धयः अपि तेन उक्ताः सन्ति। ईश्वरप्रणिधानं नाम सर्वात्मनापि स्वस्य ईश्वरे समर्पणम्। तादृशसाधकस्य सर्वमपि जीवनमहं वहामि, अर्थात् तस्य जीवनावश्यकतामहं पूरयामि इति भगवान् श्रीकृष्णः प्रतिश्रुतवान्-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।[1]

इति। अशनवसनार्थमपि तेन साधकेन चिन्तनीयं नास्ति। एतदनुसारं सः साधकः भगवता सम्पूर्णतया संरक्ष्यते। लोके एकः जन्तुः अपि शरणागतः नत्यजति। श्रीमन्नारायणः रामावतारे शरणागतानां विषये एवं प्रतिश्रुतवान्-

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥[2]

इति। तथैव हिमालयः स्वाश्रितम् अन्धकारं रक्षति इति कालिदासः वर्णयति-

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवा भीतमिवान्धकारम्।

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव ॥[3]

एवं लोके कश्चन नीचोऽपि शरणागतं रक्षति चेत् भगवान् कथं त्यक्तुं शक्नुयात् ? शरणागतरक्षणं भारतीयसंस्कृतेः उदात्तः विचारः।

---

[1]श्रीमद्भगवद्गीता-०९/२२

[2]वाल्मीकिरामायणम्- 6/18/33

[3]कुमारसम्भवम् - १/१२

श्रीकृष्णः इतोऽप्यनेकरीत्या स्पष्टीकरोति ईश्वरसमर्पणस्य फलम्।

1. मय्यर्पितमनोबुद्धिः यो मद्भक्तः स मे प्रियः।[1]

2. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

श्रद्धया परयोपेताः ते मे युक्ततमा मताः॥[2]

3. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥[3]

4. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥[4]

5. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥[5]

6. मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।[6]

7. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥[7]

---

[1]श्रीमद्भगवद्गीता-१२/14

[2]श्रीमद्भगवद्गीता-१२/२

[3]श्रीमद्भगवद्गीता-०९/26

[4]श्रीमद्भगवद्गीता-०९/३२

[5]श्रीमद्भगवद्गीता - ९/३०

[6]श्रीमद्भगवद्गीता-१८/५८

[7]श्रीमद्भगवद्गीता-१८/६६

8. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥[1]

9. मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

सगुणानतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥[2]

10. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥[3]

एवं रीत्या अष्टादशयोगप्रतिपादिकायां भगवद्गीतायाम् ईश्वरप्रणिधानस्य सर्वेपि विषयाः भगवता निरूपिताः सन्ति। जीवने नष्टचैतन्योऽपि भगवता आश्वस्तः सन् स्वजीवनमुल्लासयितुम् ईश्वरप्रणिधानं परमं साधनमिति संसाधितमस्ति भगवद्गीतायाम्।

पातञ्जलकृतयोगसूत्रेषु चतुर्षु सूत्रेषु साक्षाद् ईश्वरप्रणिधानस्य उल्लेखो दृश्यते।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।[4]

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।[5]

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।[6]

---

[1]श्रीमद्भगवद्गीता-१२/७

[2]श्रीमद्भगवद्गीता-१४/२६

[3]श्रीमद्भगवद्गीता-११/५६

[4] पातञ्जलयोगसूत्रम् 1.23

[5] पातञ्जलयोगसूत्रम् 2.1

[6] पातञ्जलयोगसूत्रम् 2.32

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।[1]

एवमेव योगसूत्राणां भोजवृत्तावपि ईश्वरप्रणिधानं भक्तिविशेषः तस्मात् समाधेः उक्तलक्षणस्य आविर्भावो भवति, तस्मात् स भगवान् ईश्वरः प्रसन्नः सन् अन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिं संबोधयति इति प्रतिपादितमस्ति। इति शम्।

----०----

[1] पातञ्जलयोगसूत्रम् 2.45

वैश्विक-संस्कृत-मञ्च

Global Sanskrit Forum

Plot no. 3-B, Khasra no. 611, Gali no. 1, B-Block,
Saraswati Avenue, Sabhapur Extn., Shahdara, Delhi-110094
Contact : 8789507760
Email : globalsanskritforum@gmail.com
Webiste : https://globalsanskritforum.org

अमृतब्रह्म प्रकाशन
63/59, मोरी, दारागंज,
प्रयागराज-211006 (उ.प्र.)
Mobile : +91-9450407739, 8840451764
Email : amritbrahmaprakashan@gmail.com

ISBN 819641480-3